गद्य-चयनिका

(हिंदी-रत्न परीक्षा के लिए)

डा० कैलाशनाथ भटनागर एम० ए०, पी-एच० डी०,
सनातन धर्म कालेज, लाहौर

द्वारा

पंजाब यूनिवर्सिटी के लिए संपादित

प्रकाशक

पंजाब यूनिवर्सिटी, लाहौर

सरा संस्करण]　　सन् १९४२　　[मूल्य १॥)

सूची

दो शब्द

प्रस्तुत गद्य-संग्रह पंजाब-विश्वविद्यालय की हिंदी-रत्न-परीक्षा के विद्यार्थियों के लिए विशेष रूप से तैयार किया गया है। सदासुखलाल, सैयद इंशा अल्लाहखाँ, लल्लूलाल तथा सदलमिश्र का गद्य, अल्प-वयस्क विद्यार्थियों के लिए कठिन जानकर, इस संग्रह में संमिलित नहीं किया गया। परंतु जो पाठक इस प्राचीन गद्य का स्वरूप देखना चाहते हों उनके लिए भूमिका में आवश्यक उद्धरण दे दिए गए हैं। राजा शिवप्रसाद और राजा लक्ष्मणसिंह के गद्य में आधुनिक गद्य की सदृशता होने लगती है, अतएव उनके लेखों से ही यह संग्रह आरंभ किया है। कुछ कारणों से इस संग्रह में कई गद्य-लेखकों की रचनाओं का समावेश नहीं हो सका। कुछ गद्य-लेखकों की तो भाषा कठिन थी, कुछ का विषय। फिर ग्रंथ के अधिक बढ़ जाने का भी भय था, इसलिए कुछ लेख ग्रंथ छपते समय निकाल दिए गए। बोर्ड की ओर से लेखकों की संख्या के विषय में भी बंधन था। इन कारणों से कई नामी लेखकों के नाम छूट गए हैं। कुछ लेखकों ने लेख उद्धृत करने की स्वीकृति-संबंधी पत्र का उत्तर देना उचित नहीं समझा। समयाभाव के कारण बार-बार उन्हें लिखा नहीं जा सका।

लेखों का संकलन लेखकों के काल-क्रम के आधार पर नहीं किया गया। वैसा करने में कहीं तो जटिल लेख एक दम इकट्ठे आ जाते और कहीं सरल लेख। रत्न-परीक्षार्थियों के लिए ग्रंथ को रोचक बनाने की ओर अधिक प्रवृत्ति रही है। उनके लिए शुद्ध भाषा का रूप जानना और लिखना ही पर्याप्त है, गद्य का विकास समझ लेना उनकी मानसिक शक्ति के बाहर की बात है।

कुछ लेखों में कहीं-कहीं कारण-वश कुछ परिवर्तन किया गया है। कुछ स्थलों पर तो फ़ारसी के कठिन शब्द थे जिन्हें बदल दिया गया है। कहीं-कहीं लेखकों ने अँगरेज़ी के शब्दों का प्रयोग किया था, सो उन शब्दों को भी निकाल दिया गया है। दो-तीन स्थलों पर अश्लील भावों के कारण परिवर्तन आवश्यक था।

मैं उन सब लेखकों और प्रकाशकों को हार्दिक धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने इस संग्रह के लिए अपने-अपने लेखों को संगृहीत करने की स्वीकृति प्रदान की है। कुछ लेखों का स्वाधिकार (copyright) न होने से उन्हें वैसे ही यहाँ उद्धृत कर दिया है परंतु तब भी उनके लेखकों तथा प्रकाशकों के प्रति मैं कृतज्ञता प्रकट करना अपना परम कर्तव्य समझता हूँ।

१५—५—४०
सनातन-धर्म कालेज
लाहौर

कैलाशनाथ भटनागर

भूमिका

संसार परिवर्तनशील है; चेतन-अचेतन किसी पदार्थ का भी रूप एक-सा कभी नहीं रहा। जो वस्तु जैसी अब है, वह पहले वैसी न रही होगी। भाषा का परिवर्तन-शील होना तो स्वभाव-सिद्ध है। कहा जाता है कि भाषा बारह कोस के बाद बदल जाती है। प्रत्येक दशाब्दी या शताब्दी की भाषा में भी अंतर पड़ जाना स्वाभाविक ही है। जो रूप आजकल का हिंदी का है, वह पचास साल पहले न था। वरन् कोई समय था जब हिंदी थी ही नहीं। हिंदी की उत्पत्ति शौरसेनी प्राकृत से हुई है और शौरसेनी का संबंध संस्कृत से है। हिंदी का प्रारंभ कब से हुआ, इस विषय में भाषा-तत्त्वज्ञों में मत-भेद है। कुछ विद्वान् कहते हैं कि १२वीं शताब्दी के लगभग आधुनिक बोल-चाल की तथा पुस्तकों में लिखी हुई हिंदी की नींव पड़ी होगी। कुछ लोग हिंदी का आरंभ ७वीं और कुछ ८वीं शताब्दी में मानते हैं। प्रसिद्ध भाषा-तत्त्वज्ञ सर जार्ज ग्रियर्सन ने हिंदी-भाषा के इतिहास को इस प्रकार बाँटा है—

१.	७०० ई० से	१३०० तक	चारण-काल
२.	१५४० ई० से	१७०० तक	महान् काल
३.	१७०० ई० से	१८०० तक	शुष्क काल
४.	१८०० ई० से	आधुनिक काल	पुनर्जाग्रति-काल

हिंदी-साहित्य के मर्मज्ञ श्रीयुत पं० रामचंद्र शुक्ल ने काल-विभाजन इस प्रकार किया है :—

१.	आदि-काल	—वीर-गाथा-काल	—सं० १०५०–१३७५
२.	पूर्व-मध्य-काल	—भक्ति-काल	—सं० १३७५–१७००
३.	उत्तर-मध्य-काल	—रीति-काल	—सं० १७००–१९००
४.	आधुनिक-काल	—गद्य-काल	—सं० १९००–अब तक

उपर्युक्त काल-विभागों द्वारा यह विदित होता है कि अमुक काल-विभाग में उक्त विषय-संबंधी ग्रंथों की अधिकता रही होगी। इसका यह तात्पर्य नहीं कि उनके साथ-साथ अन्य विषय-संबंधी ग्रंथों का अभाव रहा होगा। आधुनिक काल का नाम जो गद्य-काल रखा गया है, वह केवल इसीलिए कि इसमें गद्य-ग्रंथो की प्रचुरता पाई जाती है। पहले काल-विभागों में पद्य-ग्रंथों की भरमार दिखाई देती है, कहीं-कहीं कोई गद्य-ग्रंथ भी मिल जाता है।

गोरखनाथ (स० १४०७) द्वारा रचित 'सिष्ट प्रमाण' हमें पहला गद्य-ग्रंथ मिलता है। नीचे इसके गद्य का नमूना उद्धृत किया जाता है :—

"सो वह पुरुष संपूर्ण तीर्थ स्नान करि चुकौ अरु संपूर्ण पृथ्वी ब्राह्मननि कौं दै चुकौ अरु सहस्र जज्ञ करि चुकौ अरु देवता सर्व पूजि चुकौ अरु पितरनि कौं संतुष्ट करि चुकौ स्वर्ग लोक प्राप्त करि चुकौ जा मनुष्य को मन छनमात्र ब्रह्म के बिचार बैठो।"

इसके अगला गद्य-ग्रंथ है 'शृंगार-रस-मंडल' महाप्रभु वल्लभाचार्य के पुत्र बिठ्ठलनाथ (सं० १५४२–१६७२) द्वारा रचित। यह ब्रज-भाषा-गद्य का पहला नमूना है। देखिए:—

"प्रथम की सखी कहतु है। जो गोपीजन के चरण विषै सेवक की दासी करि जो इनको प्रेमामृत में डूबि कै इनके मंद हास्य ने जीते हैं। अमृत-समूह ताकरि निकुंज विषै शृंगार रस श्रेष्ठ रसना कीनो सो पूर्ण होत भई।"

इसी काल (सं० १६२५-१६५०) के कुछ गद्य-ग्रंथ और भी मिलते हैं—गोस्वामी गोकुलनाथ के तीन ग्रंथ—'चौरासी वैष्णवों की वार्ता,' 'दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता' और 'वन-यात्रा'। ये वैष्णव लोग भिन्न-भिन्न श्रेणी के तथा भिन्न-भिन्न प्रांतों के निवासी थे; अतएव इनका वर्णन करते हुए गोस्वामीजी ने ब्रज-भाषा के अतिरिक्त अरबी, फारसी, गुजराती, पंजाबी, मारवाड़ी आदि भाषाओं के अनेक शब्दों का भी प्रयोग किया है।

इसी शताब्दी में गंगभाट और नाभादास हुए। गंगभाट ने 'चद छंद बरनन' की महिमा लिखी (सं० १६२७) और नाभादास ने 'अष्टयाम'। इन दोनों के बाद गोस्वामी तुलसीदास जी का प्रादुर्भाव हुआ। गोस्वामी जी की प्रसिद्धि कवि के रूप में है; आपका गद्य-ग्रंथ तो कोई मिला ही नहीं।

इसी शताब्दी में सं० १६८० में जटमल द्वारा 'गोरा बादल की कथा' लिखी गई। इसकी भाषा मे खड़ी बोली की पुट पाई जाती है, जैसा कि निम्न उद्धरण से स्पष्ट होगा:—

"गोरे की आवरत आये सो वचन सुनकर आपने पावंद की पगड़ी हाथ में लेकर वाहा सती हुई सो सिवपुर में जाके वाहा वाहा दोनों मेले हुए। गोरा बादल की कथा गुरु के बस सरस्वती के महरबानगी से पूरन भई तिस वास्ते गुरु कूँ व सरस्वती कूँ नमस्कार करता हूँ। ये कथा सोल से आसी के साल मॅ फागुन सुदी पुनम के रोज बनाई। ये कथा

में दोर सेह वीरा रस बस नागार रस हे सो कथा। मोरछडो नाव गांव का रहने वाला कवेसर जगहा। उस गांव के लोग भोहोत सुकी है, घर घर में आनंद होता है, कोई घर में फकीर दीखता नहीं।"

लगभग इसी समय के दो गद्य-ग्रंथ हमे और मिलते हैं:— ओरछा-नरेश जसवंतसिंह (स० १६२६—७८) के आश्रित बैकुंठमणि शुक्ल द्वारा रचित 'वैशाख माहात्म्य' और 'अगहन माहात्म्य'। ये दोनों ग्रंथ ब्रज-भाषा-गद्य मे लिखे गये थे, परंतु 'गोरा बादल की कथा' के समान इनमें भी खड़ी बोली की पुट मिलती है।

इसके अनंतर सं० १७१५ के लगभग दामोदरदास ने 'मार्कंडेय पुराण' का अनुवाद किया। कुछ समय बाद जोधपुर-नरेश जसवंतसिंह के पुत्र अमरसिंह (सं०१७३७-८१) ने 'गुणासार' नामक गद्य-पद्य मिश्रित ग्रंथ लिखा। इसी समय के लगभग (सं० १७६३-१८४०) छत्रपुर-निवासी कायस्थ अमरसिंह ने बिहारीसतसई पर ब्रज-भाषा-गद्य में टीका लिखी।

१९वीं शताब्दी के पूर्व-भाग (लगभग सं० १८२८) में दलतेशने मतिराम के रसराज पर "तिलक" रचा।

शीघ्र ही हिंदी-गद्य का भाग्य उज्ज्वल हो उठा। इस समय उत्तरीय भारत में अँगरेजी राज्य का प्रभुत्व था। देशी भाषाएँ सीखने के लिए अँगरेजों को गद्य-ग्रंथों की आवश्यकता पड़ी। अतएव उन्होंने हिंदी-गद्य में ग्रंथ लिखवाए। कुछ लेखकों ने अपने आप ही गद्य-ग्रंथ लिखे। इस काल मे चार प्रसिद्ध गद्य-लेखक हुए है:—सदासुखलाल, सैयद इंशाअल्लाखाँ, लल्लूलाल और सदलमिश्र। वास्तव में गद्य की नींव इस समय ही पड़ी। मुंशी सदासुखलाल (१८०३—१८८१) ने 'सुख-सागर' रचा। सुख-

सागर की भाषा से स्पष्ट है कि "खड़ी बोली उर्दू से स्वतंत्र होने की चेष्टा आरंभ से ही करने लग गई थी।" यह कहना भूल है कि उर्दू ही उन दिनों जनता की भाषा थी। भाषा का नमूना नीचे दिया जाता है:—

"जो बात सत्य होय उसे कहा चाहिए, कोई बुरा माने कि भला माने। विद्या इस हेतु पढ़ते हैं कि तात्पर्य इसका (जो) सतोवृत्ति है वह प्राप्त हो और उससे निज स्वरूप में लय हूजिए। इस हेतु नहीं पढ़ते हैं कि चतुराई की बातें कहके लोगों को बहकाइए, और फुसलाइए और सत्य को छिपाइए, व्यभिचार कीजिए और सुरापान कीजिए और धन द्रव्य इकठौर कीजिए और मन को, जो कि तमोवृत्ति से भर रहा है, निर्मल न कीजिए। तोता है सो नारायण का नाम लेता है, परंतु उसे ज्ञान तो नहीं है।"

सं० १८५५-६० के मध्य सैयद इंशाअल्लाखाँ ने 'रानी केतकी की कहानी' लिखी। आपने 'कहानी' को शुद्ध हिंदी—खड़ी बोली—में लिखने का प्रयत्न किया। इनकी भाषा बड़ी चटकीली और मुहावरेदार है तथा उसमें चुलबुलाहट और अनुप्रासों की भरमार है। आपने यह कहानी इसी लिए लिखी थी कि "जो मेरे दाता ने चाहा तो वह लाव-भाव और कूद-फांद, लपट-झपट दिखाऊं जो देखते ही आपके (वाचक के) ध्यान का घोड़ा अपनी चौकड़ी भूल जाय" अर्थात् अपनी भाषा के चमत्कार से पाठक-वृंद को चकित करना ही आपका उद्देश्य था। आपकी 'कहानी' लिखी तो गई उर्दू-लिपि में थी, परंतु भाषा 'हिंदी (अर्थात् संस्कृत-पूर्ण हिंदी) की छुट और किसी बोली की पुट' से रहित है, जैसा कि निम्न उद्धरण से विदित होगा:—

"जब कुँवर उदैभान को वे इस रूप से ब्याहने चढ़े और वह बाम्हन जो अँधेरी कोठरी में मुँदा हुआ था उसको भी साथ ले लिया और बहुत से हाथ जोड़े और कहा 'बाम्हन देवता, हमारे कहने सुनने पर न जावो, तुम्हारी जो रीत चली आई है बताते चलो।' एक उड़न-खटोले पर वह भी रीत बता के साथ हो लिया।" राजा इंदर और महेन्दरगिर ऐरावत हाथी पर झूलते-झालते देखते-भालते चले जाते थे। राजा सूरजभान दूल्हा के घोड़े के साथ माला जपता हुआ पैदल था। इसी में एक सन्नाटा हुआ। सब घबरा गए। उस सन्नाटे में जो वह ९० लाख अतीत थे सब जोगी से बने हुए सब माले मोतियों की लड़ियो के गले में डाले हुए और गातियाँ उसी ढब की बाँधे हुए मिरिगछालों और बघंबरों पर आ ठहर गए। लोग के जियों में जितनी उमंग छा रही थी वह चौगुनी पचगुनी हो गई। सुखपाल और चंडाल और रथों पर जितनी रानियाँ थीं महारानी लछमीबास के पीछे चली आतियाँ थीं।"

लल्लूलाल (सं० १८२०—१८८२) ने फोर्ट-विलियम कालेज के अध्यक्ष जान गिल क्रिस्ट के कहने पर प्रेम-सागर लिखा। इसके अतिरिक्त आपने चार और गद्य-ग्रंथ भी लिखे—'सिंहासन-बत्तीसी', बैताल-पचीसी', 'शकुंतला नाटक' और 'माधोनल'। प्रेम-सागर की भाषा में उर्दू-शब्दों तथा मुहावरों का नाम तक नहीं है, बल्कि आद्योपात शुद्ध ब्रज-भाषा की धूम है, जैसा कि एक उद्धरण से स्पष्ट होगा.—

"श्री शुकदेव जी बोले—राजा जिस समय श्री कृष्णचंद्र जन्म लेने लगे तिसकाल सब ही के जी में ऐसा आनन्द उपजा कि दुःख नाम को भी न रहा। हर्ष से बन उपवन लगे हरे हो-हो फलने फूलने, नदी नाले

सरोवर भरने, तिन पर भाँति-भाँति के पक्षी कलोलें करने और नगर नगर गाँव-गाँव घर-घर मंगलाचार होने, ब्राह्मण यज्ञ रचने, दशों दिशा के दिक्पाल हर्षने, बादल ब्रज-मंडल पर फिरने, देवता अपने-अपने विमानों में बैठे आकाश से फूल वर्षाने, विद्याधर, गंधर्व, चारण, ढोल दमामे भेरी बजाय-बजाय गुण गाने लगे, और एक ओर उर्वशी आदि सब अप्सरा नाच रहीं थीं कि ऐसे समय भादों वदी अष्टमी बुधवार रोहिणी नक्षत्र में आधी रात को श्री कृष्णचन्द्र ने जन्म लिया, और मेघवर्ण, चन्द्रमुख, कमलनयन हो, पीताम्बर काछे मुकुट धरे, वैजन्ती-माल और रत्न-जटित आभूषण पहरे चतुर्भुज रूप किये शंख चक्र गदा पद्म लिये वसुदेव देवकी को दर्शन दिया। देखते ही अचम्भे में ही उन दोनों ने ज्ञान से विचारा तो आदि पुरुष को जाना, तब हाथ जोड़ विनती कर कहा—हमारे बड़े भाग्य जो आपने दर्शन दिया और जन्म-मरण का निबेड़ा किया।

इतना कह पहिली कथा सब सुनाई, जैसे-जैसे कंस ने दुःख दिया था। तब श्री कृष्णचन्द्र बोले—तुम अब किसी बात की चिन्ता मन में न करो; क्योंकि मैंने तुम्हारे दुःख दूर करने ही को अवतार लिया है, पर इस समय मुझे गोकुल पहुँचा दो, और इसी बिरियाँ यशोदा के लड़की हुई है, सो कंस को ला दो, अपने जाने का कारण कहता हूँ सो सुनो।

दो०—नन्द यशोदा तप कियो, मोही सों चित लाय।
देख्यो चाहत बाल सुख, रहौं कछू दिन जाय॥

फिर कंस को मार आन मिलूँगा, तुम अपने मन में धैर्य्य धरो,

"ऐसे बसुदेव देवकी को समझाय श्री कृष्ण बालक बन रोने लगे और अपनी माया फैला दी।"

सिंहासनबत्तीसी आदि की भाषा प्रेम-सागर से भिन्न है। इनमें आपने आवश्यकतानुसार हिंदी, उर्दू, फारसी आदि के शब्दों का प्रयोग किया है।

इस समय आरा-निवासी सदलमिश्र (सं० १८२४–१९०५) ने उपर्युक्त गिल क्रिस्ट साहब के आदेशानुसार 'नासिकेतोपाख्यान' लिखा। आपकी भाषा प्रेम-सागर की भाषा से भिन्न है। आपकी भाषा व्यवहार में आनेवाली खड़ी बोली है। ब्रज-भाषा के शब्दों के संमिश्रण के साथ-साथ इसमें उर्दू शब्दों का भी प्रयोग दिखाई देता है। नीचे आपकी भाषा का नमूना दिया जाता है:—

ऐसे कहते हुए वहाँ से तुरन्त हर्षित हो उठे। वो भीतर जा मुनि ने जो आश्चर्य्य बात कही थी, सो पहिले रानी को सब सुनाई। वह भी मोह से व्याकुल हो पुकार पुकार रोने लगी वो गिड़गिड़ा कहने कि महाराज! जो यह सत्य है तो अब ही लोग भेज...झट उसको बुला ही लीजिए, क्यों कि मारे शोक के मेरी छाती फटती है।......आनन्द बधावा बाजने लगा। हर्षित हो नरेश ने वहाँ से सभा में जा ऋषि से कहा कि महाप्रभु! आपने मेरा बड़ा कलंक मिटाया है। इस आनन्द का कुछ पारावार नहीं। अब निचिन्त हो इहाँ विराजिए, कन्या मँगा आपको मैं दूँगा। ऐसे कह तुरन्त सेवकों के सहित पालकी भेज नाती समेत बेटी को बन से मँगा लिया।......भीतर बाहर नृप के मन्दिर में मारे भीड़ के उथल पुथल हो गया।......भाँति-भाँति के बाजन लगे बाजने...हर्षित हो राजा ने कन्यादान कर सहस्र हाथी, लाख घोड़े वो

गौ, असंख्य बासन भूषण वस्त्र रुपया जँवाई को यौतुक दिया।

ऋषि आशीस दे बोले कि धन्य हो राजा रघु! क्यों न हो।...ईश्वर करें यों ही सदा फूले फले रहो और यह हमारे यौतुक के हाथी, घोड़े द्रव्य तुम्हारे ही घर में रहें, क्यों कि बन के बसने वाले तपस्वियों को इनसे क्या काज।"

इसके पश्चात् लगभग ६० वर्ष तक हिंदी-गद्य-धारा का प्रवाह रुका रहा। इसका कारण था अँगरेज़ी शासन द्वारा अदालतों और दफ़तरों में उर्दू भाषा तथा फ़ारसी लिपि का प्रोत्साहन। इसका फल यह हुआ कि उर्दू की उन्नति हिंदी से पहले प्रारंभ हो गई। तब भी हिंदी-भाषा के समर्थकों ने जो बन पड़ा वह किया। राजा शिवप्रसाद ने सं० १९०२ में काशी से 'बनारस अखबार' निकाला। इसकी भाषा तो उर्दू थी परंतु लिपि देवनागरी थी। चार-पाँच वर्ष बाद काशी से 'सुधारक' निकाला गया। सं० १९०९ में मुंशी सदासुखलाल ने आगरा से 'बुद्धि-प्रकाश' निकाला। हिंदी का प्रभाव इस समय कुछ फैल चुका था। यही कारण था कि स्वामी दयानंद सरस्वती ने गुजराती होते हुए भी, अपना मुख्य ग्रंथ 'सत्यार्थ-प्रकाश', गुजराती भाषा में न लिखकर, हिंदी में लिखा। वरन् कुछ लोग यह अनुभव करने लगे थे कि उर्दू शब्दों का बहिष्कार किया जाना चाहिए। राजा लक्ष्मणसिंह (सं० १८८३-१९५६) ने सरकारी पदाधिकारी होते हुए भी राजा शिवप्रसाद की उर्दू-फारसी रंग से रंगी हिंदी का विरोध किया। सं० १९१८ में आपने 'प्रजा-हितैषी' पत्र निकाला। सं० १९१९ में आपने कालिदास के प्रसिद्ध 'अभिज्ञान-शाकुंतल' का हिंदी में गद्यानुवाद किया। शीघ्र ही आपने रघुवंश का भी उल्था कर दिया। बाद में आपने शाकुंतल के पद्यों का भी

हिंदी-पद्य में अनुवाद कर दिया। आपका गद्य शुद्ध खड़ी बोली में होता था। आपके गद्य में आधुनिक गद्य की झलक दिखाई पड़ती है।

इस समय तक हिंदी-गद्य-लेखकों को भाषा के विषय में कोई रोक-टोक न थी। कोई संस्कृत के कठिन शब्दों का समर्थक था, कोई उर्दू-फ़ारसी के शब्दों का पक्षपाती था, कोई ब्रज-भाषा और अवधी बोली के शब्दों का प्रयोग करता था। हिंदी-गद्य का अभी एक निश्चित स्वरूप न हो सका था। इस कार्य के लिए किसी बड़े प्रतिभाशाली की आवश्यकता थी। इसी समय काशी में हरिश्चंद्र का (सं० १९०७-१९४१) जन्म हुआ, जिन्होंने इस काम के लिए अपना सारा जीवन लगा दिया। आपके पिता बाबू गोपालचंद्र ब्रज-भाषा के कवि और नाटककार थे। अतएव इनके संसर्ग से हरिश्चंद्र की भी प्रवृत्ति हिंदी की ओर झुक जानी स्वाभाविक थी। आपने साहित्य के विविध क्षेत्रों में अपनी प्रतिभा का चमत्कार दिखाया। आपने सं० १९२५ में बँगला से 'विद्यासुंदर' नाटक का अनुवाद किया। आपने 'कवि-वचन-सुधा' और हरिश्चंद्र-चंद्रिका' आदि मासिक पत्र भी निकाले। सं० १९३० में आपका पहला मौलिक प्रहसन 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' छपा। इसके बाद आपने 'मुद्राराक्षस', 'कर्पूर-मंजरी', 'सत्य-हरिश्चंद्र', 'भारत-दुर्दशा', 'अंधेर-नगरी', 'नील-देवी', 'चंद्रावती' इत्यादि नाटक लिखे। आपके नाटकों की विशेषता है ब्रज-भाषा की सरस कविता और खड़ी बोली का परिमार्जित गद्य। आपने 'काश्मीर-कुसुम' और 'बादशाह-दर्पण' आदि कुछ-एक इतिहास-ग्रंथ भी लिखे परंतु शीघ्र ही आप परलोक सिधार गए। आपके सतत परिश्रम से हिंदी-गद्य का स्वरूप निश्चित हो गया। आपकी भाषा साफ़-सुथरी, ज़ोरदार और स्पष्ट थी।

भारतेंदुजी की प्रेरणा से आपके कई मित्र भी हिंदी-प्रेमी और अच्छे हिंदी-सेवी बन गए। इनमें हर-एक किसी न किसी पत्र-पत्रिका के संपादक रहे। इन महानुभावों के परिश्रम से 'विहार-बंधु', 'भारत-बंधु' 'आनंद-कादंविनी', 'पीयूष-प्रवाह', 'ब्राह्मण', 'भारत-जीवन' आदि पत्र निकले। तत्कालीन लेखकों में उल्लेखनीय नाम है—बदरीनारायण चौधरी, प्रतापनारायण मिश्र, ठाकुर जगमोहनसिंह, बालकृष्ण भट्ट आदि। सं० १९३४ में पं० बालकृष्ण भट्ट ने 'हिंदी-प्रदीप' नाम का एक मासिक पत्र निकाला।

इस समय बँगला साहित्य से अनुवाद द्वारा भी हिंदी-साहित्य की वृद्धि होने लगी। इस विषय में राधाकृष्णदास, प्रतापनारायण मिश्र, राधाचरण गोस्वामी आदि का परिश्रम प्रशंसनीय है। इस प्रकार हिंदी-साहित्य में अन्य भाषाओं के उत्कृष्ट ग्रंथ अनूदित होने लगे। हिंदी-प्रेमियों के हृदय में हिंदी के लिए विशेष अनुराग और उत्साह छलकने लगा। परंतु व्याकरण आदि के नियम-पालन का ध्यान न किया जाता था। कई प्रकार के भाषा-संबंधी दोष रहते थे। अब हिंदी-जगत् में एक ऐसे महापुरुष की आवश्यकता थी जो हिंदी-भाषा को इन दोषों से मुक्त कर सके। यह कार्य आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी (सं० १९२७-१९९५) द्वारा हुआ। आपने 'सरस्वती' पत्रिका का संपादक बनकर हिंदी-भाषा को परिमार्जित रूप प्रदान किया। बड़े-बड़े लेखकों को उनकी भूलें बताकर उन्हें शुद्ध हिंदी लिखने को विवश किया। इसके साथ-साथ आपने नए-नए लेखकों को प्रोत्साहन प्रदान कर हिंदी-सेवियों की संख्या में आशातीत वृद्धि की। आपने विषयानुसार भाषा बदलना भी उचित समझकर इसका प्रचार किया। आजकल हिंदी का जो स्वरूप निर्माण हुआ है, वह इस महारथी के प्रयत्न का परिणाम है।

द्विवेदीजी द्वारा निर्दिष्ट पथ के कई हिंदी-गद्य-लेखक पथिक बन गए। सर्वश्री बाबू श्यामसुंदरदास, पद्मसिंह शर्मा, रामचंद्र शुक्ल, बनारसीदास चतुर्वेदी, गणेशशंकर विद्यार्थी, मुंशी प्रेमचंद, रायकृष्णदास, चतुरसेन शास्त्री, सुदर्शन, श्रीराम शर्मा, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, जयशंकर 'प्रसाद', 'उग्र', गुलाबराय, शिवपूजनसहाय, सियारामशरण गुप्त, जैनेंद्रकुमार इत्यादि सैंकड़ों महानुभावों ने हिंदी-भाषा का सिर ऊँचा किया है। हिंदी की समुन्नत अवस्था देखकर उड़ीसा, मद्रास आदि प्रांतों की विभिन्न-भाषा-भाषी हिंदु-जनता ने भी इसे अपनाना प्रारंभ कर दिया है। यही नहीं, कुछ मुसलमान भाई भी हिंदी-क्षेत्र में काम कर रहे हैं। प्राचीन हिंदी-कविता-जगत् में अमीर खुसरो, रसखान, रहीम इत्यादि यश प्राप्त कर चुके हैं। प्राचीन हिंदी-गद्य में इंशा-अल्लाखा ने हिंदी-भाषा की भारी सेवा की। आधुनिक हिंदी-गद्य में जहूर बख्श 'हिंदी-कोविद,' मिर्जा अजीम बेग चगताई, अख्तर हुसैन रायपुरी इत्यादि के नाम उल्लेखनीय हैं।

इस प्रकार सैंकड़ों लेखक और लेखिकाएँ अपना अमूल्य समय लगा कर हिंदी में विविध विषयों पर ग्रंथ और लेख लिखकर उसको जगत् की अत्यंत समुन्नत भाषाओं की समकक्ष बनाने में प्रयत्नशील हैं।

हिंदी में दैनिक, साप्ताहिक, और मासिक पत्रों की संख्या क्रमशः बढ़ रही है। 'सरस्वती', 'विशाल भारत', 'विश्वमित्र', 'माधुरी', 'हंस', 'सुधा', 'वीणा', 'गंगा' आदि कई अच्छे मासिक पत्र हैं। 'चाँद', 'आर्य-महिला', 'सहेली', 'शांति' आदि स्त्रियों के लिए विशेष रूप से निकाले गए हैं। 'माया' केवल कहानियों पर ही सीमित है। धार्मिक दृष्टि से 'कल्याण' सर्वोच्च कोटि की पत्रिका है। 'प्रताप' (कानपुर) तथा 'कर्मवीर' (खंडवा) ये अच्छे

साप्ताहिक पत्र हैं। हिंदी के दैनिक पत्रों का जीवन सदा संकटमय रहता है। परंतु पहले से इनकी दशा सुधर गई है। बंबई का 'वेंकटेश्वर समाचार पत्र' तथा काशी का 'आज' ये सब से पुराने पत्र हैं। 'दैनिक प्रताप' (कानपुर) 'अर्जुन' (दिल्ली), और 'भारत' (प्रयाग) दैनिक पत्रों में अच्छे है। कुछ वर्षों से लाहौर से दैनिक 'हिंदी-मिलाप' भी निकल रहा है। 'रंगभूमि', 'चित्रपट' आदि फिल्म-संबंधी अच्छे पत्र हैं। इस प्रकार हिंदी की उत्तरोत्तर वृद्धि होती जा रही है और आशा है कि यह राष्ट्रीय-भाषा बन जाए।

परंतु राष्ट्रीय भाषा का प्रश्न बड़ा विकट रूप धारण कर रहा है। मुसलमान चाहते है कि उर्दू राष्ट्रीय भाषा हो, हिंदू अधिक संख्या में होने के कारण, हिंदी के पक्ष में है। दोनों के समझौते के रूप में 'हिंदुस्तानी' भाषा के लिए जोर दिया जा रहा है। 'हिंदुस्तानी' से समझा जाता है सर्व-साधारण की भाषा। परंतु इससे भी समस्या सुलझी नहीं। मुसलमान उर्दू फ़ारसी, अरबी शब्दों से भरपूर बोली को ही हिंदुस्तानी समझते है; कुछ हिंदू भी मुसलमानों को प्रसन्न करने के लिए वैसी ही भाषा बनाने के लिए प्रयत्नशील हैं। श्रीयुत काका कालेलकर तथा कुछ उनके मित्र ऐसा ही कर रहे हैं। सर्व-साधारण की एक भाषा बनना तभी संभव है जब सब की इच्छा हो। यहाँ सब की इच्छा तो दिखाई नहीं देती। एक बात और भी विचारणीय है। बोलचाल की भाषा और शिष्ट भाषा तो सदा से भिन्न रहती आई है, और भिन्न रहेगी। संस्कृत में इसी आधार पर 'प्राकृत' (अर्थात् स्वाभाविक) और 'संस्कृत' (अर्थात् परिमार्जित) शब्दों का प्रयोग हुआ है। अतएव यह कैसे संभव है कि सर्व-साधारण की अर्थात् बोलचाल की भाषा भाषा का भी स्थान ग्रहण कर ले?

हिंदुस्तानी बोली के प्रचार में सवाक्-चित्रपट एक अच्छा साधन बन रहा है। भारतीय सरकार की भी इच्छा हिंदुस्तानी बोली को बलवती बनाने की है। संयुक्त-प्रांत में इसी कारण हिंदुस्तानी एकेडेमी नाम की संस्था खोली गई है।

अस्तु। इस झगड़े से, आशा है, हिंदी—शुद्ध हिंदी—की प्रगति को ठेस न लगेगी। हिंदी साहित्य के साथ-साथ यदि हिंदुस्तानी बोली में साहित्य पनप सकता है तो ख़ूब फले-फूले।

———

गद्य-चयनिका

नल-दमयन्ती

[राजा शिवप्रसाद]

विदर्भ देश के राजा भीमसेन की कन्या भुवन-मोहनी दमयन्ती का रूप और गुण सारे भारतवर्ष में प्रख्यात हो गया था। निषध देश के राजा वीरसेन के पुत्र महागुणवान अतिसुशील धार्मिक 'नल' से स्वयंवर में उसने जयमाल देकर विवाह किया। बारह बरस तक दोनों के सुख-चैन से दिन कटे और इस अन्तर में उनके एक लड़की और एक लड़का भी हो गया। यद्यपि मनुजी ने धर्मशास्त्र में पासा खेलना मना लिखा है, पर नल को इसका शौक था। वह अपने छोटे भाई पुष्कर के साथ खेला करता था। यहाँ तक कि दाव लगाते-लगाते सारा राज्य हार गया और सिवाय एक धोती के और कुछ भी पास न रहा। नल दमयन्ती को साथ लेकर बाहर निकला। लड़का-लड़की को दमयन्ती ने पहले ही से अपने बाप के घर भेज दिया था। पुष्कर ने सारे

राज्य में डौंडी फिरवा दी कि नल को जो अपने घर में घुसने देगा वह जान से हाथ धोयेगा।

राजा नल को तीन दिन-रात निराहार बीत गये, चौथे दिन नदी के किनारे जाकर चिल्लू से पानी और जङ्गल में जाके फल-फूल कन्द-मूल से रानी-समेत गुज़ारा करने लगा। नल ने दमयन्ती को बहुत समझाया कि तुम-सी कोमल और सुकुमार स्त्रियों का ऐसी विपत में कदापि साथ रहना नहीं हो सकता। अब उचित यही है कि तुम अपने पिता के घर चली जाओ, जो ईश्वर अनुकूल होगा तो फिर भी मिल रहेंगे। दमयन्ती यह बात सुन के रोने लगी और बोली कि हे महाराज! हे स्वामी! हे प्रियतम! ऐसा कठोर वचन आपके मुख-पङ्कज से क्योंकर निकला? क्या आप बिना, पिता के घर में, यहाँ से अधिक सुखी रहूँगी? क्या खाना और पहरना आपके दर्शन से अधिक सुखदाई है? जो आप मुझे त्याग भी करें तो मैं आपको कदापि त्याग नहीं कर सकती। जो आप फिर कभी ऐसा वचन मुख से निकालेंगे तो मैं आत्मघात करूँगी। दमयन्ती यह कह के, राजा के पास, एक वृक्ष के नीचे सो गई।

राजा ने अपने जी में सोचा कि जो स्त्री राज-मन्दिर में फूल की सेज पर भी डर के पैर रखती थी वह भला इस अगम्य जङ्गल में काँटों के ऊपर क्योंकर चल सकेगी। मैं तो सब कुछ सह लूँगा, पर अपनी प्राण-प्यारी को इस विपत में

क्योंकर देख सकूँगा। यह मुझे छोड़ने पर कभी राज़ी न होगी। पर जो मैं इसे यहाँ सोती हुई छोड़ दूँ तो किसी न किसी तरह अपने पिता के घर पहुँच जायगी। निदान यह सोच-विचार के उस चन्द्रवदनी गज-गामिनी को इसी वृक्ष के तले छोड़ा और आप एक तरफ़ को चला। नल के पास कपड़ा पहरने को न था। एक चिड़िया पर उसे पकड़ने को धोती डाली थी। वह चिड़िया धोती समेत उड़ भागी! जब विपत के दिन आते हैं तो सारे सामान ऐसे ही बँध जाते हैं। निदान राजा नल ने चलते समय दमयन्ती की साड़ी काट कर आधी उसमें से अपने पहरने को ली और आधी उसके बदन पर रहने दी।

इस मनुष्य का मन भी विधाता ने किस प्रकार का रचा है कि जब कोमल होता है तो मोम से भी अधिक पिघलता है, और जब कड़ा होता है तो वज्र को भी मात करता है। नल के जी की दशा उस समय नल ही जानता था। थोड़ी-थोड़ी दूर जा-जा कर दमयन्ती के देखने को फिर लौट आता था। निदान नल जब दूर निकल गया और दमयन्ती की आँख खुली तो उसे अपने पास न पाकर वह सिर धुनने और हाथ पटकने लगी, मूर्च्छा खाकर धरती पर गिर पड़ी। आँसुओं की धारा बहाने लगी और पुकार-पुकार कर रोने लगी कि—'हे प्राणनाथ! मैंने क्या अपराध किया था जो मुझ दासी को तुमने इस ढब जङ्गल में अकेली छोड़ा! अपनी

उस प्रतिज्ञा को याद करो जो ब्याह के समय की थी कि जीते जी तुझसे जुदा न होंगे। शीघ्र अपने मुखड़े के प्रकाश से मेरे मन की कली को खिलाओ।'

उस काल उस अबला की यह दशा देख के पत्थर का हिया भी दाड़िम-सा दरकता था, और मृग-पक्षी का कलेजा भी फटा जाता था। जब दमयन्ती अपने पति को पुकारती सघन वन में हर तरफ़ घूमने लगी तो अचानक एक अजगर ने उसे आ घेरा, चाहता ही था कि मुँह चलावे, पर दमयन्ती का चिल्लाना सुनकर जो एक व्याधा उधर को आगया था उसने एक ही तीर में इस अजगर का काम तमाम किया। यह व्याधा दमयन्ती के लिए अजगर से भी अधिक दुखदाई हुआ और मोह के वस में पड़कर उस सती का सत्य-धर्म नाश करना चाहा। दमयन्ती बहुत गिड़गिड़ायी और उस व्याधे को पिता कह के सारी धर्म की बात समझायी, पर जब देखा कि यह नीच दुर्बुद्धि किसी ढब नहीं मानता तो व्याकुल हो के अन्तर्यामी घट-घट-निवासी जगदीश्वर से यों प्रार्थना की कि 'हे दीनबन्धु! दीनानाथ! दीनहितकारी! यदि मैं सती हूँ और यह दुष्ट मेरा सत्य भङ्ग करना चाहता है तो इसी समय इसका नाश हो जाय।' क्या महिमा है उस अपरम्पार करुणा-निधि की, कि व्याधे ने जो इस बात से क्रोध में आके दमयन्ती पर तीर चलाया, आप ही उस तीर से विंध गया और फिर साँस न ली।

दमयन्ती रोती-विलापती जङ्गल-पहाड़ों को छानती, सिंह और हाथियों से बचती, सौ-सौ आफ़तें झेलती, बनवासी मुनि लोग और बंजारों से पता लगाती, सुबाहु नगर में पहुँची और वहाँ के राजा की रानी के पास दासी बन के रहने लगी। वहाँ से उसके पिता के भेजे हुए ब्राह्मण ढूँढ़-खोज कर विदर्भ नगर को ले गये। राजा नल दमयन्ती के विरह में शोकाकुल होकर घूमता फिरता अयोध्या में आ निकला और 'बाहुक' के नाम से वहाँ के राजा ऋतुपर्ण का सारथि बना। दमयन्ती के बाप ने नल के ढूँढने को नगर-नगर ब्राह्मण भेज दिये थे। उनमें से सुदेव नामक ब्राह्मण अयोध्या से यह समाचार लाया कि बाहुक नाम एक सारथि, जो राजा ऋतुपर्ण के यहाँ है, दमयन्ती का नाम सुनते ही आँखों में आँसू भर लाया पर उसने अपने-तईं सिवाय सारथि होने के और कुछ न बतलाया। दमयन्ती यह सुनते ही ताड़ गई, हो न हो वह मेरा ही स्वामी राजा नल है और अपने बाप से उसके बुलाने की प्रार्थना की। पर जब वह भीमसेन के बुलाने से न आया और सारे उपाय निष्फल हुये तब दमयन्ती ने अपने बाप से कह के राजा ऋतुपर्ण को यह लिखवाया कि नल के मिलने की अब कुछ आस न रहने से दमयन्ती का दूसरा स्वयंवर रचा जावेगा, सो आप कृपा करके शीघ्र आइये। और दिन स्वयंवर का ऐसा समीप ठहराया कि बिना राजा नल के हाँके कोई घोड़ा उस अल्प काल में अयोध्या से विदर्भ तक न

पहुँच सकें। राजा नल का रथ हाँकना प्रख्यात था। राजा ऋतुपर्ण वहुत घबराया कि इतने थोड़े अर्से में क्योंकर विदर्भ पहुँच सकेंगे, पर नल ने कहा—'महाराज! आप चिन्ता न कीजिये, मैं आपको स्वयंवर के दिन से पहले वहाँ पहुँचा दूँगा।' निदान ऐसा ही हुआ। राजा भीमसेन ने ऋतुपर्ण का वड़ा सम्मान किया, परन्तु वहाँ स्वयंवर की कुछ रचना और किसी दूसरे राजा को न देखकर यह अपने मन में वहुत लज्जित हुआ। नल घोड़ों को घुड़साल में वाँधकर भीमसेन के सारथि के पास एक टूटी-सी खाट पर पड़ा रहा। दमयन्ती अयोध्या-धिपति के पहुँचने के समाचार को पाकर वहुत घबराई और मन में प्रतिज्ञा की कि अव जो नल से मिलाप न हुआ तो आज अवश्य अपने तन को अनल में दाह करूँगी। निदान अपनी सखी केशिनी को ऋतुपर्ण के सारथि का अनुसन्धान लेने के लिए घुड़साल में भेजा।

केशिनी ने जाके नल से कहा कि दमयन्ती आपका नाम और पता-ठिकाना पूछती हैं। नल ने कहा कि मेरा नाम वाहुक है, मैं अयोध्या के राजा का सारथि हूँ। दमयन्ती का स्वयंवर आज ही सुन के मारों-मार घोड़ों को यहाँ लाया हूँ। पर वड़े ही अचरज की वात है कि राजा नल की रानी दमयन्ती ऐसी पतिव्रता सती हो के दूसरे पति की इच्छा करे। सच है, जव मनुष्य के वुरे दिन आते है तो स्त्री-पुत्र भी अपने नहीं रहते। केशिनी वोली—'हे वाहुक! तुम कुछ राजा नल का भी पता-

ठिकाना बता सकते हो ? देखो तो उन्होंने कैसी कठिनाई और निर्दयता का काम किया कि अबला बाला को अकेली जङ्गल में शेर-हाथी और रीछ-अजगरों के साथ छोड़कर अपना रास्ता लिया। दमयन्ती ने उनके विरह में अन्न-जल और सेज का त्याग करके केवल उन्हीं के नाम-स्मरण का अवलम्बन किया है। दमयन्ती की यह विथा सुनकर नल की आँखों से आँसुओं की धारा बह चली और वह बोला कि स्त्री अपने पति से चाहे जितना कष्ट पावे पर उसे औरों के सामने उसकी निन्दा करनी कदापि उचित नहीं। जो राजा नल दमयन्ती को वहाँ जङ्गल में न छोड़ जाता तो उसका प्राण ही बचना कठिन था। और सिवाय इसके जो नल ने कोई निर्दयता का भी काम किया हो तो दमयन्ती को उस पर कोप न करना चाहिए। जो आदमी कल राजा था और आज पाँव में पहरने को जूता भी नहीं रखता, उसकी मति यदि ठिकाने न रहे तो क्या अचरज है। इतना कह के नल फिर रोने लगा।

केशिनी ने रनवास में जाके यह सब वृत्तान्त दमयन्ती से कहा। दमयन्ती ने सुनते ही जान लिया कि वह बाहुक नहीं, यह मेरा भर्त्ता राजा नल है। केशिनी से कहा कि तू फिर उसके पास जा और देख आ कि वह क्या कर रहा है, और अब की बार मेरे लड़के-लड़की को भी लेती जा। नल अपने बेटा-बेटी को देख के आँसुओं की धारा को न रोक सका। दोनों को छाती से लगा लिया और कहने लगा कि मेरे भी ऐसे ही

बेटा-बेटी हैं, पर बहुत दिनों से देखा नहीं। इन्हें देख के वे मुझे याद आगये। अब इन्हें इनकी माँ के पास ले जा। बिचारे आज नल के बालक हैं, कल किसी दूसरे के हो जायँगे। नारी ही धन्य है, आज एक पति छोड़ा, कल दूसरा कर लिया। परन्तु रात बीते तो मैं भी यह तमाशा देखूँगा कि राजा नल की सती रानी दमयन्ती किस प्रकार दूसरा भर्त्ता करती है। केशिनी ने आके दमयन्ती से सारी बातें ज्यों की त्यों कह दीं, और बोली कि यह तो कोई दैवी पुरुष है। जितनी सामग्री हमारे यहाँ से राजा ऋतुपर्ण को दी गई थी, इसने देखते ही देखते सब रींध के तैयार कर ली। दमयन्ती ने कहा—'जा, जो-जो कुछ उसने रींधा हो, थोड़ा-थोड़ा सब मेरे पास ले आ।' केशिनी ले आयी। दमयन्ती ने चक्खा तो उन में वही स्वाद पाया जो राजा नल के बनाये भोजन में पाती थी। राजा नल इस काम में बड़ा ही निपुण था।

दमयन्ती ने अपनी माँ से जाके कहा कि मेरा स्वामी आ गया। मुझे उसके पास घुड़साल में जाने की आज्ञा दीजिये। वह इस संवाद को सुनकर अत्यन्त हर्षित हुई और दमयन्ती को घुड़साल में जाने की आज्ञा दी। वह अपना लड़का-लड़की साथ लिये नल के पास घुड़साल में गई। नल को सारथी के भेष में तन-छीन मुख-मलीन देख के अत्यन्त शोकाकुल हुई। आँखों से आँसुओं की धारा बह चली। बोली—'हे प्राणनाथ! यह कौन-सी नीति थी जो आपने मुझ निरपराधिनी अबला

को अकेली उस जङ्गल में छोड़ा ?' नल ने लज्जित हो के उत्तर दिया कि 'हे प्राणप्यारी ! क्या मैं कभी तुमको छोड़ सकता था, परन्तु जिस विपरीत बुद्धि ने मुझसे मेरा राज्य छुड़ा लिया, उसी ने तुम्हें भी मुझसे बिछुड़ाया, पर जो कुछ तुम्हारे दारुण विरह का दुःसह दुःख मैंने सहा है वह मेरा शरीर कहेगा। जो हो, पतिव्रता स्त्री अपने पति का दोष देख कर भी उसकी निन्दा नहीं करती है। पर तुम तो कल किसी दूसरे की हो जाओगी। तुम्हें अब इन बखेड़ों से क्या काम है ?'

दमयन्ती ने हाथ जोड़ कर निवेदन किया कि महाराज ! राजा ऋतुपर्ण को केवल आपके बुलाने के लिए स्वयंवर का पत्र लिखवाया था और आप देखिये कि उसके सिवाय और कोई भी यहाँ नहीं आया। मैंने प्रतिज्ञा की थी कि जो मैं आज आपसे न मिलूँ तो आग में जल मरूँ।

निदान यह बात धीरे-धीरे राजा भीमसेन और ऋतुपर्ण तक भी पहुँची। वे इस बात के सुनने से परम आनन्दित हुये। राजा ऋतुपर्ण ने नल से कहा कि महाराज ! मैंने आपको न जानकर बड़ी अनीति की। मेरा कहा-सुना और भूल-चूक आप सब क्षमा कीजिये। राजा ऋतुपर्ण तो अयोध्या की ओर सिधारा और भीमसेन ने नल से यह कहा कि अभी निषध देश में आपका जाना उचित नहीं, आप मेरा राज-पाट लीजिये, इसी जगह रहिये। पर जब नल ने ससुराल में रहना स्वीकार न किया और अपने देश में जाने की हठ

की तो राजा भीमसेन ने एक रथ, सोलह हाथी, पाँच सौ घोड़े और छै सौ पियादे साथ देकर निषध देश की ओर बिदा किया, दमयन्ती को अपने ही पास रक्खा।

राजा नल ने निषध देश में जाकर अपने भाई पुष्कर से यों कहा कि आओ, एक बार और भी तुम्हारे साथ पासा खेलें। जो हम हारें तो तुम्हारे दास होकर रहें और जो तुम हारो तो हम अपना सारा गया हुआ राज तुमसे फेर लें। भगवान का करना, उस बाजी में नल ही की जीत हुई। पुष्कर मारे डर के बेंत की तरह काँपने लगा, परन्तु नल ने समझाया और कहा कि 'भाई! इसमें तुम्हारा क्या अपराध है? यह सब अपने दिनों का फेर है। बहुत बेखटके रहो और जिस ढब से पहले काम करते थे उसी तरह करते रहो।' फिर नल ने दमयन्ती को भी, बेटा-बेटी समेत, विदर्भ नगर से अपने पास बुलवा लिया और बहुत काल तक सुख-चैन से राज किया। जैसा दिन इनका फिरा, भगवान सबका फेरे।

पुनर्मिलन

[राजा लक्ष्मणसिंह]

(नेपथ्य मे) अरे ऐसी चपलता क्यों करता है ? क्यों तू अपनी वान नहीं छोड़ता ?

दुष्यन्त—(कान लगाकर) हैं ! ऐसे स्थान में ताड़ना का क्या काम है ? वह सीख किसको हो रही है ? (जिधर बोल सुनाई दिया उधर देखकर और आश्चर्य करके) आहा ! यह किसका पराक्रमी बालक है जिसे दो तपस्विनी रोकती हैं तो भी खेल में नाहर के भूखे बच्चे को खैंच लाता है ?

(सिंह के बच्चे को घसीटता हुआ एक बालक आया और उसके साथ दो तपस्विनी आईं)

बालक—अरे सिंह ! तू अपना मुँह खोल, मैं तेरे दाँत गिनूँगा।

एक तपस्विनी—ऐ हठीले बालक ! तू इस वन के पशुओं को क्यों सताता है ? हम तो इनको बाल-बच्चों के समान

रखती हैं। तेरा खेल में भी साहस नहीं जाता। इसी से तेरा नाम ऋषि ने सर्वदमन रक्खा है।

दुष्यन्त—(आप ही आप) आहा! क्या कारण है कि मेरा स्नेह इस लड़के में पुत्र का-सा होता आता है? हो न हो यह हेतु है कि मैं पुत्र-हीन हूँ।

दूसरी तपस्विनी—जो तू इस बच्चे को छोड़ न देगा तो सिंहिनी तुझ पर दौड़ेगी।

बालक—(मुसक्याकर) ठीक है, सिंहिनी का मुझे ऐसा ही डर है। (रोष में आकर होठ काटने लगा)

दुष्यन्त—(आप ही आप चकित-सा होकर) यह किसी बड़े बली का बालक है। इसका रूप उस अग्नि के समान है जो सूखा काठ मिलने से अति प्रज्वलित होती है।

पहली तपस्विनी—हे बालक! सिंह के बच्चे को छोड़ दे। मैं तुझे उससे भी सुन्दर खिलौना दूँगी।

बालक—पहले खिलौना दे दो। लाओ, कहाँ है? (हाथ पसारकर)

दुष्यन्त—(लड़के के हाथ को देखकर आप ही आप) आहा! इसके हाथ में तो चक्रवर्ती के लक्षण हैं। उँगलियों पर कैसा अद्भुत जाल है और हथेली की शोभा प्रातःकमल को भी लज्जित कर रही है।

दूसरी तपस्विनी—हे सखी सुव्रता! यह बातों से न मानेगा,

जा, तू कुटी में एक मिट्टी का मोर ऋषिकुमार शंकर के खेलने का रक्खा है सो ले आ।

पहली तपस्विनी—मैं अभी लिए आती हूँ। (जाती है)

बालक—तब तक मैं इसी सिंह के बच्चे से खेलूँगा।

दूसरी तपस्विनी—(बालक की ओर देखकर और मुसक्याकर) तेरी बलैया लूँ, अब तू इसे छोड़ दे।

दुष्यन्त—(आप ही आप) इस लड़के के खिलाने को मेरा जी कैसा चाहता है। (आह भरकर) धन्य हैं वे मनुष्य जो अपने पुत्रों को कनियाँ लेकर उनके अंग की धूलि से अपनी गोद मैली करते हैं और पुत्रों के निष्कारण हँसी से खुलकर उज्ज्वल दाँतों की शोभा दिखाते और तुतले वचन बोलते है।

दूसरी तपस्विनी—(उँगली उठाकर) क्यों रे ढीठ! तू मेरी बात कान नहीं धरता है। (इधर-उधर देखकर) कोई ऋषि यहाँ है? (दुष्यंत को देखकर) अहो, परदेशी! आओ, कृपा करके इस बली बालक के हाथ से सिंह के बच्चे को छुड़ाओ।

दुष्यन्त—अच्छा (लड़के के पास जाकर और हँसकर) हे ऋषि-कुमार! तुमने तपोवन के विरुद्ध यह आचरण क्यों सीखा है जिससे तुम्हारे कुल को लाज आती है। यह तो काले साँप ही का धर्म है कि मलयगिर से लिपटकर उसे दूषित करे। (लड़के ने सिंह को छोड़ दिया)

दूसरी तपस्विनी—हे बटोही! मैंने तुम्हारा बहुत गुन माना

परन्तु जिसको तुम ऋषि-कुमार कहते हो सो ऋषि का बालक नहीं है।

दुष्यन्त—सत्य है, इसके काम ऐसे ही साहस के हैं। यह ऋषि-पुत्र नहीं जान पड़ता। परन्तु मैंने तपोवन में इसका वास देख ऋषि-पुत्र जाना। (लड़के का हाथ हाथ में लेकर आप ही आप) आहा! जब इसका हाथ छूने से मुझे इतना सुख हुआ तो जिस बड़भागी का यह बेटा है उसको कितना हर्ष होता होगा!

दूसरी तपस्विनी—(दोनों की ओर देखकर) बड़े अचम्भे की बात है!

दुष्यन्त—तुमको क्यों अचम्भा हुआ?

दूसरी तपस्विनी—यह अचम्भा है कि इस बालका का तुम्हारा कुछ सम्बन्ध नहीं है तोभी तुम्हारी इसकी उनहार बहुत मिलती है और दूसरे यह अचम्भे की बात है कि तुमको आगे से नहीं जानता था और अभी इसकी बुद्धि भी बालक है तो तुम्हारी बात इसने क्यों तुरन्त मान ली।

दुष्यन्त—(लड़के को गोद में उठाकर) हे तपस्विनी! जो यह ऋषि-पुत्र नहीं है तो किसका-वंश है?

दूसरी तपस्विनी—यह पुरु-वंशी है।

दुष्यन्त—(आप ही आप) इसी से मेरी इसकी उनहार मिलती है। (उसको गोद से उतारकर, प्रगट) पुरु-वंशियों में यह रीति तो निश्चय है कि युवा अवस्था भर रनवास में

रहकर पृथ्वी की रक्षा और पालन करते हैं फिर जब वृद्धपन आता है, वानप्रस्थ आश्रम लेकर जितेन्द्रिय तपस्वियों के आश्रम में वृक्षों के नीचे कुटी बनाकर रहते हैं, परन्तु मुझे आश्चर्य यह है कि इस बालक के देवता के-से चरित्र हैं, यह मनुष्य की सन्तान क्योंकर होगा।

दूसरी तपस्विनी—हे परदेशी! तेरा सब सन्देह तब मिट जायगा जब तू जान लेगा कि इस बालक की माँ एक अप्सरा की बेटी है।

दुष्यन्त—(आप ही आप) यह तो बड़े आनन्द की बात सुनाई। इससे, कुछ और आशा बढ़ी। (प्रगट) इसकी माता का पाणि-ग्रहण किस राजर्षि ने किया है?

दूसरी तपस्विनी—जिस राजा ने अपनी विवाहिता स्त्री को बिना अपराध छोड़ दिया है उसका नाम मैं न लूँगी।

दुष्यन्त—(आप ही आप) यह कथा तो मुझ पर लगती है। भला अब इस बालक की माँ का नाम पूछूँ। (सोचकर) परन्तु सत्पुरुषों की रीति नहीं है कि पराई स्त्री का वृत्तान्त पूछें।

(पहली तपस्विनी खिलौना लेकर आती है)

पहली तपस्विनी—हे सर्वदमन! देख, यह कैसा शकुन्त लावण्य है।

बालक—(बड़े चाव से देखकर) कहाँ है शकुन्तला, मेरी माता?

दोनों तपस्विनी—(हँसती हुई) यहाँ तेरी माता नहीं

है । हमने दुअर्थी बात कही थी अर्थात् सुन्दर पक्षी दिखाया था।

दुष्यन्त—(आप ही आप) इसकी माँ मेरी ही प्यारी शकुन्तला है या इस नाम की कोई दूसरी स्त्री है। यह वृत्तान्त मुझे ऐसा व्याकुल करता है जैसे मृग-तृष्णा प्यासे हरिन को निराश करती है।

बालक—जो यह मोर चले फिरेगा और उड़ेगा तो मानूँगा, नहीं तो नही।

पहली तपस्विनी—(घबराकर) अहा ! बालक की बाँह से रक्षा-बन्धन कहाँ गया ? (खिलौना ले लिया)

दुष्यन्त—घबराओ मत, जब यह नाहर से खेल रहा था तब इसके हाथ से गंडा गिर गया था सो पड़ा है । मैं उठाकर तुम्हें दिये देता हूँ। (उठाना चाहा)

दोनों तपस्विनी—हैं हैं, इस गंडे को छूना मत।

पहली तपस्विनी—हाय, इसने तो उठा ही लिया। (दोनों आपस मे अचम्भे से देखने लगीं)

दुष्यन्त—गंडा यह लो, परन्तु यह कहो कि तुमने मुझे इसके छूने से रोका क्यों था ?

दूसरी तपस्विनी—इसलिये रोका था कि इस यन्त्र में बड़ी शक्ति है। जिस समय इस बालक का जात-कर्म हुआ था तब महात्मा मरीचि के पुत्र कश्यप ने वह गंडा दिया था। इसमें यह गुण है कि कदाचित् यह धरती पर गिर पड़े तो इस

बालक के माँ-बाप को छोड़ दूसरा कोई न उठा सके।

दुष्यन्त—और जो कोई उठा ले तो क्या हो ?

पहली तपस्विनी—तो यह तुरन्त साँप बनकर उसको डसे।

दुष्यन्त—तुमने कभी ऐसा होते देखा है ?

दोनों तपस्विनी—अनेक बार।

दुष्यन्त—(प्रसन्न होकर) तो अब मेरा मनोरथ पूरा हुआ। (लड़के को गोद में ले लिया)

दूसरी तपस्विनी—आओ सुव्रता ! ये सुख के समाचार चलके शकुन्तला को सुनावें। वह बहुत दिनों से वियोग के कठिन नेम कर रही है।

(दोनों बाहर गईं)

बालक—छोड़ो, छोड़ो मैं अपनी माता के पास जाऊँगा।

दुष्यन्त—हे पुत्र ! तू मेरे संग चलकर माता को सुख दीजो।

बालक—मेरा पिता तो दुष्यन्त है, तुम दुष्यन्त नहीं हो।

दुष्यन्त—तेरा यह विवाद भी मुझे प्रतीति कराता है।

(वियोग के वस्त्र धारण किए और जुटे हुए बालों की वेणी पीठ पर डाले शकुन्तला आई)

शकुन्तला—(आप ही आप) मैं सुन तो चुकी हूँ कि बालक के गंडे की दिव्य सामर्थ्य का गुण प्रगट हुआ परन्तु अपने भाग्य का कुछ भरोसा नहीं है। हाँ, इतनी आशा है कि कहीं मिश्रकेशी का कहना सच्चा हो गया हो।

दुष्यन्त—(हर्ष और शोक दोनों से) क्या योगिनी के वेष में यह प्यारी शकुन्तला है जिसका मुख विरह के नियमों ने पीला कर दिया है और जो वस्त्र मलिन पहने, जटा कन्धे पर डाले, मुझ निर्दयी का वियोग सहती है ?

शकुन्तला—(राजा की ओर देखकर और संशय करके) यह क्या मेरा ही प्राणपति है जो मेरे वियोग से ऐसा कुँभला रहा है ? जो मेरा पति नहीं है तो कौन है जिसने बालक का हाथ पकड़कर अपना कहा और मुझे दूषण लगाया? वह कौन है जिसको बालक के गंडे ने बाधा न करी ?

बालक—(दौड़ता हुआ शकुन्तला के पास जाकर) माता ! यह किसी के कहने से मुझे अपना पुत्र बताता है।

दुष्यन्त—हे प्यारी ! मैंने तेरे साथ निठुराई तो की परन्तु परिणाम अच्छा हुआ कि तैंने मुझे पहचान लिया। जो हुआ सो हुआ, अब उस बात को भूल जा।

शकुन्तला—(आप ही आप) अरे मन ! तू धीरज धर, अब मुझे भरोसा हुआ कि मेरे भाग्य ने ईर्षा छोड़ी। (प्रगट) हे आर्यपुत्र ! मेरी तो यही अभिलाषा है कि तुम प्रसन्न रहो।

दुष्यन्त—प्यारी ! भ्रम में मुझे तेरी सुध न रही थी, सो आज दैव का बड़ा अनुग्रह है कि तू चन्द्रमुखी फिर मेरे सम्मुख आई; जैसे ग्रहण के अन्त में रोहिणी फिर अपने प्यारे कलानिधि से मिलती है।

शकुन्तला—महाराज की...(इतना कहते ही गद्गद वाणी होकर आँसू गिरने लगे)

दुष्यन्त—हे सुन्दरी ! मैंने जान लिया तू जय शब्द कहा चाहती थी, सो आँसुओं ने रोक लिया परन्तु मेरी जय होने में अब कुछ सन्देह नहीं है, क्योंकि आज तेरे मुख-चन्द्र का दर्शन मिल गया।

बालक—माता ! यह पुरुष कौन है ?

शकुन्तला—बेटा ! अपने भाग्य से पूछ । (फिर रो उठी)

दुष्यन्त—हे सुन्दरी ! अब तू अपने मन से मेरे अवगुनों का ध्यान बिसरा दे। जिस समय मैंने तेरा अनादर किया, मेरा चित्त किसी बड़े भ्रम में था। जब तमोगुण प्रबल होता है बहुधा यही गति मनुष्य की हो जाती है, जैसे अन्धे के गले में हार डालो और वह उसको सर्प समझ कर फेंक दे।

(यह कहता हुआ पैरों में गिर पड़ा)

शकुन्तला—उठो, प्राणपति ! उठो, मेरे सुख में बहुत दिन विघ्न रहा, परन्तु तुम्हारा हित अब तक मुझ में बना है यह बड़े सुख का मूल है। (राजा उठा) मुझ दुखिया की सुध कैसे आपको आई सो कहो।

दुष्यन्त—जब पश्चात्ताप का काँटा मेरे कलेजे से निकल जायगा तब सब वृत्तान्त कहूँगा। अब तू मुझे अपने सुन्दर पलकों से आँसू पोंछने दे जिससे मेरा यह पछतावा दूर हो कि

उस दिन मैंने भ्रम में आकर तेरे आँसू देखे अनदेखे किये थे। (आँसू पोंछने को हाथ बढ़ाया।)

शकुन्तला—(अपने आँसू पोंछकर और राजा की उँगली में अँगूठी देखकर) आहा! यह वही विसासिन अँगूठी है।

दुष्यन्त—इसी के मिलते मुझे तेरी सुध आई।

शकुन्तला—तो यह बड़े गुणभरी है कि जिससे फिर आपको गई प्रतीति मुझ पर आई।

दुष्यन्त—हे प्यारी! अब तू इसे पहन जैसे ऋतु के चिह्न के लिए पृथ्वी फूल धारण करती है।

शकुन्तला—मुझे इसका विश्वास नही रहा है, आपही पहने रहो।

(मातलि आया)

मातलि—महाराज! धन्य है यह दिन कि आपने फिर अपनी धर्मपत्नी पाई और पुत्र का मुख देखा।

दुष्यन्त—मित्रों ही की दया से मेरी अभिलाषा पूरी हुई है, परन्तु यह तो कहो कि इस वृत्तान्त को इन्द्र जानता था या नही।

मातलि—(हंसकर) देवता क्या नही जानते हैं? अब आओ, महात्मा कश्यप आपको दर्शन देंगे।

दुष्यन्त—प्यारी! चलो और सर्वदमन की भी उँगली थामे चलो।—महात्मा का दर्शन कर आवें।

शकुन्तला—आपके संग बड़ों के सम्मुख जाने में मुझे लज्जा आती है।

दुष्यन्त—ऐसे शुभ समय में एक संग चलना बहुत उत्तम है। ऐसा सभी करते आये हैं। चलो, विलम्ब मत करो।

[सब आगे को बढ़े]

(सिंहासन पर बैठे हुए कश्यप और अदिति बातें करते हुए दिखाई दिये)

कश्यप—(राजा की ओर देखकर) हे दक्षसुता! तेरे पुत्र की सेना का अग्रगामी मृत्युलोक का राजा दुष्यन्त यही है। इसी के धनुष का प्रताप है कि इन्द्र का वज्र केवल शोभामात्र रह गया है।

अदिति—इसके लक्षण बड़े राजाओं के-से दिखाई देते हैं।

मातलि—(दुष्यन्त से) हे राजा! द्वादश आदित्यों के माता-पिता आपकी ओर प्यार की दृष्टि से ऐसे देख रहे हैं जैसे कोई अपने पुत्र को देखता है। आप निकट चलें।

दुष्यन्त - क्या ये ही दक्ष की पुत्री और मरीचि के पुत्र हैं? ये ही ब्रह्मा के पौत्र पौत्रा हैं जिनको उसने सृष्टि के आदि में जन्म दिया था और जो बारह आदित्यों के पित्र कहलाते हैं? क्या ये वे ही हैं जिनसे त्रिभुवन-धनी इन्द्र और बावन अवतार उत्पन्न हुये?

मातलि—हाँ, ये ही हैं। (दुष्यन्त समेत साष्टॉग दण्डवत् की) हे महात्माओ! राजा दुष्यन्त, जो अभी तुम्हारे पुत्र वासव की आज्ञा पूरी करके आया है, प्रणाम करता है।

कश्यप—अखंड राज्य रहे।

अदिति—तुम रण में अजित हो।

शकुन्तला—महाराज! मैं भी आपके चरणों में बालक समेत प्रणाम करती हूँ।

कश्यप—हे पुत्री! तेरा स्वामी इन्द्र के समान और पुत्र जयन्त के तुल्य हो! इससे उत्तम और क्या आशीर्वाद दूँ कि तू पुलोमन की पुत्री शची के सदृश हो?

अदिति—हे पुत्री! तू सदा सौभाग्यवती रहे और यह बालक दीर्घायु होकर तुम दोनों को सुख दे और कुल का दीपक हो! आओ, विराजो।

(सब बैठ गये)

कश्यप—(एक-एक की ओर देखकर दुष्यन्त से) तुम बड़े बड़भागी हो। ऐसी पतिव्रता स्त्री, ऐसा आज्ञाकारी पुत्र और ऐसे तुम आप, यह संयोग ऐसा हुआ है मानो श्रद्धा और वित्त और विधि तीनों इकट्ठे हुये हों।

दुष्यन्त—हे महर्षि! आपका अनुग्रह बड़ा अपूर्व है कि दर्शन पीछे हुये मनोरथ पहले ही हो गया। कारण और कार्य का सदा यह सम्बन्ध है कि पहले फूल होता है तब फल लगता है, पहले मेघ आते हैं तब जल बरसता है, परन्तु आप का कृपा ऐसी है कि पहले ही फल प्राप्त करा देती है।

मातलि—महाराज! बड़ों की कृपा का यहीं प्रभाव है।

पुत्र-शोक

[भारतेन्दु हरिश्चन्द्र]

नेपथ्य में—

हाय ! कैसी भई ! हाय बेटा ! हमें रोती छोड़ कहाँ चले गये ? हाय ! हाय रे !

हरिश्चन्द्र—अहह ! किसी दीन स्त्री का शब्द है, और शोक भी इसको पुत्र का है । हाय हाय ! हमको भी भाग्य ने क्या ही निर्दय और वीभत्स कर्म सौंपा है ! इससे भी वस्त्र माँगना पड़ेगा ।

(रोती हुई शैव्या रोहिताश्व का मुरदा लिये आती है)

शैव्या—(रोती हुई) हाय बेटा !! जब बाप ने छोड़ दिया तब तुम भी छोड़ चले ! हाय ! हमारी विपत और बुढ़ौती की ओर भी तुमने न देखा ! हाय ! हाय रे ! अब हमारी कौन गति होगी ! (रोती है)

हरिश्चन्द्र—हाय हाय ! इसके पति ने भी इसको छोड़

दिया है। हा! इस तपस्विनी को निष्करुण विधि ने बड़ा ही दुःख दिया है।

शैव्या—(रोती हुई) हाय बेटा! अरे आज मुझे किसने लूट लिया! हाय, मेरी बोलती चिड़िया कहाँ उड़ गई? हाय, अब मैं किसका मुँह देख के जीऊँगी? हाय, मेरी अन्धी की लकड़ी कौन छीन ले गया? हाय, मेरा ऐसा सुन्दर खिलौना किसने तोड़ डाला? अरे बेटा! तैं तो मरे पर भी सुन्दर लगता है। हाय रे! अरे, बोलता क्यों नहीं? बेटा! जल्दी बोल, देखो, माँ कब की पुकार रही है! बच्चा! तू तो एक ही बार पुकारने में दौड़कर गले लपट जाता था, आज क्यों नहीं बोलता?

(शव को बार-बार गले लगाती, देखती और चूमती है)

हरिश्चन्द्र—हाय हाय! इस दुखिया के पास तो खड़ा नही हुआ जाता।

शैव्या—(पागल की भाँति) अरे, क्या हो रहा है? बेटा कहाँ गये हो? आओ जल्दी! अरे, अकेले इस मसान में मुझे डर* लगती है, यहाँ तुझको कौन ले आया है? रे, बेटा! जल्दी आओ। अरे, क्या कहते हो, मैं गुरु को फूल लेने गया था, वहाँ काले साँप ने मुझे काट लिया? हाय! हाय रे!! अरे, कहाँ काट लिया? अरे, कोई दौड़ के किसी गुनी को बुलाओ

*बनरास की ओर अन्य अनेक शब्दों की तरह डर भी स्त्रीलिंग में प्रयुक्त होता है।

जो जिलावे बच्चे को। अरे, वह साँप कहाँ गया, हमको क्यों नहीं काटता ? काट रे काट, क्या उस सुकुँआर बच्चे ही पर बल दिखाना था ? हमें काट। हाय, हमको नहीं काटता! अरे, यहाँ तो कोई साँप वाँप नहीं है। मेरे लाल, झूठ बोलना कब से सीखे ? हाय हाय! मैं इतना पुकारती हूँ और तुम खेलना नहीं छोड़ते ? बेटा, गुरुजी पुकार रहे हैं, उनके होम की बेला निकली जाती है। देखो, बड़ी देर से वह तुम्हारे आसरे बैठे हैं। दो जल्दी उनको दूब और बेलपत्र। हाय! हमने इतना पुकारा, तुम कुछ नहीं बोलते! (जोर से) बेटा, साँझ भई, सब विद्यार्थी लोग घर फिर आये; तुम अब तक क्यों नहीं आये ? (आगे शव देखकर) हाय हाय रे! अरे, मेरे लाल को साँप ने सचमुच डस लिया! हाय लाल! हाय, मेरे आँखों के उँजियाले को कौन ले गया ? हाय! मेरा बोलता हुआ सुग्गा कहाँ उड़ गया? बेटा, अभी तो बोल रहे थे, अभी क्या हो गया? हाय! मेरा बसा घर आज किसने उजाड़ दिया? हाय हाय! मेरी कोख में किसने आग लगा दी? हाय! मेरा कलेजा किसने निकाल लिया? (चिल्ला चिल्लाकर रोती है) हाय, लाल! कहाँ गये ? अरे! अब मैं किसका मुँह देख के जीऊँगी रे? हाय! अब माँ कह के मुझको कौन पुकारेगा ? अरे, आज किस बैरी की छाती ठंडी भई रे? अरे, तेरे सुकुँआर अङ्गों पर भी काल को तनिक दया न आई! अरे, बेटा! आँख खोलो। हाय! मैं सब बिपत तुम्हारा ही मुँह देख कर सहती

थी, सो अब कैसे जीती रहूँगी ! अरे लाल ! एक बार तो बोलो !

(रोती है)

हरिश्चन्द्र—न जाने, क्यों इसके रोने पर मेरा कलेजा फटा जाता है।

शैव्या—(रोती हुई) हा नाथ ! अरे, अपने गोद के खिलाये बच्चे की यह दशा क्यों नहीं देखते ? हाय ! अरे, तुमने तो इसको हमें सौंपा था कि इसे अच्छी तरह पालना, सो हमने इसकी यह दशा कर दी। हाय ! अरे, ऐसे समय में भी आकर नहीं सहाय होते ? भला एक बार लड़के का मुँह तो देख जाओ। अरे, अब मैं किसके भरोसे जीऊँगी ?

हरिश्चन्द्र—हाय ! इसकी बातों से तो प्राण मुँह को चले आते हैं और मालूम होता है कि संसार उलटा जाता है। यहाँ से हट चलें।

(कुछ दूर हटकर उसकी ओर देखता खड़ा हो जाता है)

शैव्या—(रोती हुई) हाय ! यह बिपत का समुद्र कहाँ से उमड़ पड़ा। अरे छलिया, मुझे छल कर कहाँ भाग गया ? (देखकर) अरे, आयुष की रेखा तो इतनी लम्बी है, फिर अभी से यह वज्र कहाँ से टूट पड़ा ? अरे, ऐसा सुन्दर मुँह, बड़ी बड़ी आँख, लम्बी लम्बी छाती, गुलाब सा रंग ! हाय ! मरने के तुझमें कौन लच्छन * थे जो भगवान ने तुझे मार डाला ? हाय लाल ! अरे, बड़े बड़े जोतसी गुनी लोग तो कहते थे

---

* स्त्री पात्र के मुख से लक्षण के स्थान पर लच्छन कहलाया गया है।

कि तुम्हारा बेटा प्रतापी चक्रवर्ती राजा होगा, बहुत जीवेगा, सो सब झूठ निकला! हाय! पोथी, पत्रा, पूजा, पाठ, दान, जप, होम कुछ भी काम न आया! हाय! तुम्हारे बाप का कठिन पुन्य* भी तुम्हारा सहाय न हुआ और तुम चल बसे! हाय!

हरिश्चन्द्र—अरे, इन बातों से तो मुझे बड़ी शंका होती है (शव को भली-भाँति देखकर) अरे, इस लड़के में तो सब लक्षण चक्रवर्ती से ही दिखाई पड़ते हैं। हाय! न जाने किस नगर को इसने अनाथ किया है। हाय! रोहिताश्व भी इतना बड़ा हुआ होगा। (बड़े सोच से) हाय हाय! मेरे मुँह से क्या अमंगल निकल गया? नारायण!

(सोचता है)

शैव्या—भगवान विश्वामित्र! आज तुम्हारे सब मनोरथ पूरे हुये। हाय!

हरिश्चन्द्र—(घबड़ा कर) हाय हाय! यह क्या? (भली भाँति देखकर रोता हुआ) हाय! अब तक मैं सन्देह ही में पड़ा हूँ? अरे, मेरी आँखें कहाँ गई थी जिनने अब तक पुत्र रोहिताश्व को न पहचाना और कान कहाँ गये थे जिनने अब तक महारानी की बोली न सुनी? हा पुत्र! हा सूर्यवंश के अंकुर! हा हरिश्चन्द्र की विपत्ति के एक-मात्र अवलम्ब! हाय! तुम

---

* स्त्री पात्र के मुख से पुण्य के स्थान पर पुन्य कहलाया गया है।

ऐसे कठिन समय में दुखिया माँ को छोड़ कर कहाँ गये ? अरे ! तुम्हारे कोमल अङ्गों को क्या हो गया ? तुमने क्या खेला, क्या खाया, क्या सुख भोगा कि अभी से चल बसे ? पुत्र ! स्वर्ग ऐसा ही प्यारा था तो मुझसे कहते मैं अपने बाहु-बल से तुमको इसी शरीर से स्वर्ग पहुँचा देता। अथवा अब इस अभिमान से क्या ? भगवान इसी अभिमान का फल यह सब दे रहा है। हाय पुत्र ! (रोता है)

आह ! मुझसे बढ़कर और कौन मन्द-भाग्य होगा ! राज्य गया, धन जन कुटुम्ब सब छूटा, उस पर भी यह दारुण पुत्र-शोक उपस्थित हुआ। भला अब मैं रानी को क्या मुँह दिखाऊँ ? निःसन्देह मुझ से अधिक अभागा और कौन होगा ? न जाने हमारे किस जन्म के पाप उदय हुये हैं। जो कुछ हमने आज तक किया वह यदि पुण्य होता तो हमें यह दुःख न देखना पड़ता। हमारा धर्म का अभिमान सब झूठा था, क्योंकि कलियुग नहीं है कि अच्छा करते बुरा फल मिले। निःसन्देह मैं महा अभागा और बड़ा पापी हूँ (रंगभूमि की पृथ्वी हिलती है और नेपथ्य में शब्द होता है) क्या प्रलय-काल आ गया ? नहीं, यह बड़ा भारी असगुन हुआ है। इसका फल कुछ अच्छा नहीं, वा अब बुरा होना ही क्या बाकी रह गया है जो होगा ? हा ! न जानें किस अपराध से दैव इतना रूठा है ?

(रोता है)

हा सूर्य-कुल-आलवाल-प्रवल ! हा हरिश्चन्द्र-हृदयानन्द !

हा शैव्यावलम्ब ! हा वत्स रोहिताश्व ! हा मातृ-पितृ-विपत्ति-सहचर ! तुम हम लोगों को इस दशा में छोड़कर कहाँ गये ? आज हम सचमुच चाण्डाल हुये। लोग कहेंगे कि इसने न जाने कौन दुष्कर्म किया था कि पुत्र-शोक देखा। हाय ! हम संसार को क्या मुँह दिखावेंगे ? (रोता है) वा संसार में इस बात के प्रकट होने के पहले ही हम भी प्राण त्याग करें ? हा निर्लज्ज प्राण ! तुम अब भी क्यों नहीं निकलते ? हा वज्र-हृदय ! इतने पर भी तू क्यों नहीं फटता ? अरे नेत्रो ! अब और क्या देखना बाकी है कि तुम अब तक खुले हो ? या इस व्यर्थ प्रलाप का फल ही क्या है, समय बीता जाता है। इसके पूर्व कि किसी से सामना हो, प्राण त्याग करना ही उत्तम बात है।

(पेड़ के पास जाकर फाँसी देने के योग्य डाल खोजकर उसमें दुपट्टा बाँधता है)

धर्म ! मैंने अपने जान सब अच्छा ही किया, परन्तु न जाने किस कारण मेरा सब आचरण तुम्हारे विरुद्ध पड़ा, सो मुझे क्षमा करना।

(दुपट्टे की फाँसी गले में लगाना चाहता है कि एक साथ चौंककर)

गोविन्द ! गोविन्द ! यह मैंने क्या अनर्थ अधर्म विचारा ! भला मुझ दास को अपने शरीर पर क्या अधिकार था कि मैंने प्राण-त्याग करना चाहा ! भगवान सूर्य ! इसी क्षण के हेतु अनुशासन करते थे। नारायण ! नारायण ! इस इच्छाकृत मानसिक पाप से कैसे उद्धार होगा ? हे सर्वान्तर्यामी जगदीश्वर !

क्षमा करना, दुख से मनुष्य की बुद्धि ठिकाने नहीं रहती। अब तो मैं चाण्डाल-कुल का दास हूँ, न अब शैव्या मेरी स्त्री है और न रोहिताश्व मेरा पुत्र! चलूँ, अपने स्वामी के काम पर सावधान हो जाऊँ वा देखूँ अब दुखिनी शैव्या क्या करती है।

(शैव्या के पीछे जाकर खड़ा हो जाता है)

शैव्या—(पहली तरह बहुत रोकर) हाय! अब मैं क्या करूँ! अब मैं किसका मुँह देखकर संसार में जीऊँगी! हाय! मैं आज से निपूती भई! पुत्रवती स्त्री अपने बालकों पर अब मेरी छाया न पड़ने देगी। हा! नित्य सवेरे, उठकर अब मैं किस-की चिन्ता करूँगी! खाते समय मेरी गोद में बैठकर और मुझसे माँग माँग कर कौन खायगा? मैं परोसी थाली सूनी देखकर कैसे प्राण रक्खूँगी। (रोती है) हाय! खेलते खेलते आकर मेरे गले से कौन लपट जायगा! और 'माँ माँ' कहकर तनिक तनिक बातों पर कौन हठ करेगा? हाय! मैं अब किसको अपने आँचल से मुँह की धूल पोंछकर गले लगाऊँगी और किसके अभिमान से विपत में भी फूली फूली फिरूँगी? (रोती है) या जब रोहिताश्व ही नहीं तो मैं ही जी के क्या करूँगी? (छाती पीटकर) हाय प्राण! तुम अब भी क्यों नहीं निकलते? मैं ऐसी स्वारथी हूँ कि आत्म-हत्या के नरक के भय से अब भी अपने को नहीं मार डालती! नहीं नहीं, अब मैं न जीऊँगी। या तो इस पेड़ में फाँसी लगाकर मर जाऊँगी या गंगा में कूद पड़ूँगी।

(उन्मत्ता की भाँति उठकर दौड़ना चाहती है)

हरिश्चन्द्र—(आड़ में से)

तनहिं बेंचि दासी कहवाई।
मरति स्वामि-आयसु बिन पाई॥
करू न अधर्म सोच जिय माहीं।
"पराधीन सपनेहु सुख नाहीं"॥

शैव्या—(चौकन्नी होकर) अहा! यह किसने इस कठिन समय में धर्म का उपदेश किया? सच है, मैं अब इस देह की कौन हूँ जो मर सकूँ? हाय दैव! तुझसे यह भी न देखा गया कि मैं मरकर भी सुख पाऊँ? (कुछ धीरज धर के) तो चलूँ, छाती पर वज्र धर के अब लोक-रीति करूँ। (रोती और लकड़ी चुनकर चिता बनाती हुई) हाय! जिन हाथों से ठोक ठोक कर रोज सुलाती थी उन्हीं हाथों से आज चिता पर कैसे रक्खूँगी? जिसके मुँह में छाला पड़ने के भय से कभी मैंने गरम दूध भी नहीं पिलाया उसे...(बहुत ही रोती है)

हरिश्चन्द्र—धन्य देवी! आखिर तो चन्द्र-सूर्य-कुल की स्त्री हो; तुम न धीरज धरोगी तो कौन धरेगा?

(शैव्या चिता बनाकर पुत्र के पास आकर उठाना चाहती है और रोती है)

हरिश्चन्द्र—तो अब चलें, उससे आधा कफन माँगें। (आगे बढ़कर और बलपूर्वक आँसुओं को रोककर शैव्या से) महाभागे! श्मशान-पति की आज्ञा है कि आधा कफन दिये बिना कोई

मुरदा फूकने न पावे, सो तुम भी पहले हमें कपड़ा दे लो तब क्रिया करो।

(कफन माँगने को हाथ फैलाता है, आकाश से पुष्पवृष्टि होती है)

नेपथ्य में—"अहो धैर्यमहो सत्यमहो दानमहो बलम् !
त्वया राजन् हरिश्चन्द्र ! सर्वं लोकोत्तरं कृतम्॥*

(दोनों आश्चर्य से ऊपर देखते है)

शैव्या—हाय ! इस कुसमय में आर्यपुत्र की वह कौन स्तुति करता है? वा इस स्तुति ही से क्या है, शास्त्र सब असत्य हैं, नहीं तो आर्यपुत्र-से धर्मी की यह गति हो ! यह केवल देवताओं और ब्राह्मणों का पाखंड है।

हरिश्चन्द्र—(दोनों कानों में हाथ रख कर) नारायण ! नारायण ! महाभागे, ऐसा मत कहो। शास्त्र, ब्राह्मण और देवता त्रिकाल में सत्य हैं। ऐसा कहोगी तो प्रायश्चित्त होगा, अपना धर्म विचारो। लाओ, मृत-कम्बल हमें दो और अपना काम आरम्भ करो।

(हाथ फैलाता है)

शैव्या—(महाराज हरिश्चन्द्र के हाथ में चक्रवर्ती का चिह्न देखकर और कुछ स्वर तथा कुछ आकृति से अपने पति को पहिचान कर) हा आर्यपुत्र ! इतने दिन तक कहाँ छिपे थे ? देखा, अपने गोद के

* हे महाराज हरिश्चन्द्र ! तुमने सब काम अलौकिक किया है। तुम्हारा धीरज, सत्य, दान और पराक्रम धन्य है !

खेलाये दुलारे पुत्र की दशा। तुम्हारा प्यारा रोहिताश्व देखो, अब अनाथ की भाँति मसान में पड़ा है।

(रोती है)

हरिश्चन्द्र—प्रिये ! धीरज धरो, यह रोने का समय नहीं है। देखो, सबेरा हुआ चाहता है, ऐसा न हो कि कोई आ जाय और हम लोगों को जान ले और एक जो लज्जा मात्र बच गई है वह भी जाय। चलो, कलेजे पर सिल रखकर अब रोहिताश्व की क्रिया करो और आधा कम्बल हम को दो।

शैव्या—(रोती हुई) नाथ ! मेरे पास तो एक भी कपड़ा नहीं था, अपना आँचल फाड़कर उसे लपेट लाई हूँ, उसमें से भी जो आधा दे दूँगी तो यह खुला रह जायगा। हाय ! चक्रवर्ती के पुत्र को आज कफन नहीं मिलता।

(बहुत रोती है)

हरिश्चन्द्र—(बलपूर्वक आँसुओं को रोककर बहुत धीरज धरकर) प्यारी ! रो मत। ऐसे समय में तो धीरज धरम रखना काम है। मैं जिसका दास हूँ उसकी आज्ञा है कि बिना आधा कफन लिये क्रिया मत करने दो। इससे यदि मैं अपनी स्त्री और अपना पुत्र समझकर तुमसे इसका आधा कफन न लूँ तो बड़ा अधर्म हो। जिस हरिश्चन्द्र ने उदय से अस्त तक की पृथ्वी के लिए धर्म न छोड़ा उसका धर्म आध गज कपड़े के वास्ते मत छुड़ाओ और कफन से जल्दी आधा कपड़ा फाड़ दो। देखो, सबेरा हुआ चाहता है, ऐसा न हो

कि कुल-गुरु भगवान् सूर्य अपने वंश की यह दुर्दशा देखकर चित्त में उदास हों।

(हाथ फैलाता है)

शैव्या—(रोती हुई) नाथ ! जो आज्ञा।

(रोहिताश्व का मृत-कम्बल फाड़ा चाहती है कि रंगभूमि की पृथ्वी हिलती है, तोप छुटने का-सा बड़ा शब्द और बिजली का-सा उजाला होता है, नेपथ्य मे बाजे की और 'बस-धन्य और जय जय' की ध्वनि होती है, फूल बरसते है और भगवान् नारायण प्रगट होकर राजा हरिश्चन्द्र का हाथ पकड़ लेते हैं)

भगवान्—बस, महाराज ! बस। धर्म और सत्य सब की परमावधि हो गई। देखो, तुम्हारे पुण्य-भय से पृथ्वी बारम्बार काँपती है, अब त्रैलोक्य की रक्षा करो।

(नेत्रों से आँसू बहते है)

हरिश्चन्द्र—(साष्टॉग दण्डवत् करके रोता हुआ गद्‌गद स्वर से) भगवन् ! मेरे वास्ते आपने परिश्रम किया ! कहाँ यह श्मशान भूमि, कहाँ यह मर्त्यलोक, कहाँ मेरा मनुष्य-शरीर, और कहाँ पूर्ण परब्रह्म सच्चिदानन्दघन साक्षात् आप !

(प्रेम के आँसुओं से गद्‌गद कण्ठ होने से कुछ कहा नहीं जाता)

भगवान्—(शैव्या से) पुत्री ! अब शोच मत कर। धन्य तेरा सौभाग्य कि तुझे राजर्षि हरिश्चन्द्र ऐसा पति मिला है।

(रोहिताश्व की ओर देखकर) वत्स रोहिताश्व! उठो, देखो, तुम्हारे माता-पिता देर से तुम्हारे मिलने को व्याकुल हो रहे हैं।

(रोहिताश्व उठ कर खड़ा होता है और आश्चर्य से भगवान् को प्रणाम करके माता-पिता का मुँह देखने लगता है; आकाश से फिर पुष्प-वृष्टि होती है)

मेले का ऊँट

[बालमुकुन्द गुप्त]

भारतमित्र-सम्पादक ! जीते रहो—दूध बताशे पीते रहो। भाँग भेजी सो अच्छी थी। फिर वैसी ही भेजना। गत सप्ताह अपना चिट्ठा आपके पत्र में टटोलते हुए 'मोहन-मेले' के लेख पर निगाह पड़ी। पढ़ कर आपकी दृष्टि पर अफ़सोस हुआ। पहली वार आपकी बुद्धि पर अफ़सोस हुआ था। भाई ! आपकी दृष्टि गिद्ध की-सी होना चाहिए, क्योंकि आप सम्पादक हैं। किन्तु आपकी दृष्टि गिद्ध की-सी होने पर भी उस भूखे गिद्ध की-सी निकली, ऊँचे आकाश में चढ़े-चढ़े भूमि पर एक गेहूँ का दाना पड़ा देखा, पर उसके नीचे जो जाल बिछ रहा था वह उसे न सूझा। यहाँ तक कि उस गेहूँ के दाने को चुगने से पहले जाल में फँस गया।

'मोहन मेले' में आपका ध्यान दो एक पैसे की एक पूरी की तरफ़ गया। न जाने आप घर से कुछ खाकर गये

थे या यों ही। शहर की एक पैसे की पूरी के मेले में दो पैसे हों तो आश्चर्य न करना चाहिए, चार पैसे भी हो सकते थे। यह क्या देखने की बात थी? तुमने व्यर्थ बातें बहुत देखीं, काम की एक भी तो देखते! दाईं ओर जाकर तुम ग्यारह सौ सतरों का एक पोस्ट-कार्ड देख आये, पर बाँई तरफ़ बैठा हुआ ऊँट भी तुम्हें दिखाई न दिया! बहुत लोग उस ऊँट की ओर देखते और हँसते थे। कुछ लोग कहते थे कि कलकत्ते में ऊँट नहीं होते, इसी से मोहन-मेले वालों ने इस विचित्र जानवर का दर्शन कराया है। बहुत-सी शौक़ीन बीबियाँ, कितने ही फूल-बाबू ऊँट का दर्शन करके खिलते दाँत निकालते चले गये। तब कुछ मारवाड़ी बाबू भी आये और झुक-झुक कर उस काठ के घेरे में बैठे हुए ऊँट की तरफ़ देखने लगे। एक ने कहा—"ऊँटड़ो है।" दूसरा बोला—"ऊँटड़ो कठेते आयो?" ऊँट ने भी यह देख दोनों ओठों को फड़काते हुए थूथनी फटकारी। भङ्ग की तरङ्ग में मैंने सोचा कि ऊँट अवश्य ही मारवाड़ी बाबुओं से कुछ कहता है। जी में सोचा कि चलो देखें वह क्या कहता है। क्या उसकी भाषा मेरी समझ में न आवेगी? मारवाड़ियों की भाषा समझ लेता हूँ तो मारवाड़ के ऊँट की बोली समझ में न आवेगी? इतने में तरङ्ग कुछ अधिक हुई। ऊँट की बोली साफ़-साफ़ समझ में आने लगी। ऊँट ने उन मारवाड़ी बाबुओं की ओर थूथनी करके कहा—

"बेटा ! तुम बच्चे हो, तुम क्या जानोगे ? यदि मेरी उमर का कोई होता तो वह जानता। तुम्हारे बाप के बाप जानते थे कि मैं कौन हूँ, क्या हूँ। तुमने कलकत्ते के महलों में जन्म लिया, तुम पोतड़ों के अमीर हो ! मेले में बहुत चीजें हैं उनको देखो। और यदि तुम्हें कुछ फ़ुरसत हो तो लो सुनो, सुनाता हूँ—

आज दिन तुम विलायती फिटिन, टमटम और जोड़ियों पर चढ़ कर निकलते हो, जिनकी क़तार तुम मेले के द्वार पर मीलों तक छोड़ आये हो, तुम उन्ही पर चढ़ कर मारवाड़ से कलकत्ते नहीं पहुँचे थे। ये सब तुम्हारे साथ की जन्मी हुई हैं। तुम्हारे बाप पचास साल के भी न होंगे, इससे वह भी मुझे भली भाँति नही पहचानते। हाँ, उनके भी बाप हों तो मुझे पहचानेंगे। मैंने ही उनको पीठ पर लाद कर कलकत्ते तक पहुँचाया है।

आज से पचास साल पहले रेल कहाँ थी ? मैंने मारवाड़ से मिरज़ापुर तक और मिरज़ापुर से रानीगंज तक कितने ही फेरे किये हैं। महीनों तुम्हारे पिता के पिता तथा उनके भी पिताओं का घर-बार मेरी ही पीठ पर रहता था। जिन स्त्रियों ने तुम्हारे बाप और बाप के भी बाप को जन्म दिया है, वे सदा मेरी पीठ को ही पालकी समझती थी। मारवाड़ में मैं सदा तुम्हारे द्वार पर हाज़िर रहता था, पर यहाँ वह मौक़ा कहाँ ? इसी से इस मेले में तुम्हें देखकर आँखे शीतल करने आया

हूँ। तुम्हारी भक्ति घट जाने पर भी मेरा वात्सल्य नहीं घटता है। घटे कैसे, मेरा तुम्हारा जीवन एक ही रस्सी से बँधा हुआ था। मैं ही हल चला कर तुम्हारे खेतों में अन्न उपजाता था और मैं ही चारा आदि पीठ पर लादकर तुम्हारे घर पहुँचाता था। यहाँ कलकत्ते में जल की कलें हैं, गंगाजी हैं, जल पिलाने को ग्वाले-कहार हैं, पर तुम्हारी जन्म-भूमि में मेरी ही पीठ पर लद कर कोसों से जल आता था और तुम्हारी प्यास बुझाता था।

मेरी इस घायल पीठ को घृणा से न देखो। इस पर तुम्हारे बड़े अन्न, रस्सियाँ यहाँ तक कि उपले लाद कर दूर-दूर तक ले जाते थे। जाते हुए मेरे साथ पैदल जाते थे और लौटते हुए मेरी पीठ पर चढ़े हुए हिचकोले खाते वह स्वर्गीय सुख लूटते थे कि तुम रबड़ के पहिये वाली, चमड़े की कोमल गद्दियोंदार फ़िटिन में बैठकर भी वैसा आनन्द प्राप्त नहीं कर सकते। मेरी बलबलाहट उनके कानों को इतनी सुरीली लगती थी कि तुम्हारे बग़ीचों में तुम्हारे गवैयों तथा तुम्हारी पसन्द की बीबियों के स्वर भी तुम्हें उतने अच्छे न लगते होंगे। मेरे गले के घण्टों का शब्द उनको सब बाजों से प्यारा लगता था। फोग के जङ्गल में मुझे चरते देख कर वे उतने ही प्रसन्न होते थे जितने तुम अपने बग़ीचों में भङ्ग पीकर, पेट भरकर और ताश खेलकर।"

भङ्ग की निन्दा सुन कर मैं चौंक पड़ा। मैंने ऊँट

कहा—बस, बलबलाना बन्द करो। यह बावला शहर नहीं, जो तुम्हें परमेश्वर समझे। तुम पुराने हो तो क्या, तुम्हारी कोई कल सीधी नहीं है। जो पेड़ों की छाल और पत्तों से शरीर ढाँकते थे, उनके बनाये कपड़ों से सारा संसार बाबू बना फिरता है। जिनके पिता सर पर गठरी ढोते थे वही पहले दर्जे के अमीर हैं। जिनके पिता स्टेशन से गठरी आप ढोकर लाते थे, उनको सिर पर पगड़ी सँभालना भारी है। जिनके पिता का कोई पूरा नाम न लेकर पुकारता था, वह बड़ी-बड़ी उपाधि धारे हुये हैं। संसार का जब यही रङ्ग है तो ऊँट पर चढ़ने वाले सदा ऊँट ही पर चढ़ें, यह कुछ बात नहीं। किसी की पुरानी बात यों खोल कर कहने से आज-कल के क़ानून से हतक-इज़्ज़त हो जाती है। तुम्हें ख़बर नहीं कि अब मारवाड़ियों ने 'एसोसिएशन' बना ली है। अधिक बलबलाओगे तो वह रिज़ोल्यूशन पास करके तुम्हें मारवाड़ से निकलवा देंगे। अतः उनका कुछ गुण-गान करो जिससे वे तुम्हारे पुराने हक़ को समझें और जिस प्रकार लार्ड कर्ज़न ने किसी ज़माने के "ब्लैक होल" को, उस पर लाठ बनवाकर और उसे संगमरमर से मढ़वा-कर, शानदार बना दिया है उसी प्रकार मारवाड़ी तुम्हारे लिए मख़मली काठी, ज़री की गद्दियाँ, हीरे-पन्ने की नकेल और सोने की घण्टियाँ बनवा कर तुम्हें बड़ा करेंगे और अपने बड़ों की सवारी का सम्मान करेंगे।

धोखा

[प्रतापनारायण मिश्र]

इन दो अक्षरो में भी न जाने कितनी शक्ति है कि इनकी लपेट से बचना यदि निरा असम्भव न हो, तो भी महाकठिन तो अवश्य है। जब कि भगवान् रामचन्द्र ने मारीच राक्षस को सुवर्ण मृग समझ लिया था तो हमारी आपकी क्या सामर्थ्य है जो धोखा न खाएँ ? वरञ्च ऐसी-ऐसी कथाओं से विदित होता है कि स्वयं ईश्वर भी केवल निराकार-निर्विकार ही रहने की दशा में इससे पृथक् रहता है। सो भी एक रीति से नही रहता, क्योंकि उसके मुख्य कामों में से एक काम सृष्टि का उत्पादन करना है। उसके लिए उसे अपनी माया का आश्रय लेना पड़ता है, और माया, छल, भ्रम इत्यादि धोखे के ही पर्याय हैं। इस रीति से यदि हम कहें कि ईश्वर भी धोखे से अलग नहीं है तो अयुक्त न होगा। यदि व धोखा खाता नहीं तो धोखे से काम अवश्य लेता है; जिसे

शब्दों में कह सकते हैं कि माया का प्रपंच फैलाता है वा धोखे की टट्टी खड़ी करता है।

अतः सब से पृथक् रहनेवाला ईश्वर भी ऐसा नहीं है जिसके विषय में यह कहने का स्थान हो कि वह धोखे से अलग है, वरञ्च धोखे से पूर्ण उसे कह सकते हैं। अवतार-धारणा की दशा में उसका नाम माया-वपुधारी होता है, जिसका अर्थ है—धोखे का पुतला और सच भी यही है, जो सर्वथा निराकार होने पर भी मत्स्य, कच्छपादि रूपों में प्रकट होता है और शुद्ध निर्विकार कहलाने पर भी नाना प्रकार की लीला किया करता है वह धोखे का पुतला नहीं तो क्या है ? हम आदर के मारे उसे भ्रम से रहित कहते हैं, पर जिसके विषय में कोई निश्चय-पूर्वक 'इदमित्थं' कह ही नहीं सकता; जिसका सारा भेद स्पष्ट रूप से कोई जान ही नहीं सकता, वह निर्भ्रम या भ्रम-रहित क्योंकर कहा जा सकता है ? शुद्ध शुद्ध निर्भ्रम वह कहलाता है जिसके विषय में भ्रम का आरोप भी न हो सके; पर उसके तो अस्तित्व तक में नास्तिकों को सन्देह और आस्तिकों को निश्चय ज्ञान का अभाव रहता है; फिर वह निर्भ्रम कैसा ? और जब वही भ्रम से पूर्ण है तब उसके बनाये संसार में भ्रम अर्थात् धोखे का अभाव कहाँ ?

वेदान्ती लोग जगत् को मिथ्या भ्रम समझते हैं। यहाँ तक कि एक महात्मा ने किसी जिज्ञासु को भली-भाँति समझा दिया था कि विश्व में जो कुछ है और जो कुछ होता है, सब

भ्रम है। किन्तु यह समझाने के कुछ ही दिन उपरान्त उनके किसी प्रिय व्यक्ति का प्राणान्त हो गया, जिसके शोक में वह फूट-फूटकर रोने लगे। इस पर शिष्य ने आश्चर्य में जाकर पूछा कि आप सब बातों को भ्रमात्मक मानते हैं, फिर जान बूझकर रोते क्यों हैं? इसके उत्तर में उन्होंने कहा कि रोना भी भ्रम ही है। सच है! भ्रमोत्पादक भ्रम-स्वरूप भगवान् के बनाये हुये भव (संसार) में जो कुछ है भ्रम ही है। जब तक भ्रम है तभी तक संसार है। वरञ्च संसार का स्वामी भी तभी तक है, फिर कुछ भी नहीं। और कौन जाने, हो तो हमें उससे कोई काम नही! परमेश्वर सबका भरम बनाये रक्खें, इसी में सब कुछ है! जहाँ भरम खुल गया कि लाख की भलमंसी खाक में मिल जाती है। जो लोग पूरे ब्रह्मज्ञानी बनकर संसार को सचमुच माया की कल्पना मान बैठते हैं वे अपनी भ्रमात्मक बुद्धि में चाहे अपने तुच्छ जीवन को साक्षात् सर्वेश्वर मानकर सर्वथा सुखी हो जाने का धोखा खाया करें; पर संसार के किसी काम के नही रह जाते हैं वरञ्च निरे अकर्त्ता; अभोक्ता बनने की उमंग में अकर्मण्य और 'नारि' नारि सब एक हैं' इत्यादि सिद्धान्तों के मारे अपना तथा दूसरों का जो अनिष्ट न कर बैठें, वही थोड़ा है। क्योंकि लोक और परलोक का मज़ा भी धोखे ही में पड़े रहने से प्राप्त होता है। बहुत ज्ञान छाँटना सत्यानाशी की जड़ है! ज्ञान की दृष्टि से देखें तो आपका शरीर मल-मूत्र, मांस, मज्जादि घृणास्पद पदार्थों

का विकार-मात्र है; पर हम उसे प्रीति का पात्र समझते हैं, और दर्शन-स्पर्शनादि से आनन्द लाभ करते हैं।

हमको वास्तव में इतनी जानकारी भी नही है कि हमारे सिर में कितने वाल हैं वा एक मिट्टी के गोले का सिरा कहाँ पर है, किन्तु आप हमें वड़ा भारी विज्ञ और सुलेखक समझते हैं तथा हमारी लेखनी या जिह्वा की कारीगरी देख-देखकर सुख प्राप्त करते हैं। विचारकर देखिये, तो धन-जन इत्यादि पर किसी का कोई स्वत्व नहीं है। इस क्षण वे हमारे काम आ रहे हैं, क्षण ही भर के उपरान्त न जाने किसके हाथ में वा किस दशा में पड़के हमारे पक्ष में कैसे हो जायँ और मान भी लें कि इनका वियोग कभी न होगा तो भी हमें क्या? आख़िर एक दिन मरना है, और 'मूँदि गईं आँखें तव लाखें केहि काम की'। पर यदि हम ऐसा समझकर सवसे सम्वन्ध तोड़ दें तो सारी पूँजी गँवाकर निरे मूर्ख कहलावें, स्त्री-पुत्रादि का प्रवन्ध न करके उनका जीवन नष्ट करने का पाप मुड़ियावें। 'ना हम काहू के कोऊ ना हमारो' का उदाहरण वनके सव प्रकार के सुख-सुविधा सुयश से वञ्चित रह जावें! इतना ही नही वरञ्च और भी सोचकर देखिये तो किसी को कुछ भी ख़वर नहीं है कि मरने के पीछे जीव की क्या दशा होगी!

वहुतेरों का सिद्धान्त यह भी है कि दशा किसकी होगी, जीव तो कोई पदार्थ ही नहीं है। घड़ी के जंव तक सव पुरज़े

दुरुस्त हैं और ठीक ठीक लगे हुये हैं तभी तक उसमें खट-खट, टन-टन, आवाज़ आ रही है। जहाँ उसके पुरज़ों का लगाव बिगड़ा, वहीं न उसकी गति है, न शब्द है। ऐसे शरीर का क्रम तभी तक ठीक-ठीक बना हुआ है जब तक मुख से शब्द और मन से भाव तथा इन्द्रियों से कर्म का प्राकट्य होता है; जहाँ इस क्रम में व्यतिक्रम हुआ, वहीं सब खेल बिगड़ गया। बस फिर कुछ नहीं कैसा जीव ! कैसी आत्मा ! एक रीति से यह कहना झूठ भी नहीं जान पड़ता क्योंकि जिसके अस्तित्व का कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है, उसके विषय में अन्ततोगत्वा यों ही कहा जा सकता है ! इसी प्रकार स्वर्ग-नरकादि के सुख-दुःखादि का होना भी नास्तिकों ही के मत से नहीं, किन्तु बड़े बड़े आस्तिकों के सिद्धान्त से भी 'अविदित सुख-दुःख निर्विशेष स्वरूप' के अतिरिक्त कुछ समझ में नहीं आता।

स्कूल में हमने भी सारा भूगोल और खगोल पढ़ डाला है पर नरक और वैकुण्ठ का पता नहीं पाया। किन्तु भय और लालच को छोड़ दें तो बुरे कामों से घृणा और सत्कर्मों से रुचि न रखकर भी तो अपना अथवा पराया अनिष्ट ही करेंगे। ऐसी-ऐसी बातें सोचने से गोस्वामी तुलसीदास जी का 'गो गोचर जहँ लगि मन जाई, सो सब माया जानेहु भाई,' और श्री सूरदास जी का 'माया मोहनी मन हरन' प्रत्यक्षतया सच्चा जान पड़ता है। फिर हम नहीं जानते कि धोखे को

लोग क्यों बुरा समझते हैं ? धोखा खानेवाला मूर्ख और धोखा देने वाला ठग क्यों कहलाता है ? जब सब कुछ धोखा ही धोखा है और धोखे से अलग रहना ईश्वर की भी सामर्थ्य से दूर है, तथा धोखे ही के कारण संसार का चर्खा पिन्न-पिन्न चला जाता है, नहीं तो ढिच्चर-ढिच्चर होने लगे, वरञ्च रही न जाय तो फिर इस शब्द का स्मरण वा श्रवण करते ही आपकी नाक-भौंह क्यों सिकुड़ जाती हैं ? इसके उत्तर में हम तो यही कहेंगे कि साधारणतः जो धोखा खाता है वह अपना कुछ न कुछ गँवा बैठता है, और जो धोखा देता है उसकी एक न एक दिन कलई खुले बिना नहीं रहती, और हानि सहना वा प्रतिष्ठा खोना दोनों बातें बुरी हैं, जो बहुधा इसके सम्बन्ध में हो जाया करती हैं।

इसी से साधारण श्रेणी के लोग धोखे को अच्छा नहीं समझते, यद्यपि उससे बच नहीं सकते, क्योंकि जैसे काजल की कोठरी में रहने वाला बेदाग़ नहीं रह सकता वैसे ही भ्रमात्मक भव-सागर में रहने वाले अल्प-सामर्थ्य जीव का भ्रम से सर्वथा बचा रहना असम्भव है, और जो जिससे बच नहीं सकता उसका उसकी निन्दा करना नीति विरुद्ध है। पर क्या कीजिये ! कच्ची खोपड़ी के मनुष्य को प्राचीन प्राज्ञगण अल्पज्ञ कह गये हैं जिसका लक्षण ही है कि 'आगा-पीछा सोचे बिना जो मुँह पर आवे कह डालना और जो जी में समावे कर उठाना;' नहीं तो कोई काम वा वस्तु वास्तव

में भली अथवा बुरी नहीं होती; केवल उसके व्यवहार का नियम बनने-बिगड़ने से बनाव-बिगाड़ हो जाया करता है।

परोपकार को कोई बुरा नहीं कह सकता, पर किसी को सब कुछ उठा दीजिये, तो क्या भीख माँग के प्रतिष्ठा, अथवा चोरी करके धर्म, खोइयेगा वा भूखों मरके आत्म हत्या के पाप-भागी होइयेगा! यों ही किसी को सताना अच्छा नही कहा जाता है, पर यदि कोई संसार का अनिष्ट करता हो उसे राजा से दण्ड दिलवाइये वा आप ही उसका दमन कर दीजिये, तो अनेक लोगों के हित का पुण्य लाभ होगा।

घी बड़ा पुष्टिकारक होता है, पर दो सेर पी लीजिये तो उठने-बैठने की शक्ति न रहेगी, और संखिया-सीगिया आदि प्रत्यक्ष विष हैं, किन्तु उचित रीति से शोधकर सेवन कीजिये, तो बहुत से रोग-दोख दूर हो जायँगे। यही लेखा धोखे का भी है। दो-एक बार धोखा खाके धोखेबाज़ों की हिकमतें सीख लो, और कुछ अपनी ओर से झपकी-फुँदनी जोड़कर 'उसी की जूती उसी का सिर' कर दिखाओ तो बड़े भारी अनुभवशाली वरञ्च 'गुरु गुड़ ही रहा, चेला शक्कर हो गया' का जीवित उदाहरण कहलाओगे। यदि इतना न हो सके तो उसे पास न फटकने दो तोभी भविष्य के लिए हानि और कष्ट से बच जाओगे।

योंही किसी को धोखा देना हो तो इस रीति से दो, कि तुम्हारी चालबाज़ी कोई भाँप न सके, और तुम्हारा बलि-

पशु यदि किसी कारण से तुम्हारे हथ कण्डे ताड़ भी जाय, तो किसी से प्रकाशित करने के काम का न रहे। फिर बस, अपनी चतुरता के मधुर फल को मूर्खों के आँसू तथा गुरु-घंटालों के धन्यवाद की वर्षा के जल से धो और स्वादपूर्वक खा : इन दोनों रीतियों से धोखा बुरा नहीं है। अगले लोग कह गये हैं कि आदमी कुछ खाके सीखता है, अर्थात् धोखा खाये बिना अक्लि नहीं आती, और बेईमानी तथा नीति-कुशलता में इतना ही भेद है कि ज़ाहिर हो जाय तो बेईमानी कहलाती है, और छिपी रहे तो बुद्धिमानी है।

हमें आशा है कि इतना लिखने से आप धोखे का तत्त्व—यदि निरे खेत के धोखे न हों, मनुष्य हों तो—समझ गये होंगे। पर अपनी ओर से इतना और समझा देना भी हम उचित समझते हैं कि धोखा खाके धोखेबाज़ का पहिचानना साधारण समझवालों का काम है। इससे जो लोग अपनी भाषा, भोजन, वेष, भाव और भ्रातृत्व को छोड़कर आपसे भी छुड़वाया चाहते हों, उनको समझे रहिये कि स्वयं धोखा खाये हुए हैं, और दूसरों को धोखा दिया चाहते हैं। इससे ऐसों से बचना परम कर्त्तव्य है, और जो पुरुष एवं पदार्थ अपने न हों वे देखने में चाहे जैसे सुशील और सुन्दर हों पर विश्वास के पात्र नहीं हैं, उनसे धोखा हो जाना असम्भव नहीं है। बस, इतना

स्मरण रखियेगा तो धोखे से उत्पन्न होनेवाली विपत्तियों से बचे रहियेगा; नहीं तो हमें क्या, अपनी कुमति का फल अपने ही आँसुओं से धो और खा; क्योंकि जो हिन्दू होकर ब्रह्म-वाक्य नहीं मानता व धोखा खाता है।

आत्मनिर्भरता

[बालकृष्ण भट्ट]

आत्मनिर्भरता (अपने भरोसे पर रहना) ऐसा श्रेष्ठ गुण है कि जिसके न होने से पुरुष में पौरुषेयत्व का अभाव कहना अनुचित नहीं मालूम होता। जिनको अपने भरोसे का बल है, वे जहाँ होंगे, जल में तूँबी के समान सबके ऊपर रहेंगे। ऐसों ही के चरित्र पर लक्ष्य कर महाकवि भारवि ने कहा है कि तेज और प्रताप से संसार भर को अपने नीचे करते हुए ऊँची उमंगवाले दूसरे के द्वारा अपना वैभव नहीं बढ़ाना चाहते। शारीरिक बल, चतुरंगिणी सेना का बल, प्रभुता का बल, ऊँचे कुल में पैदा होने का बल, मित्रता का बल, मंत्र-तंत्र का बल इत्यादि जितने बल हैं, निज-बाहु-बल के आगे सब क्षीण बल हैं, वरन् आत्मनिर्भरता की बुनियाद यानी यह बाहु-बल सब तरह के बल को सहारा देनेवाला और उभारनेवाला है।

योरप के देशों की जो इतनी उन्नति है, तथा अमेरिका, जापान आदि जो इस समय मनुष्य-जाति के सिरताज हो रहे हैं, इसका यही कारण है कि उन देशों में लोग अपने भरोसे पर रहना या कोई काम करना अच्छी तरह जानते हैं। हिंदुस्तान का जो सत्यानाश है, इसका यही कारण है कि यहाँ के लोग अपने भरोसे पर रहना भूल ही गये। इसी से सेवकाई करना यहाँ के लोगों से जैसी खूबसूरती के साथ बन पड़ता है, वैसा स्वामित्व नहीं। अपने भरोसे पर रहना जब हमारा गुण नहीं, तब क्योंकर संभव है कि हमारे में प्रभुत्व शक्ति को अवकाश मिले ?

निरी क़िस्मत और भाग्य पर वे ही लोग रहते हैं, जो आलसी हैं। किसी ने अच्छा कहा है—

"दैव-दैव आलसी पुकारा"।

ईश्वर भी सानुकूल और सहायक उन्हीं का होता है, जो अपनी सहायता अपने आप कर सकते हैं। अपने आप अपनी सहायता करने की वासना आदमी में सच्ची तरक्की की बुनियाद है। अनेक सुप्रसिद्ध सत्पुरुषों की जीवनियाँ इसके उदाहरण तो हैं ही, वरन् प्रत्येक देश या जाति के लोगों में बल और ओज तथा गौरव और महत्त्व के आने का आत्मनिर्भरता सच्चा द्वार है। बहुधा देखने में आता है कि किसी काम के करने में बाहरी सहायता इतना लाभ नहीं पहुँचा सकती, जितनी आत्मनिर्भरता।

समाज के बंधन में भी देखिये, तो बहुत तरह के संशोधन सरकारी क़ानूनों के द्वारा वैसे नहीं हो सकते, जैसे समाज के एक-एक मनुष्य के अलग-अलग अपने संशोधन अपने आप करने से हो सकते है।

कड़े-से-कड़े नियम आलसी समाज को परिश्रमी, अपव्ययी को परिमित व्यय-शील, शराबी को संयमी, क्रोधी को शांत या सहन-शील, सूम को उदार, लोभी को संतोषी, मूर्ख को विद्वान्, दर्पांध को नम्र, दुराचारी को सदाचारी, कदर्य को उन्नतमना, दरिद्र भिखारी को आढ्य, भीरु-डरपोक को वीर-धुरीण, झूठे गपोड़िये को सच्चा, चोर को सहनशील, व्यभिचारी को एक-पत्नी-व्रतधारी इत्यादि नही बना सकता; किंतु ये सब बातें हम अपने ही प्रयत्न और चेष्टा से अपने में ला सकते हैं।

सच पूछो, तो जाति भी सुधरे हुए ऐसे ही एक-एक व्यक्ति की समष्टि है। समाज या जाति का एक-एक आदमी यदि अलग-अलग अपने को सुधारे, तो जाति-की-जाति या समाज-का-समाज सुधर जाय।

सभ्यता और है क्या? यही कि सभ्य जाति के एक-एक मनुष्य आबाल, वृद्ध, वनिता सबों में सभ्यता के सब लक्षण पाये जायँ। जिसमें आधे या तिहाई सभ्य हैं, वही जाति अर्द्ध-शिक्षित कहलाती है। जातीय उन्नति भी अलग-अलग एक-एक आदमी के परिश्रम, योग्यता-सुचाल और सौजन्य का मानो

जोड़ है। उसी तरह जाति की अवनति, जाति के एक-एक आदमी की सुस्ती, कमीनापन, नीची प्रकृति, स्वार्थ-परता और भाँति-भाँति की बुराइयों का बड़ा जोड़ है। इन्हीं गुणों और अवगुणों को जाति-धर्म के नाम से भी पुकारते हैं, जैसे सिक्खों में वीरता और जंगली असभ्य जातियों में लुटेरापन।

जातीय गुणों या अवगुणों को सरकारी क़ानून के द्वारा रोक या जड़-पेड़ से नष्ट-भ्रष्ट नहीं कर सकते, वे किसी दूसरी शक्ल में न सिर्फ़ फिर से उभड़ आवेंगे वरन् पहले से .ज्यादा तरोताज़गी और हरियाली की हालत में हो जायँगे। जब तक किसी जाति के हर एक व्यक्ति के चरित्र में आदि से मौलिक सुधार न किया जाय, तब तक पहले दर्जे का देशानुराग और सर्व-साधारण के हित की वांछा सिर्फ़ क़ानून के अदलने-बदलने से, या नये क़ानून के जारी करने से, नहीं पैदा हो सकती।

ज़ालिम-से ज़ालिम बादशाह की हुकूमत में रहकर कोई जाति गुलाम नहीं कही जा सकती, वरन् गुलाम वही जाति है, जिसमें एक-एक व्यक्ति सब भाँति कदर्य, स्वार्थ-परायण और जातीयता के भाव से रहित है। ऐसी जाति, जिसकी नस नस में दास्य-भाव समाया हुआ है, कभी उन्नति नहीं करेगी, चाहे कैसे ही उदार शासन से वह शासित क्यों न की जाय। तो निश्चय हुआ कि देश की स्वतंत्रता की गहरी

और मज़बूत नींव उस देश के एक-एक आदमी के आत्म-निर्भरता आदि गुणों पर स्थित है।

ऊँचे-से-ऊँचे दर्जे की शिक्षा बिलकुल बेफ़ायदा है, यदि हम अपने ही सहारे अपनी भलाई न कर सकें। जॉन स्टुअर्ट मिल का सिद्धान्त है कि—"राजा का भयानक-से-भयानक अत्याचार देश पर कभी कोई बुरा असर नहीं पैदा कर सकता, जब तक उस देश के एक-एक व्यक्ति में अपने सुधार की अटल वासना दृढ़ता के साथ बद्ध-मूल है।"

पुराने लोगों से जो चूक और ग़लती बन पड़ी है उसी का परिणाम वर्तमान समय में हम लोग भुगत रहे हैं। उसी को चाहे जिस नाम से पुकारिये यथा जातीयता का भाव जाता रहा, एका नहीं है, आपस की सहानुभूति नहीं है इत्यादि। तब पुराने क्रम को अच्छा मानना और उस पर श्रद्धा जमाये रखना हम क्योंकर अपने लिए उपकारी और उत्तम मानें। हम तो इसे निरी चंडूख़ाने की गप समझते हैं कि हमारा धर्म हमें आगे नहीं बढ़ने देता, अथवा विदेशी राज से शासित हैं इसी से हम उन्नति नहीं कर सकते।

वास्तव में सच पूछो तो आत्मनिर्भरता अर्थात् अपनी सहायता अपने आप करने का भाव हमारे बीच है ही नहीं। यह सब हमारी वर्तमान दुर्गति उसी का परिणाम है, बुद्धिमानों का अनुभव हमें यही कहता है कि मनुष्य में पूर्णता विद्या से नहीं वरन् काम से होती है। प्रसिद्ध पुरुषों

की जीवनियों के पढ़ने ही से नहीं, वरन् उन प्रसिद्ध पुरुषार्थी पुरुषों के चरित्रों का अनुकरण करने से मनुष्य में पूर्णता आती है।

योरप की सभ्यता, जो आज-कल हमारे लिए प्रत्येक उन्नति की बातों में उदाहरण स्वरूप मानी जाती है, एक दिन या एक आदमी के काम का परिणाम नहीं है। जब कई पीढ़ी तक देश-का-देश ऊँचे काम, ऊँचे विचार और ऊँची वासनाओं की ओर प्रबल-चित्त रहा, तब वे इस अवस्था को पहुँचे हैं। वहाँ के हर एक संप्रदाय, जाति या वर्ण के लोग धैर्य के साथ धुन बाँध के बराबर अपनी-अपनी उन्नति में लगे हैं। नीचे-से-नीचे दर्जे के मनुष्य—किसान, कुली, कारीगर आदि—और ऊँचे-से-ऊँचे दर्जे वाले—कवि, दार्शनिक, राजनीतिज्ञ सबों ने मिलकर जातीय उन्नति को इस सीमा तक पहुँचाया है। एक ने एक बात को आरंभ कर उसका ढाँचा खड़ा कर दिया, दूसरे ने उसी ढाँचे पर आरूढ़ रहकर एक दर्जा बढ़ाया, इसी तरह क्रम-क्रम से कई पीढ़ी के उपरांत वह बात, जिसका केवल ढाँचा-मात्र पड़ा था, पूर्णता और सिद्धि की अवस्था तक पहुँच गई।

ये अनेक शिल्प और विज्ञान, जिनकी दुनिया-भर में धूम—मची है, इसी तरह शुरू किये गये थे और ढाँचा . पूर्व पुरुष अपनी भाग्यवान् भावी संतान को उस

श्यामा की राम-कहानी

[ठाकुर जगमोहन सिंह]

पुराने टूटे फूटे दिवाले इस ग्राम (श्यामापुर) के (?) प्राचीनता के साक्षी हैं। ग्राम के सीमांत के झाड़ जहाँ झुंड के झुंड कौवे और वकुले वसेरा लेते हैं गवँई की शोभा वताते हैं। प्यौ फटने और गोधूली के समय गैयों के खिरके की शोभा जिनके खुरों से उड़ी धूल ऐसी गलियों में छा जाती है मानो कुहिरा गिरता हो, यह भी ग्राम में एक अच्छा समय होता है।

यहाँ के कोविद भरथरी—गोपिचन्द्र—भोज—विक्रम—(जिसे 'विकरमाजीत' कहते हैं) लोरिक और चदैनी—मीरावाई—आल्हा—ढोलामारू—हरदौल इत्यादिकों की कथा के रसिक हैं। ये विचारे सीधे-साधे वुड्ढे जाड़े के दिनों में किसी गरम कौड़े के चारों ओर प्याँर विछा-विछा के अपने परिजनों के साथ युवती और वृद्धा, वालक और वालिका,

युवा और वृद्ध सब के सब बैठ कथा कह-कह कर दिन बिताते हैं।

कोई पढ़ा-लिखा पुरुष रामायण और व्रजविलास की पोथी बाँच कर, टेढ़ा-मेढ़ा अर्थ कह, सभों में चतुर बन जाता है। ठीक है—"निरस्त-पादपे देशे एरण्डोऽपि द्रुमायते।"*

कोई लड़ाई का हाल कहते कहते बेहाल हो जाता है, कोई किसी प्रेम-कहानी को सुन किसी के (?) प्रबल वेदना को अनुभव कर आँसू भर लेता है, कोई इन्हें मूर्ख ही समझ कर हँस देता है। अहिर-अहीरिनों से प्रश्नोत्तर सोल्हो में हुआ करते हैं।

धानों के खेत, जो गरीबों के धन हैं, इस ग्राम की शोभा बढ़ाते हैं। मेरा इसी ग्राम का जन्म है। मेरे पिता का वंश और गोत्र दोनों प्रशंसनीय हैं। मेरे पुरखा प्रथम तो ब्रह्मावर्त्त से उत्कल देश में जा बसे थे। वहाँ विचारे भले भले आदमियों का संग करते करते कुछ काल के अनन्तर उत्कल देश को छोड़ राजदुर्ग नामक नगर में जा बसे। उत्कल देश का जलवायु अच्छा न होने के कारण वह देश तजना पड़ा। ऋषिवंश के अवतंस हमारे प्रपितामहादिक पूजापाठ में अपने दिन बिताते रहे। कई वर्षों के अनन्तर दुर्भिक्ष पड़ा और पशु, पक्षी, मनुष्य इत्यादि सब व्याकुल होकर उदर-पोषण की चिंता में लग गये। उन लोगों की कोई जीविका तो रही नहीं

*जिस देश में पेड़ नहीं हैं, वहाँ एरण्ड ही पेड़ माना जाता है।

और रही भी तो अब स्मृति पर भ्राँति का जलद पटल छा जाने के हेतु सब काल ने विस्मरण कर दिया। नदी-नारे सूख गये। जनेऊ-सी सूक्ष्म धार बड़े बड़े नदों की हो गई। मही, जो एक समय तृणों से संकुल थी, बिल्कुल उससे रहित हो गई। सावन के मेघ भयानक शरत्-कालीन जलदों की भाँति हो गये। प्यासी धरनी को देख पयोदों को तनिक दया न आई, पपीहा के पी-पी रटने पर भी पयोद न पसीजा और न उसके चंचु-पुट में एक बुन्द निचोया। इस धरनी के भूखे लोग क्षुधा से क्षुधित होकर व्याकुल घूमने लगे। गैयों की कौन दशा कहे ये तो पशु हैं। खेत सूखे-साखे रोड़ामय दिखने लगे। शालि के अंकुर तक न हुये। किसानों ने घर की पूँजी भी गवाँ दी। बीज बोकर उसका एक अंश भी न पाया। "यह कलियुग नहीं, करजुग है, इस हाथ ले उस हाथ दे"—इस कहावत को भी झूठी कर दिया अर्थात् कृषि लोगों ने कितना ही पृथ्वी को बीज दिया पर उसने कुछ भी न दिया। छोटे-छोटे बालकों को उनकी माता थोड़े-थोड़े धान्य के पलटे बेचने लगी। माता-पुत्र और पिता-पुत्र का प्रेम जाता रहा। बड़े-बड़े धनाढ्य लोगों की स्त्रियाँ, जिनके पवित्र घूँघट कभी बेमर्यादा किसी के सम्मुख नहीं उघरे और जिन्हें आर्यावर्त की सुचाल ने अभी तक घर के भीतर रक्खा था, अपने पुत्रों के साथ बाहर निकल पथिकों के सामने रो-रो, आँचर पसार पसार एक मुठी दाने के लिए करुणा करने लगी। जब संसार

की ऐसी गति थी तो हमारे पूर्व पुरुषों की कौन गति रही होगी ईश्वर जानै। मैं न जाने किस योनि में तब तक थी। जब वे लोग राज-दुर्ग में आये, किसी भाँति अपना निर्वाह करने लगे। ब्राह्मण की सीधी-साधी वृत्ति से जीविका चलती थी। किसी को विवाह का मुहूर्त्त धरा—कहीं सत्यनारायण कहा—कहीं रुद्राभिषेक कराया—कहीं पिंड-दान दिलाया और कहीं पोथी-पुरान कहा। द्वादशी का सीधा लेते दिन बीते। इसी प्रकार जीविका कुछ दिन चली। मेरे पितामह वंश के हंस थे। उनका नाम अवधेश था। उनके दो विवाह हुये। उनकी दोनों पत्नी, अर्थात् मेरी पितामही, बड़ी कुलीना थी। एक का नाम कौशल्या और दूसरी का अहल्या था। अवधेशजी को कौशल्या से एक पुत्र हुआ। उसका सब शिष्टों ने मिल कर इष्ट साध वसिष्ठ सा वलिष्ठ नाम धरा। ये मेरे पूज्यपाद परमोदार परम सौजन्य सागर, सब गुनों के आगर, जनक थे। कुछ काल बीतने पर कौशल्या सुरपुर सिधारी। उस समय मेरे पिता कुछ बहुत बड़े नहीं थे। शोकसागर में डूबे। पर दैव से किसका बल चल सकता है? थोड़े ही दिनों के उपरान्त भगवान् चक्रधर की दया से अहल्या को एक बालक और बालिका हुई। बालक का नाम नारद और बाला का गोमती पड़ा। यह वही गोमती मेरे पीछे बैठी है। इस अभागिन की कुंडली में ऐसे बाल वैधव्य जोग पड़े थे कि यह बिचारी अपना सोहाग खो बैठी। इसकी कथा कहाँ

तक कहूँगी? अभागिनियों की भी कहानी कभी सुहावनी हुई है? मेरे पिता जब युवा हुये, अवधेशजी ने राव-चाव से उनका विवाह शारंगपाणि की बेटी मुरला से कराया। शारंगपाणि का कुल इस देश के ब्राह्मणों में विदित है। 'यथा नाम तथा गुणाः' अतएव उनका कुछ बहुत विवरण नहीं किया। कुछ काल बीते मेरी माता गर्भवती हुई। इस समय मेरे पितामह काल कर चुके थे। अपने नाती पन्ती का सुख न देख सके। अहल्या भी अनेक तीर्थों का सलिल-बुन्द पान करती, अपने तन को अनित्य जान, तीर्थाटन में लग गई थी। इसलिए इस समय घर में न थी। नौ मास के उपरान्त दश मास में मेरे पिता के एक कन्या हुई। इसे लोग साक्षात् रमा का रूप कहते थे। यह जेठी कन्या थी। उसके अनन्तर एक कन्या और हुई, उसका नाम सत्यवती पड़ा। फिर कई वर्षों में भगवान् ने एक सुत का चन्द्रमुख दिखाया, सब भवन में उजेला छा गया। गाजे-बाजे बजने लगे। जो कुछ बन पड़ा दान पुन्य भिखारी और जाचकों को दिया। पुन्नाम नरक के तारने वाले बालक ने मेरी माता की कोख उजागर की। पर हाय "मेटन हितु सामर्थ को लिखे भाल के अंक"—विधाता से यह न सहा गया। सुख के पीछे दुःख दिखाया—अर्थात् कुटिल काल ने इसे कवल कर लिया।

"धिक धिक काल कुटिल जड़ करनी।
तुअ अनीति जग जात न बरनी।"

माता बिचारी डाह मार मार कर रोने लगी। घर में छोटे बड़े और टोला परोसियों के उत्साह भंग हो गये। जितने लोग पहले सुखी हुये थे उस्से अधिक दुःखी हुये। आँसुओं से सब घर भर गया। पिता हमारे ज्ञानी थे; आप भी ढाढ़स कर सबों को जेठे की भाँति प्रबोध किया और बालक का मृतक कर्म करने लगे। काल ऐसा है कि दुस्तर दुःख के घावों को भी पुरा देता है। जो आज था सो कल न रहा, कल था परसों न रहा। इस भाँति फिर सब भूल गये। पर पुत्र-शोक अति कठिन होता है। पिता के सदैव इसका काँटा छाती में समा गया। कभी सुखी न रहे। इस दारुण विपत्ति को स्मरण कर फिर भी सजल नैनों से हमारी माता की दशा देख विलाप करने लगते। फिर गिरस्ती में लोग लगे। कुछ काल के अनंतर उन्हें एक कन्या और हुई। इसका नाम पत्रिका के अनुसार सुशीला पड़ा, सो हे भद्र! देखो यही सत्यवती और सुशीला मेरी दोनों भगिनी सहोदरी हैं और मुझ अभागिन का नाम श्यामा है।

इतना कह चुप हो रही। इस नाम के सुनते ही मेरा करेजा कँप उठा और संज्ञा जाती रही। "हाय हाय" कहता भूमि पर गिर पड़ा और स्वप्न तरंग में डूब गया।

[श्यामा स्वप्न]

स्वर्ग-सभा में नारद जी

[पं० अम्बिकादत्त व्यास]

ब्रह्माजी का संकेत पा श्रीनारदजी उठे और एक बेर दृष्टि फैला सब की ओर ताके। सब सभासद लोग भी उनकी रेशम-सी छटकी पीली जटा, नाभि तक फैली धुनी हुई नई कपास-सी डाढ़ी, सुवर्ण ऐसा गौर दुर्बल अंग, खड़ाउओं के पास तक लटकता हुआ चमचमाता रेशमी वस्त्र, "हरे राम हरे कृष्ण" इन पवित्र भगवन्नामों से अंकित उत्तरीय, ललाट, बाहु, कंठ और हृदय पर लगे शंख चक्रादि चिह्न सहित ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक, वक्षःस्थल तक लटकती तुलसी औ कमलाक्ष मालाओं की लड़ी और सुर औ ताल की काबड़ ऐसी बीन देखते, महाभागवत श्रीनारदजी को देख भगवत्स्मरण के आनन्द में डूबे एक टक देखते ही रह गये।

तब नारदजी ने सब की एकाग्रता से प्रसन्न हो वीणा की ओर दृष्टि फेरी और उसे यथोचित रीत से धारण कर बायें

हाथ की तर्जनी मध्यमा से उसके प्रधान तार को मंद-स्वर के षड्ज पर दबा दहिने हाथ की तर्जनी से झनत्कार कर बजाया, और दहिने बायें हाथ की और अंगुलियों से और भी अनेक ऊँचे नीचे स्वरों में मिले तार झनकारे, वह करोड़ों प्रणवों का-सा मधुर नाद हुआ कि मानो उसने सभा पर वशीकरण मंत्र मार दिया। इतने में उसी स्वर को फिर धीरे धीरे झनकारते उसमें मिल नारदजी ने "हरे कृष्ण नारायण" इस मधुर शब्द का उच्चारण किया। कहाँ तो यह अमृत के रस को भी तुच्छ करता हुआ स्वयं मधुरतम भगवन्नाम कि चंडाल के मुख से निकले तो भी आनंद-कंद ही का अनुभव कराये और तिस पर भागवतों के शिरोधार्य श्रीनारदजी के मुख से निकला, तिस पर भी ऐसे समय कि जब वीणा-रणन सुन पहिले ही से सब एकाग्र हो रहे हैं! बस, क्या जाने क्या हुआ कि ज्यों इस नाम की ध्वनि धीरे धीरे तरंगित होती गगन-तल में फैली कि सब का शरीर अचानक रोमांचित हो गया और कुछे कुछ स्वेद और कंप और परवशता सब के अङ्गों में समा गई और ज्यों के त्यों सिंहासन पर लटके चित्र के-से लिखे हो गये, तब श्रीनारद जी ने थोड़ी देर तक हरि-नाम ही का मंगल-गान किया और संग संग वीणा-वादन किया। फिर सब के समाधिस्थ-से हो जाने पर नारदजी भी बड़े कष्ट से उस हरि-नाम गान से

विश्राम कर उसी श्याममूर्त्ति को हृदय में धारण किये हुये बोले कि—

"सभ्यगण ! आप लोगों ने जो कहा सो सब यथार्थ ही है। पर मैं बराबर ही घूमता ही रहता हूँ, इस कारण मैं समझता हूँ कि मै भारतवर्षियों की अवस्था विशेष यथार्थ रूप से जानता हूँ। उन लोगों की क्या दशा है सो संक्षेप से कहता हूँ, सुनिये—आदि वर्ण ब्राह्मण हैं, सो पहिले इन्हीं से आरम्भ कीजिये। कहाँ तो महाराज युधिष्ठिर का भी एक समय था कि साक्षात् धर्मस्वरूप महाराजाधिराज युधिष्ठिर ऐसे महाराज जिस समय धर्मराज्य करते थे और श्रीकृष्ण और बलभद्र के ध्वज वज्रांकुश वाले चरण-चिह्नों से पृथ्वी शोभित थी, उस समय महाराज युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ किया और अच्छे अच्छे प्रतिष्ठित विद्वान् ब्राह्मणों को निमन्त्रण किया, परन्तु उन लोगों ने साफ़ जवाब दिया कि हम राजधान्य ग्रहण नहीं करेंगे, क्योंकि "राज्यान्ते नरकं व्रजेत्" जहाँ कोई मारा जाता है, कोई उजाड़ा जाता है, कोई लूटा जाता है, उस राज्य का धान्य हम नही खाते। जिस संपत्ति के आश्रय से पहिले दुर्योधनादि सहस्रों पाप कर चुके हैं और फिर युधिष्ठिर ने अठारह अक्षौहिणियों की रुधिर नदी बहा दी, उस हत्यारी संपत्ति का अन्न हम नहीं खाते। यह साफ़ फटकार सुन युधिष्ठिरजी श्रीकृष्णजी के समीप जा प्रणाम कर, आँखों में आँसू भर, बैठे और लगे रोने। तब

श्रीकृष्णजी ने कहा कि कहो युधिष्ठिर ! राज्य पा चुके ! राजसूय कर रहे हो ! हज़ारों लाखों वीर हाथ जोड़े तुम्हारे सामने खड़े रहते हैं, जिधर कुछ भी भौंह टेढ़ी करते हो उधर के वृक्ष और पहाड़ तक काँप उठते हैं, फिर उदास क्यों ? आश्चर्य है कि जब तुम जंगल में रहते थे और धूल में सोते थे, चीर वस्त्र धारण करते थे, जंगली जंतुओं के कोलाहल सुन जागते थे और हरिण भालुओं को देख-देख दिन बिताते थे उसी समय हम सदा तुम्हारा मुख-मंडल प्रसन्न देखते थे और तुम्हारे मुख पर अपूर्व तेज झलकता था परन्तु जब से तुम चक्रवर्ती के सिंहासन पर, उस मोतियों की झालरवाले श्वेत छत्र की छाया में, बैठे हो, तब से तुम को सदा उदास ही उदास देखते हैं, सो कहो तो इसका क्या कारण है और इस समय क्या दुर्घटना भई है कि तुम्हारी आँखों से आँसू टपटपा रहे हैं। यह सुन युधिष्ठिर से नहीं रहा गया और एक बेर मुक्त-कंठ से रोने लगे। फिर बहुत समझाने-बुझाने पर आँसू पोंछ, उदासी से भर, बोले कि प्रभो ! इससे बढ़ कर क्या तिरस्कार होगा कि मैं निमंत्रण देता हूँ, पर ब्राह्मण लोग मेरे यहाँ का अन्न ग्रहण करना स्वीकार नहीं करते ! मेरा अन्न इतना अपवित्र समझा गया और मैं इतना तुच्छ समझा गया, मुझे यही दुःख है !!

यह सुन ऊँची साँस ले श्रीकृष्णजी ठठक गये। उनके भी नेत्रों से आँसुओं की धारा ढलक पड़ी। तब युधिष्ठिर ने हाथ

जोड़ पूछा कि, प्रभो! आप क्यों इतने दुःखित हो गये? धिक्कार मेरे ऐसे पापी को, कि बार बार आपको कष्ट ही देता रहता हूँ! तब श्रीकृष्णजी ने कहा कि युधिष्ठिर! हमको यही शोक होता है कि इस समय तुम्हारे ऐसा तो धार्मिक महाराजा मिला है, भविष्य काल में कलियुग में ऐसा कदापि नहीं होगा और तिस पर भी यज्ञ का पवित्र अन्न, परन्तु भोजन करने में ब्राह्मणों को इतना आगा-पीछा होता है! पर आगे ऐसा घोर समय चला आता है कि राजा तो क्या, जहाँ तहाँ आचार-रहित वैश्य तथा शूद्रों के यहाँ भी बिना बुलाये ब्राह्मण लोग गिरैंगे। और आज तुम्हारे हाथ जोड़ने पर भी तुम्हारे यहाँ अपनी जूठन नहीं गिराना चाहते। वे एक दिन शूद्रों के यहाँ किवाड़ और फाटक बन्द रहने पर भी डंडों की मार सहते भी भीड़ की भीड़ से गिरैंगे।

प्रिय देवगण! अब वही समय आ गया। मैं भारतवर्ष में भ्रमण करके देख आया हूँ—ब्राह्मण तो ऐसे हैं जिनको चौबीस अक्षर की गायत्री तक नहीं आती। कितने ही ब्राह्मण "निवृत्तिस्तु महाफला" समझ-बूझ के भी अपनी सब पंडिताई मछली और बकरे के मांस ही में सांद डालते हैं! कितने ही इनसे भी अधिक नारकी हैं जो हाथ में शराब की बोतल ले उछल रहे हैं और इस भ्रष्ट पंडिताई के हल्ले कर ऋषि, मुनि और व्यास को भी ललकारना चाहते हैं। कोई मेहतर तक को जनेऊँ दिलाना चाहते हैं! कोई अपनी भी

जनेऊ तोड़ सर्वभक्षी होते जाते हैं। कोई दरिद्रता पर बोझा दे शास्त्र से रहित रहते हैं, कोई धन-मद में मत्त हो वेश्याओं की डेगची चाटते हैं, कोई अङ्गरेज़ी के अभिमान से सदाचार को त्याग चुरुट से मुँह झौंसाया करते हैं, और हमें यह कहते बड़ी लज्जा होती है कि हम तुम सब को उड़ा अपने बाप-दादा और (वसिष्ठादि की ओर देख कर) इन गोत्र-प्रवर्त्तक महर्षियों को भी सैकड़ों गाली रोज़ देते हैं !!

(महर्षि लोग अधोमुख हो गये और सब के मुख पर शोक छा गया)

अब क्षत्रियों का तो कुछ पूछना ही नही। जिन क्षत्रियों से एक दिन हम लोग सहायता माँगते थे और जो क्षत्रिय लोग अपने बाहु-बल से सुर-राज का भय छुड़ाते थे उन्हीं क्षत्रियों की आज-कल यह दशा हो गई है कि दो-चार पुरुष बाँह थामें तब दस पैंड़ चल सकें! वीरों के बदले वेश्या और शस्त्र के बदले सारंगी उनके साथ रहती है! पहले तो ईश्वर ने उनको स्वतंत्र राज्य ही नहीं दिया और जो कुछ है उसका भी उनसे प्रबन्ध नहीं बनता। रनवास से लेकर अपने बाप के श्राद्ध तक का काम शूद्रों के हाथ सौंप दिया और आप ढलन्त करते रहते हैं। कितने ही बाल झाड़ते, मिस्सी लगाते, भौंहें मटकाते, खासे नचनिये बने; कितने ही यदि कुछ अङ्गरेज़ी-टंगरेजी पढ़े भी हैं तो बस स्त्री को संग ले कभी दार्जलिङ्ग, कभी शिमला! यह बात तो अङ्गरेज़ों की भली भाँति सीख ली कि थोड़ी सी गरमी हो तो हिमालय पर चढ़ाई करना। पर यह न

सीखा कि स्वदेश-हित करना, जाति-गौरव बढ़ाना, अपने खान-पहरान को न छोड़ना और धनाभिमान में न डूबना। बस, थोड़े से धन्य-मान्य मर्यादा-पुरुषों को छोड़ आज-कल चारों ओर यही देख पड़ता है कि राज तो छिछोरों के लिए, तलवार बकरों के लिए, बन्दूक चिड़ियों के लिए, नम्रता और प्रेम वेश्याओं के लिए, क्रोध पंडितों के लिए, उदारता धूर्तों के लिए, कम ख़र्च देव-मन्दिरों के लिए, नित्य नियम मद्य के लिए और परहेज़ शास्त्र के लिए।

अच्छा, अब तनिक वैश्यों के चरित्र पर ध्यान दीजिये। यदि देखा जाय तो भारतवर्ष के नष्ट होने में ये ही लोग प्रधान कारण हैं। जहाँ चार पदार्थ सदा रहें उसकी सदा उन्नति रहती है। और उसे कोई कभी नहीं दबा सकता। वे चार पदार्थ ये हैं—विद्या, बल, धन और जन। सो विद्या के उत्तर-दाता तो ब्राह्मण हैं और बल के क्षत्रिय, वैसे ही धन के वैश्य और जन के शूद्र। सो वैश्यों का धर्म खेती, व्यापार, गौ-रक्षा और सूद ब्याज यों चार प्रकार है। पर वैश्यों ने प्रायः एक काम सूद खाने का तो रख लिया है और सब छोड़ दिया। इन चारों वृत्तियों में अधम वृत्ति यही थी, सो इसी का उन्होंने ग्रहण किया! धन्य हैं यवन लोग, जो सूद खाना महापाप समझते हैं। और सच भी है, क्योंकि जब किसी पर आपत्ति पड़ती है, तब कोई दूसरे से रुपये माँगने जाता है तो ऐसे समय उसकी कुछ सहायता

करना उचित है, पर इन दिनों के धनिक वैश्यगण उसको अपना ही आहार समझते हैं और उसे आदर से बुला, अतर पान खिला, मीठी-मीठी बातें कर उसका घर खेत ज़मींदारी आदि यहाँ तक कि उसका शरीर तक रेहन में लिखवा कर चाँदी का छर्रा मारते हैं और 'स्टाम्प' में ऐसी ऐसी हेर-फेर की बातें लिखवाते हैं कि अवश्य ही वह रुपया न दे सकै और एक दिन अपना घर-बार इनके हाथ खोकर गली-गली भीख माँगे। ब्याज खानेवालों का हृदय ही पापी हो जाता है। सो धन्य हैं यवन लोग कि अपने धर्म से इनका निषेध किया। और हमारे वैश्यों की अकर्मण्यता तो देखिये—पास में लाखों करोड़ों रुपये हैं, जिनसे बड़े-बड़े वाणिज्य कर सकते हैं, पर आप धोती ढीली किये तोंद छुटका अपने ही ऐसे मोटे तकिये पर लुढ़के बैठे हैं! और रुपये भाड़े पर दे रहे हैं! इन्हीं के आलस्य से भारतवर्ष निर्धन हो गया। अब रहे शूद्र, सो विचारे क्या करैं? उनका जीवन तो ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य के अधीन था सो वे मिल के शूद्र का कर्म तक छीन जूतों की दूकान तक खोलने लगे, तब ये विचारे क्या करें? ये भी वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण तक बनने का उद्योग करने लगे! देवगण! यह तो आप लोगों के पूछने से मैंने कुछ वर्णन कर दिया है। मैं तो साधु हूँ, मुझे इन बखेड़ों से क्या काम? मेरा तो सिद्धान्त है कि "जाति-पाँति पूछै नहिं कोई। हरि को भजै सो हरि का होई।"

हमारा तो भाई यही सिद्धान्त है कि हरि-नाम कहना और आनंद में डूब-डूब उछलना। हमारी समझ में तो अमृत का मोदक समझिये, आनंद का कंद समझिये, जन्म-मरण के दुःख का उच्चाटन मंत्र समझिये और मुक्ति का वशीकरण मंत्र समझिये, तो एक-मात्र यही है कि—

"हरे राम हरे राम, राम राम हरे हरे।
हरे कृष्णं हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥"

देवगण! आप लोग स्वर्ग का सुख भोग रहे हैं पर कहिये तो इस मधुर हरि-नाम के कहने सुनने में जो आनंद है उसका अंश-मात्र भी इस तुच्छ स्वर्ग में है? (चारों ओर से 'नहीं, नहीं') जब कि स्वर्ग में आपको निश्चय है कि "क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोके पतन्ति"* अर्थात् पुण्य क्षय हो जाने से उसी मृत्यु के जाल में गिरना है और इसकी धुकपुकी रात-दिन लगी रहती है, और हरि-नाम के स्मरण में यह निश्चय है कि जन्म-मरण का भय छूट जायगा और अनन्त सुख का लाभ होगा, तब भले ही त्रिलोक के राज्य-सिंहासन पर कोई क्यों बैठा हो, पर भविष्यत् दुःख की आशंका ही से वह सुख विष-सा हो जाता है, और दूसरा भले ही दुःख के समुद्र ही में क्यों न डूबा हो, पर भविष्यत् अमोघ सुख के निश्चय ही से उस दुःख का उसे अनुभव भी नहीं होता। प्रियवर! यह जीवन-जड़ी हरि-नाम है। आहा हा!

* पाठान्तर 'विशन्ति'

"हरे कृष्ण हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
हरे राम हरे राम, राम राम हरे हरे ॥"

कहते हुए नारदजी तो प्रेम में डूब वीणा बजाते आनंदाश्रु टपकाते झूमने लगे, और देवगण धीरे-धीरे आनंद में मगन होते-होते ऐसे डूबे कि सब को अपनी सुधि भूल गई। वाह रे हरि-नाम, क्या आश्चर्य है! क्या ही जादू है कि सुनते ही पत्थर तो चेतन की भाँति पिघल उठते हैं और चेतन पत्थर की भाँति जड़ हो जाते है! *आहा! इस समय समूची देवसभा ठठक गई। किसी को किसी की सुधि नहीं। सब को रोमांच हो गया। सब के नेत्रों से अविरल जल-धारा का प्रवाह चल पड़ा। अनिमिष देवताओं को पलक तो है ही नही, पर भ्रुकुटि के मध्य में सब की दृष्टि लीन हो गई और चारों ओर एक विचित्र सन्नाटा-सा हो गया। ब्रह्माजी के आठों नेत्रों से आनंदाश्रु-धारा का प्रवाह चल पड़ा और वह प्रवाह डाढ़ी के केशाग्रों से बिन्दु-बिन्दु हो चारों ओर टपकने लगा। भैरवजी और कालीजी के तीनों नेत्रों के आँसुओं से कपोल और नासिका स्नान हो गया। सरस्वती के नेत्रों से ऐसी बूँदें गिरने लगीं कि मानो हंस के लिए मोती बरसाती हों और हंस की चोंच पर होकर आँसू के बहाने मोती की लड़ी-सी लटक गई। चंद्रमा के

* भाव सादृश्य—"जो न जनमु जग होत भरत को।
अचर सचर, चर अचर करत को ॥"

भी नेत्रों से अमृत-सा चू चला। और इन्द्र तो सहस्र नेत्रों के प्रवाह के कारण एकाएकी नहा-से उठे। बस, नारदजी भी हरि-नाम कहते, आनन्द में झूमते, झुक कर उसी सिंहासन पर छाती से वीणा लगा पीछे उठंग गये और समूची सभा आनन्द की निद्रा में आधे घंटे के लिए निद्रित-सी हो गई।

[पीयूष-प्रवाह]

फ़ा-हियान की भारत-यात्रा

[पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी]

प्राचीन भारत के इतिहास का थोड़ा-वहुत पता जो हमें लगता है वह ग्रीक और चीनी यात्रियों के यात्रा-वृत्तान्त से लगता है। ग्रीकवाले इस देश में सैनिक, शासक, अथवा राजदूत वनकर आते थे। इसी से उनके लेखों में अधिकतर भारतीय राजनीति, शासन-पद्धति और भौगोलिक वातों ही का उल्लेख है। उन्होंने भारतीय धर्म और शास्त्रों की छान-वीन करने की विशेष परवा नहीं की। चीनी यात्रियों का कुछ और ही उद्देश था, वे विद्वान् थे। उन्होंने हज़ारों मीलों की यात्रा इसलिए की थी कि वे वौद्धों के पवित्र स्थानों का दर्शन करें, वौद्ध-धर्म की पुस्तकें एकत्र करें और उस भाषा को पढ़ें जिसमें वे पुस्तकें लिखी गई थीं। इन यात्राओं में उनको नाना प्रकार के शारीरिक क्लेश सहने पड़े, कभी वे लूटे गये, कभी वे रास्ता भूलकर भयङ्कर स्थानों में भ

फिरे और कभी उन्हें जङ्गली जानवरों का सामना करना पड़ा। परन्तु इतना सब होने पर भी वे केवल विद्या और धर्म-प्रेम के कारण भारतवर्ष में घूमते रहे। चीनी यात्रियों में तीन के नाम बहुत प्रसिद्ध हैं—पहला फ़ा-हियान, दूसरा संगयान और तीसरा ह्वेनसाँग। इन तीनों ने अपनी-अपनी यात्रा का वृत्तान्त लिखा है। उसका अनुवाद अँगरेज़ी, फ्रेंच आदि यूरप की भाषाओं में हो गया है। इनसे भारतीय सभ्यता का बहुत कुछ पता चलता है। प्रसिद्ध चीनी यात्रियों में फ़ा-हियान सब से पहले भारत में आया। इसी की यात्रा का संक्षिप्त हाल यहाँ लिखा जाता है। फ़ा-हियान मध्य-चीन का निवासी था। ४०० ई० में वह अपने देश से भारत-यात्रा के लिए निकला। इस यात्रा से उसका मतलब बौद्ध-तीर्थों के दर्शन और बौद्ध-धर्म की पुस्तकों का संग्रह करना था। उन दिनों चीन से भारतवर्ष आने को दो रास्ते थे। एक रास्ता ख़ुतन नगर के पश्चिम से होता हुआ भारतीय सीमा पर पहुँचता था। यह रास्ता कुछ चक्कर का था। इसी से भारत और चीन के मध्य व्यापार होता था। दूसरा रास्ता जल द्वारा जावा और लङ्का के टापुओं से होकर था। यह रास्ता पहले से सीधा तो था, परन्तु पीत समुद्र के तूफ़ानों ने इस सुगम जल-मार्ग को बड़ा भयानक बना रक्खा था। फ़ा-हियान निडर मनुष्य था। वह भारत आया तो ख़ुतन के रास्ते ही से, परन्तु स्वदेश को लौटा

लङ्का और जावा के रास्ते। फ़ा-हियान के साथ और भी कितने ही यात्री थे। .खुतन पहुँचने के लिए लाय नामक जङ्गल से होकर जाना पड़ता था। इस जङ्गल में यात्रियों को बड़ा कष्ट सहना पड़ता, कोसों पानी न मिलता। सूर्य की गरमी ने और भी ग़ज़ब ढाया। प्यास के मारे यात्रियों का बुरा हाल हुआ। समय-समय पर रास्ता भूल जाने के कारण भी उन पर बड़ी विपत्ति पड़ी। जब वे किसी तरह लाय नामक झील के किनारे पहुँचे तब उनकी बड़ी बुरी दशा थी। कितने ही यात्रियों के छक्के छूट गये और उन्होंने आगे बढ़ने का विचार छोड़ दिया। पर फ़ा-हियान ने हिम्मत न हारी। वह दो-चार मित्रों सहित आगे बढ़ा और नाना प्रकार के कष्टों को सहता हुआ दो मास में .खुतन पहुँचा। लोगों ने .खुतन में उनका अच्छा आदर-सत्कार किया। उस समय .खुतन एक हरा-भरा बौद्ध-राज्य था, इस समय .खुतन उजड़ा पड़ा है। पर हाल ही में डाक्टर स्टीन ने उसकी पूर्व समृद्धि के बहुत से चिह्न पाये हैं। प्राचीन महलों, स्तूपों, विहारों और बाग़ों के न मालूम कितने चिह्न उन्हें मिले हैं। उन्होंने इस सम्बन्ध में एक पुस्तक लिखी है, जो बड़े महत्त्व की है। .खुतन से फ़ा-हियान काबुल आया। उस समय काबुल उत्तरीय भारत के अन्तर्गत था। काबुल से वह स्वात, गान्धार और तक्षशिला होता हुआ पेशावर पहुँचा। पेशावर में उसने एक बड़ा ऊँचा, सुन्दर और मज़बूत बौद्ध-स्तूप देखा। सिन्धु

नदी पार करके वह मथुरा आया। मथुरा का हाल वह इस प्रकार वर्णन करता है—मथुरा में यमुना के दोनों किनारे पर वीस संघाराम हैं, जिनमें लगभग ३००० साधु रहते हैं। बौद्ध-धर्म का .खूब प्रचार है। राजपूताना के राजा बौद्ध हैं। दक्षिण की ओर जो देश है वह मध्य-देश कहलाता है। इस देश का जल-वायु न बहुत उष्ण है, न बहुत शीतल। वर्फ़ अथवा कुहरे की अधिकता नहीं है। प्रजा सुखी है। उन्हें अधिक कर नहीं देना पड़ता। शासक लोग कठोरता नहीं करते। जो लोग भूमि जोतते और बोते हैं उन्हें अपनी पैदावार का एक निश्चित भाग राजा को देना पड़ता है। लोग अपनी इच्छा के अनुसार चाहे जहाँ आ-जा सकते हैं। अपराधी को उसके अपराध के गौरव-लाघव के अनुसार भारी अथवा हलका दण्ड दिया जाता है। राजा के शरीर-रक्षकों को नियत वेतन मिलता है। देश भर में जीव-हत्या नहीं होती। चाण्डालों के अतिरिक्त कोई मद्यपान नहीं करता और न कोई लहसुन और प्याज़ ही खाता है। इस देश में कोई न तो मुर्ग़ी ही पालता है और न बतख़ ही। पालतू पशु भी कोई नहीं वेचता। बाज़ारों में पशु-वध-शालाएँ अथवा मांस वेचने की दुकानें नहीं हैं। क्रय-विक्रय में कौड़ियों का व्यवहार होता है। केवल चाण्डाल ही पशु-वध करते और मांस वेचते हैं। बुद्ध भगवान् के समय से यहाँ की यह प्रथा है कि राजा, महाराजा, अमीर, उमराव

और बड़े आदमी विहार-निर्माण करते हैं और उनके ख़र्च के लिए भूमि इत्यादि का दान-पत्र लिखे देते हैं। पीढ़ियाँ गुज़र जाती हैं, वे विहार ज्यों के त्यों विद्यमान रहते हैं। उनका ख़र्च दान दी हुई भूमि की आमदनी से चलता रहता है। उस भूमि को कोई नहीं छीनता। विहारों में रहनेवाले साधुओं को वस्त्र, भोजन और बिछौना मुफ़्त मिलता है।

मथुरा से फ़ा-हियान कन्नौज आया। वह नगर, उस समय गुप्त राजाओं की राजधानी थी। उसने कन्नौज के विषय में इसके सिवा और कुछ नहीं लिखा कि वहाँ सङ्घाराम थे। कोशल राज्य की प्राचीन राजधानी श्रावस्ती उजाड़ पड़ी थी। उसमें केवल दो सौ कुटुम्ब निवास करते थे। जैतवन, जहाँ भगवान् बुद्ध ने धर्मोपदेश किया था, विहार के पास एक तालाब था, जिसका जल बहुत निर्मल था। कई बाग़ भी थे, जिनसे विहार की शोभा बहुत बढ़ गई थी। विहार में रहनेवाले साधुओं ने फ़ा-हियान का हर्ष-पूर्वक स्वागत किया और उसकी इस कारण बहुत बड़ाई की कि उसने यात्रा धर्म-प्रेम के वशीभूत होकर की थी। भगवान् बुद्ध के जन्म-स्थान कपिल-वस्तु की दशा फ़ा-हियान के समय में बुरी थी। वहाँ न कोई राजा था, न प्रजा। नगर प्रायः उजाड़ था। केवल थोड़े-थोड़े साधु और दस-बीस अन्य जन वहाँ थे। कुशीनगर भी, जहाँ भगवान् बुद्ध की मृत्यु हुई थी, बुरी दशा में था। उस वैशाली नगर को, जहाँ बौद्ध धर्म की पुस्तक संग्रह करने के लिए

बौद्धों का दूसरा सम्मेलन हुआ था, फ़ा-हियान ने अच्छी दशा में पाया। प्रसिद्ध पाटलिपुत्र नगर के विषय में फ़ा-हियान ने लिखा है कि उसका पुराना राजमहल बड़ा विचित्र है। उसके बनाने में बड़े-बड़े पत्थरों से काम लिया गया है। मनुष्यों के हाथों से वह न बना होगा। बिना आसुरी शक्ति के कौन इतने बड़े-बड़े पत्थर ऊपर चढ़ा सका होगा! अवश्य अशोक ने उसे असुरों द्वारा बनवाया होगा। फ़ा-हियान का कथन है कि अशोक के स्तूप के समीप ही एक सुन्दर सङ्घाराम बना हुआ है, जिसमें लगभग छः-सात सौ साधु रहते हैं। प्रति वर्ष दूसरे महीने के आठवें दिन वहाँ एक उत्सव होता है। उस अवसर पर चार पहिये का एक रथ बनाया जाता है। उस रथ के ऊपर पाँच खण्ड का मन्दिर रक्खा जाता है। मन्दिर बाँसों का बनता है। उसके बीच में सात-आठ गज़ लम्बा एक बाँस रहता है। वही उसे साधे रहता है। मन्दिर श्वेत वस्त्र से मढ़ दिया जाता है। पर उसका पिछला भाग चटकीले रङ्गों से रँगा रहता है। सुन्दर रेशम के शामियानों के नीचे देव-मूर्त्तियाँ, वस्त्राभूषण से सजा कर रक्खी जाती हैं। रथ के चारों कोनों में चार ताक रहते हैं। उन ताकों में बुद्ध भगवान् की बैठी हुई मूर्त्ति स्थापित की जाती है। इस प्रकार के कोई बीस रथ तैयार किये जाते हैं। उत्सव के दिन बड़ी भीड़ होती है। खेल-तमाशे होते हैं और मूर्त्तियों पर फूल आदि चढ़ाये जाते हैं। उस दिन

बौद्ध लोग नगर में प्रवेश करते हैं। वहीं वे ठहरते हैं और सारी रात हर्ष मनाते हैं। इस अवसर पर दूर-दूर से लोग आते और उत्सव में सम्मिलित होते हैं। धनवान् लोगों ने नगर में कितने ही औषधालय खोल रक्खे हैं जहाँ दीन-दुखिया, लँगड़े-लूले और अन्य असमर्थ जनों का इलाज होता है। उनको हर प्रकार की सहायता दी जाती है। वैद्य उनके रोगों की परीक्षा करके औषधि-सेवन कराते हैं। वे वहीं रहते हैं। पथ्य भी उन्हें वहीं मिलता है। नीरोग हो जाने पर वे अपने घर चले जाते हैं।

राजगृह में पहला बौद्ध-सम्मेलन हुआ था, इसलिए उसे देखता हुआ फ़ा-हियान गया पहुँचा। गया में उसने बोधिवृक्ष और अन्य पवित्र स्थानों के दर्शन किये। वह काशी-कौशाम्बी भी गया। काशी में उस स्थान पर, जहाँ भगवान् बुद्ध ने पहली बार सत्य का उपदेश दिया था, दो सङ्घाराम थे। काशी से वह फिर पाटलिपुत्र लौट गया। फ़ा-हियान चीन से धार्मिक पुस्तकों की खोज में चला था। पाटलिपुत्र में विनयपिटक की एक प्रति उसके हाथ लग गई। पुस्तक लेकर वह अङ्गदेश की राजधानी चम्पा होता हुआ ताम्रलिप्ति (तमलुक) पहुँचा। वहाँ उसने बौद्ध-धर्म का अच्छा प्रचार देखा। उस नगर में २४ सङ्घाराम थे। फ़ा-हियान वहाँ दो वर्ष तक रहा। यह समय उसने धर्म-पुस्तकों की नक़ल करने में ख़र्च किया। तत्पश्चात् जहाज़ पर सवार

होकर, लगातार १४ दिन और यात्रा करके वह सिंहलद्वीप पहुँचा। वहाँ से वह अनिरुद्धपुर गया। बौद्ध-स्तूप और बोध-वृक्ष के भी उसने दर्शन किये। लङ्का में उसने कुछ और भी धर्म-पुस्तकों का संग्रह किया। लङ्का का वर्णन वह इस प्रकार करता है—

"लङ्का में पहले बहुत कम मनुष्य रहते थे। धीरे-धीरे व्यापारी लोग यहाँ आने लगे। अन्त में वह यहाँ बस गये। इस प्रकार यहाँ की आबादी बढ़ी और राज्य की नींव पड़ी। यहाँ भगवान् बुद्ध आये*। उन्होंने यहाँ के निवासियों को बौद्ध बनाया। लङ्का का जल-वायु अच्छा है। सब्ज़ी बहुत होती है। राजधानी के उत्तर में बड़ा ऊँचा स्तूप है। समीप ही एक सङ्घाराम भी है, जिसमें ५००० साधु रहते हैं।"

फ़ा-हियान लङ्का में दो वर्ष रहा। उसे स्वदेश छोड़े बहुत वर्ष हो गये थे, इससे उसने चीन लौट जाने का विचार किया। उसी समय एक व्यापारी ने उसे चीन का बना हुआ एक पङ्खा भेंट किया। अपने देश की बनी हुई वस्तु देखकर फ़ा-हियान का जी भर आया। उसके नेत्रों से अश्रु-धारा बह निकली। अन्त में उसे स्वदेश लौट जाने का एक साधन भी प्राप्त हो गया। एक जहाज़ दो सौ यात्रियों-सहित उस ओर जाता था। वह भी उसी पर बैठ गया। जहाज़ को हलका करने के लिए खलासी जहाज़ पर लदी

* भगवान् बुद्ध लङ्का कभी नहीं गये।

हुई चीज़ों को समुद्र में फेंकने लगे। बहुत माल-असबाब फेंक दिया गया। फ़ा-हियान ने अपने सारे बर्त्तन तक समुद्र में इस डर के मारे फेंक दिये कि कहीं उनके मोह में पड़ने के कारण लोग उसकी अमूल्य पुस्तकें और मूर्त्तियाँ समुद्र के हवाले न कर दें। तेरह दिन की कठिन तपस्या के बाद एक छोटा-सा टापू मिला, जहाँ जहाज़ की मरम्मत हुई। सैकड़ों कष्ट सहने पर ९० दिन बाद जहाज़ जावा द्वीप में पहुँचा। जावा में उस समय बौद्ध और ब्राह्मण-धर्म, दोनों का प्रचार था।

फ़ा-हियान जावा में पाँच महीने रहा। तत्पश्चात् वह एक और जहाज़ पर सवार हुआ। चलने के एक महीने बाद इस जहाज़ का भी कील-काँटा बिगड़ा। यह देखकर मल्लाहों ने सलाह की कि जहाज़ पर श्रमण फ़ा-हियान के होने ही के कारण हम पर विपत्ति आई है। अतएव कोई टापू मिले तो इसे वहाँ उतार दें, जिसमें जहाज़ की यात्रा निर्विघ्न समाप्त हो। यह वहाँ चाहे मरे, चाहे बचे। इस जहाज़ के यात्रियों में एक व्यापारी बड़ा सज्जन था। वह फ़ा-हियान से प्रेम करने लगा था। उसने मल्लाहों का इस सलाह का घोर प्रतिवाद किया। इसी के कारण बेचारा फ़ा-हियान किसी निर्जन टापू में छोड़ दिये जाने से बच गया। ८२ दिन की यात्रा के बाद दक्षिणी चीन के समुद्र-तट पर वह सकुशल उतर गया और अपने को कृत-कृत्य माना।

रानी दुर्गावती

[पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी]

जिस समय अकबर बादशाह की यशःपताका हिमालय से लेकर बङ्गाले की खाड़ी तक फहरा रही थी उसी समय जबलपुर के पास गढ़मण्डल या गढ़मण्डला में एक छोटी-सी माण्डलिक रानी के स्वातन्त्र्य की अग्नि-कणा दूर-दूर तक अपना प्रकाश फैला रही थी। बड़े-बड़े प्रतापी राजा जिसके बल-विक्रम को नहीं सह सके, उसी बल-विक्रम की अवहेलना गढ़मण्डल की अधीश्वरी ने निडर होकर की। जब यह विचार करते हैं कि गढ़मण्डल के सिंहासन पर एक कोमलाङ्गिनी कामिनी विराजमान थी तब हमारे आश्चर्य की सीमा और भी अधिक हो जाती है।

कन्नौज के राजा चन्दनराय के एक कन्या थी। उसका नाम था दुर्गावती। जब वह यौवनवती हुई तब उसके पिता ने उसे राजपूताना के किसी राज-कुमार की गृह-लक्ष्मी बनाना

चाहा; परन्तु दुर्गावती ने गढ़मण्डल के स्वामी दलपतिशाह की वीरता पर मुग्ध होकर उसी को आत्म-समर्पण किया। पिता ने यह बात, किसी कारण-विशेष से, स्वीकार न की। दलपतिशाह ने जब यह समाचार सुना तब उसने अपने बाहु-बल से उस कन्या रत्न को प्राप्त करना चाहा। चन्दनराय और दलपतिशाह में संग्राम हुआ। अन्त में विजय लक्ष्मी के साथ लक्ष्मी-रूपा दुर्गावती भी दलपतिशाह को प्राप्त हुई।

गढ़मण्डल में पहुँच कर दुर्गावती और दलपतिशाह का विधि-पूर्वक विवाह हुआ और वे दोनों परमानन्द-पूर्वक रहने लगे। कुछ काल के अनन्तर दुर्गावती गर्भवती हुई और यथा-समय उसके वीरनारायण नामक एक पुत्र उत्पन्न हुआ। जिस समय वीरनारायण केवल तीन वर्ष का था, विकराल काल ने गढ़मण्डल का राज-सिंहासन सूना कर दिया। राजा दलपतिशाह परलोक-वासी हुआ। पति के न रहने से दुर्गावती को परम शोक हुआ, परन्तु पुत्र के मुख की ओर देख कर और अपने कुटुम्बियों की की हुई सान्त्वना सुन कर उसे कुछ धैर्य हुआ। वह क्रम-क्रम से राज-काज स्वयं देखने लगी। रानी दुर्गावती ने बड़ी योग्यता से राज्य का काम करना आरम्भ किया। वह प्रजा के सुख-दुःख का विचार रखती और राज्य को शत्रुओं से रक्षित रखने के अभिप्राय से अपनी सेना को भी सुधारती जाती थी। उसको विदित था कि किसी न किसी दिन मुसल्मान अधिकारियों की मार्जार-दृष्टि

उसके छोटे-से राज्य पर अवश्य पड़ेगी। इसलिए वह समराङ्गण में सेना सहित उतरने की तैयारी बराबर करती जाती थी। साथ ही साथ प्रजा को प्रसन्न रखने के लिए उसके मङ्गल विधान की ओर भी वह अपनी दृष्टि रखती थी। स्थान-स्थान पर उसने कुएँ और तालाब खुदवाये और अनाथों को आश्रय देने के लिए अनेक उपाय किये। शिल्प और वाणिज्य की ओर भी उसने ध्यान दिया। सारांश यह कि अपनी प्रजा को सुखी करने के लिए उसने कोई उपाय बाक़ी न रक्खा।

दुर्गावती की योग्यता, देश-रक्षा के लिए उसकी तत्परता, तथा उसकी प्रजा-वत्सलता आदि के विषय में अकबर के अधिकारियों ने उसे अनेक बातें सुनाईं और गढ़मण्डल को अपने अधीन कर लेने के लिए बहुत बार प्रार्थना की किन्तु उदार-हृदय अकबर ने वैसा करना उचित न समझा। तथापि कोमल रस्सी की रगड़ लगने से कठोर पत्थर भी घिस जाता है; अनेक बार परामर्श दिये जाने पर अकबर की भी लोभ-लिप्सा जाग उठी। आसफ़ख़ाँ नामक एक सरदार को गढ़मण्डल पर चढ़ाई करने के लिए उसने आज्ञा दे दी। एक विधवा और अनाथ अबला का राज्य छीन लेने के लिए दिल्ली के दुर्दमनीय बादशाह का चढ़ाई करना क्या कोई कीर्त्ति-कारिणी बात है? लोभ मनुष्यों का परम शत्रु है। एक सामान्य मनुष्य से लेकर सम्राट् तक को भी वह नहीं छोड़ता!

इसी लोभ के वशीभूत होकर एक अबला के साथ संग्राम-रूपी अनुचित कर्म करने के लिए अकबर के समान विचारवान् और बलशाली बादशाह ने ठान ठन दिया।

रानी दुर्गावती को जब यह समाचार मिला तब दुर्बल चित्त अबला के समान वह भयभीत नहीं हुई; किन्तु सिंहनी के समान क्षुब्ध और क्रुद्ध होकर उसने अपने क्षत्रियत्व का परिचय देना चाहा। वह जानती थी कि महा-प्रतापशाली दिल्लीश्वर के सम्मुख वह कभी भी जय-लाभ न कर सकेगी; तथापि भिन्न धर्मियों के हाथ में आत्म-समर्पण करने की अपेक्षा, अपने देश की रक्षा के निमित्त, वीर नारी के समान रण-क्षेत्र में प्राण देना ही उसने उचित जाना। रानी दुर्गावती के इस संकल्प को सुन कर उसकी प्रजा भी, जन्म-भूमि की स्वाधीनता बचाने के लिए, बद्ध-परिकर हुई। पुरुष-मात्र, जिनके बाहु-युगल खड्ग-धारण में समर्थ थे, रानी की पताका के नीचे खड़े होकर, जय-लक्ष्मी की प्राप्ति की लालसा से अपने शस्त्र चमकाने लगे। देखते ही देखते आठ सहस्र अश्वारोही आकर वहाँ उपस्थित हो गये और रानी दुर्गावती—मुण्ड-मालिनी चामुण्डा के समान—तुरगारूढ़ होकर, अपनी सेना के सहित संग्राम-भूमि में आ उतरी।

उधर आसफ़खाँ ने यह सोच रक्खा था कि दिल्लीश्वर के प्रचण्ड प्रताप की ज्वाला से भय-भीत होकर दुर्गावती अवश्य ही आत्म-समर्पण करेगी। अथवा यदि वह युद्ध ही

करेगी तो क्षण-मात्र ही में उसकी सेना नष्ट हो जायगी। यही समझ कर उसने केवल पाँच सहस्र अश्वारोही सेना अपने साथ ली। रणक्षेत्र में आकर उसे अपने भ्रम का ज्ञान हुआ, परन्तु उस समय क्या हो सकता था। वीर रानी के उत्साह-पूर्ण वाक्यों से उत्साहित होकर गढ़मण्डल की सेना शत्रुओं को निर्दयता-पूर्वक काटने लगी। रानी के सैन्य का दुःसह तेज न सह कर विपक्षी भाग निकले और आसफ़खाँ बड़ी कठिनाई से अपने प्राण बचाने में समर्थ हुआ। विजय-लक्ष्मी को साथ लेकर रानी दुर्गावती गढ़मण्डल को लौट आई।

आसफ़खाँ के भाग आने का समाचार यथासमय अकबर को मिला। सुन कर वह बहुत लज्जित हुआ और डेढ़ वर्ष के अनन्तर विपुल सैन्य के साथ आसफ़खाँ को फिर उसने गढ़मण्डल पर आक्रमण करने के लिए भेजा। इस बार भी रानी दुर्गावती की सेना ने पूर्ववत् ही प्रचण्ड बल-विक्रम से संग्राम किया। फिर भी दुर्गावती के तेजोवह्नि में शत्रु की सेना पतङ्ग के समान दग्ध हो गई। जो कुछ बची वह आसफ़खाँ के साथ भाग निकली। आसफ़खाँ को इस दूसरी हार से अत्यधिक लज्जा हुई। उसने अकबर को मुँह दिखलाना उचित न समझा। उसी ने लोभ दिला कर गढ़मण्डल पर आक्रमण करने के लिए अकबर को उकसाया था, अतएव उसे अब यह चिन्ता हुई कि किस प्रकार वह अपनी इस कलङ्क-कालिमा का प्रक्षालन करे। वह यह जानता

था कि जब तक रानी दुर्गावती का एक भी योद्धा जीवित है तब तक वह कभी भी गढ़मण्डल का समर्पण न करेगी। इसलिए सरल मार्ग छोड़ कर आसफ़ख़ाँ ने कूट-नीति का अवलम्बन किया। गढ़मण्डल में उसने विश्वास-घात का बीज बोया। वह बीज लोभ-रूप जल के सिञ्चन से अंकुरित होकर शीघ्र ही एक प्रचण्ड पेड़ हो गया। खेद है, विश्वास-घातक वृक्ष को उखाड़ने में रानी समर्थ न हुई।

अपने राज्य में गृह-विवाद की भयानक मूर्त्ति देख कर रानी डर गई। उसने जान लिया कि युद्ध में अब विजय की कोई आशा नहीं। तथापि वह अन्यायी आसफ़ख़ाँ के साथ धर्म-संग्राम करने से फिर न हिचकी। जो लोग उसके साथ संग्राम में प्रसन्नता-पूर्वक उपस्थित होने को सम्मत हुये, उनको और अपने एक-मात्र पुत्र वीरनारायण को लेकर वह रण-क्षेत्र की ओर इस बार भी प्रस्थानित हुई। अन्त में महा-लोमहर्षण युद्ध हुआ। परन्तु इस बार आसफ़ख़ाँ के सैन्य की संख्या अपरिमित थी। प्रातःकाल से सायंकाल पर्यन्त युद्ध कर के भी रानी को जय-लाभ न हुआ। उसने जान लिया कि उसे विजय-लक्ष्मी इस बार नहीं मिल सकती। इसी समय उसने देखा कि १४ वर्ष का उसका प्रियतम पुत्र वीरनारायण घायल होकर घोड़े से गिरा। उसकी सेना के कई पुरुषों ने उसे सुरक्षित स्थान पर पहुँचा कर रानी से प्रार्थना की कि इस अन्तिम समय में एक बार

आप अपने पुत्र से मिल लीजिये। रानी ने उत्तर दिया—"यह समय पुत्र से मिलने का नहीं, यदि मैं रण-भूमि छोड़ूँगी तो यहाँ मुझे न देखकर सेना अस्त-व्यस्त हो जायगी। यदि पुत्र का अन्त-काल उपस्थित ही है तो मुझे हर्ष है कि उसने वीर धर्म का पालन किया, वीर के समान उसने गति पाई। वह और मैं, दोनों शीघ्र ही पर-लोक में फिर मिलेंगे। यह समय मिलने का नहीं।" धन्य रानी की वीरता और धन्य उसकी धर्म-निष्ठा! अन्त में युद्ध करते करते रानी की आँख में एक तीक्ष्ण बाण प्रवेश कर गया। उस बाण को रानी ने बाहर निकालना चाहा, परन्तु वह सफल-मनोरथ न हुई। तब उसने जीवन से निराश होकर बड़ी क्रूरता से विपक्षियों का संहार आरम्भ किया। जब रानी ने देखा कि अब वैरियों के द्वारा पकड़े जाने का भय है तब गढ़मण्डल की ओर एक बार देख कर अपने ही खड्ग से अपने सिर को उसने धड़ से अलग कर दिया। रानी का मृतक शरीर शत्रुओं के हाथ न लगे, इसलिए सेना ने उसे शीघ्र ही दूसरे स्थान पर पहुँचा दिया। वहाँ दुर्गावती और वीरनारायण की साथ ही अन्तिम क्रिया हुई।

इधर गढ़मण्डल ने आसफ़खाँ के अधीन होकर अकबर के राज्य की सीमा बढ़ाई।

यह भारतवर्ष ही एक ऐसा देश है जहाँ पुरुषों की तो

गिनती ही नहीं, कोमल-कलेवरा कामिनियाँ भी वीरता के ऐसे-ऐसे काम कर गई हैं जिनका स्मरण होते ही बड़े-बड़े शूरवीरों को भी दाँतों तले उँगली दवानी पड़ती है। भारत! किसी समय वीरता में तू इस भूमण्डल में एक ही था।

भगवान् श्रीकृष्ण

[पं० पद्मसिंह शर्मा]

पाँच हज़ार वर्ष बीते भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र आनन्द-कन्द इस धरा-धाम पर अवतीर्ण हुये थे। जन्माष्टमी का शुभ पर्व प्रति वर्ष हमें इस चिर-स्मरणीय घटना की याद दिलाता है। आर्य-जाति बड़ी श्रद्धा-भक्ति से इस परम पावन पर्व को मनाती है। विश्व की उस अलौकिक विभूति के गुण-कीर्त्तन से करोड़ों आर्य-जन अपने हृदयों को पवित्र बनाते हैं। अपनी वर्त्तमान अधोगति में, निराशा के इस भयानक अन्धकार में, उस दिव्य ज्योति को ध्यान की दृष्टि से देखकर सन्तोष लाभ करते हैं। आज दुःख-दावानल से दग्ध भारत-भूमि घन-श्याम की अमृत-वर्षा की बाट जोहती है। दुःशासन-निपीड़ित प्रजा-द्रौपदी रक्षा के लिए कातर स्वर में पुकारती है। धर्म अपनी दुर्गति पर सर धुनता हुआ 'यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति' की याद दिलाकर प्रतिज्ञा-भंग की

'नालिश' कर रहा है। जाति-जननी अत्याचार-कंस के कष्ट-कारागार में पड़ी दिन काट रही है, गौएँ अपने 'गोपाल' की याद में प्राण दे रही हैं, जान गँवा रही हैं। इस प्रकार भगवान् के जन्म-दिन का शुभ अवसर भी हमें अपनी मौत का मर्सिया ही सुनाने को मजबूर कर रहा है। आनन्द वधाई के दिन भी हम अपना ही दुखड़ा रो रहे है, विधि की विडम्बना से 'प्रभाती' के समय 'विहाग' अलापना पड़ रहा है। संसार की अनेक जातियाँ क्षुद्र और बहुधा कल्पित आदर्शों के सहारे उन्नति के शिखर पर आरूढ़ हो गई हैं और हो रही हैं। उत्तम आदर्श उन्नति का प्रधान अवलम्ब है। अवनति के गर्त में पतित जाति के लिए तो आदर्श ही उद्धार-रज्जु है। आर्य-जाति के लिए आदर्शों का अभाव नहीं है; सब प्रकार के, एक-से-एक बढ़कर, आदर्श सामने है। संसार की अन्य किसी जाति ने इतने आदर्श नहीं पाये, फिर भी—इतने महत्त्वशाली आदर्श पाकर भी—आर्य-जाति क्यों नहीं उठती ! यही नहीं, कभी-कभी तो 'आदर्शवादी' ही दुर्दशा का कारण बन जाता है।

भगवान् श्रीकृष्ण संसार-भर के आदर्शों में सर्वाङ्ग-सम्पूर्ण आदर्श हैं। इसी कारण हिन्दू उन्हें सोलह-कला-सम्पूर्ण अवतार, 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' मानते है। अवतार न मानने वाले भी उन्हें आदर्श योगिराज, कर्म-योगी, सर्व-श्रेष्ठ महापुरुष कहते हैं। मनुष्य-जीवन को सार्थक बनाने के

लिए जो आदर्श अपेक्षित हैं वे सब स्पष्ट रूप में, प्रचुर परिमाण में श्रीकृष्ण-चरित्र में विद्यमान हैं। ध्यानी, ज्ञानी, योगी, कर्म-योगी, नीति-धुरन्धर नेता और महारथी योद्धा, जिस दृष्टि से देखिये, जिस कसौटी पर कसिये, श्रीकृष्ण अद्वितीय ही प्रतीत होंगे। संस्कृत भाषा का साहित्य कृष्ण-चरित्र की महिमा से भरा पड़ा है। पर दुर्भाग्य से हम उसके तत्त्व को हृदयंगम नहीं करते। हम 'आदर्श' का अनुकरण करना नहीं चाहते, उल्टा उसे अपने पीछे घसीटना चाहते हैं और यही हमारी अधोगति का कारण है। यदि हम कर्म-योगी भगवान् कृष्ण के आदर्श का अनुकरण करते तो आज इस दयनीय दशा में न होते। कृष्ण-चरित्र के सर्व-श्रेष्ठ लेखक श्रीबंकिमचन्द्र ने एक जगह खिन्न होकर लिखा है—

"जब से हम हिन्दू अपने आदर्श को भूल गये और हमने कृष्ण-चरित्र को अवनत कर लिया तब से हमारी सामाजिक अवनति होने लगी। जयदेव (गीतगोविन्द-निर्माता) के कृष्ण की नक़ल करने में सब लग गये पर 'महाभारत के' कृष्ण की कोई याद भी नहीं करता है।"

× × × ×

"सनातन-धर्म-द्वेषी कहा करते हैं कि भगवच्चरित्र की कलुषित कल्पना करने के कारण ही भारतवर्ष में पाप का स्रोत बढ़ गया है। इसका प्रतिवाद कर किसी को कभी जय

प्राप्त करते नहीं देखा है। मैं श्रीकृष्ण को स्वयम् भगवान् मानता हूँ और उन पर विश्वास करता हूँ, अँग्रेज़ी शिक्षा से मेरा यह विश्वास और दृढ़ होगया है। पुराणों और इतिहास में भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के चरित्र का वास्तव में कैसा वर्णन है यह जानने के लिए मैंने जहाँ तक बना इतिहास और पुराणों का मन्थन किया। इसका फल यह हुआ कि श्रीकृष्णचन्द्र के विषय में जो पाप-कथाएँ प्रचलित हैं वे अमूलक जान पड़ी। उपन्यासकारों ने श्रीकृष्ण के विषय में जो मनगढ़न्त बातें लिखी हैं उन्हें निकाल देने पर जो कुछ बचता है वह अति विशुद्ध, परम पवित्र, अतिशय महान् मालूम हुआ है। मुझे यह भी मालूम होगया है कि ऐसा सर्व-गुणान्वित और सर्वपाप-रहित आदर्श चरित और कहीं नहीं है, न किसी देश के इतिहास में और न किसी काव्य में।"

श्रीकृष्ण-चरित्र का मनन करनेवालों को श्रीवंकिमचन्द्र की उक्त सम्मतियों पर गम्भीरता से विचार करना चाहिये। भगवान् श्रीकृष्ण के चरित्र के रहस्य को अच्छी तरह समझ कर उसके आधार पर यदि हम अपने जाति-जीवन का निर्माण करें तो सारे संकट दूर हो जायँ। उदाहरण के तौर पर नेताओं को लीजिये। आज-कल हमारे देश में नेताओं की बाढ़ आई हुई है, जिसे देखिये वही 'सार्वभौम नेता' नहीं तो 'आल-इण्डिया लीडर' है। इस बाढ़ को देखकर चिन्ता के स्वर में कहना पड़ता है—

लीडरों की धूम है और फालोअर कोई नहीं।
सब तो जनरल हैं यहाँ, आखिर सिपाही कौन है॥

पर उनमें कितने हैं, जिन्होंने आदर्श नेता श्रीकृष्ण के चरित्र से शिक्षा ग्रहण की है? नेता नितान्त निर्भय, परम निष्पक्ष और विचारों का शुद्ध होना चाहिये, ऐसा कि संसार की कोई विपत्ति या प्रलोभन उसे किसी दशा में भी अपने व्रत से विचलित न कर सके।

महाभारत के युद्ध की तैयारियाँ हो चुकी हैं, सन्धि के सारे प्रयत्न निष्फल हो चुके है, धर्मराज युधिष्ठिर का सदय हृदय युद्ध के अवश्यम्भावी दुष्परिणाम को सोचकर विचलित हो रहा है, इस दशा में भी वह सन्धि के लिए व्याकुल है। बड़ी ही कठिन समस्या उपस्थित है। श्रीकृष्ण स्वयं सन्धि के पक्ष में थे। सन्धि के प्रस्ताव को लेकर उन्होंने स्वयं ही दूत बनकर जाना उचित समझा। दुर्योधन जैसे स्वार्थान्ध, कपट-कुशल और 'जीते-जुआरी के' दरबार में ऐसे अवसर पर दूत बनकर जाना जान से हाथ धोना, दहकती हुई आग मे कूदना था। श्रीकृष्ण के दूत बनकर जाने के प्रस्ताव पर सहसा कोई सहमत न हुआ। दुर्योधन की कुटिलता और क्रूरता के विचार से श्रीकृष्ण का वहाँ जाना किसी ने उचित न समझा, इस पर वाद-विवाद हुआ। उद्योग-पर्व का वह प्रकरण 'भगवद्यानपर्व' बड़ा अद्भुत और हृदयहारी है, जिसमें भगवान् श्रीकृष्ण के सन्धि-

प्रस्ताव को लेकर जाने का वर्णन है। श्रीकृष्ण जानते थे कि सन्धि के प्रस्ताव में सफलता न होगी, दुर्योधन किसी की मानने वाला जीव नहीं है, यात्रा आपद्-जनक है, प्राण-संकट की सम्भावना है, परन्तु कर्तव्यानुरोध से जान पर खेल कर भी उन्होंने वहाँ जाना ही उचित समझा।

दुर्योधन को जब मालूम हुआ कि श्रीकृष्ण आ रहे हैं, तो उसने श्रीकृष्ण को साम, दाम, दण्ड, भेद द्वारा जाल में फँसाने का कोई उपाय उठा न रक्खा। मार्ग में जगह-जगह उनके स्वागत का धूम-धाम से प्रबन्ध किया गया। रास्ते की सड़कें खूब सजाई गईं। दुर्योधन जानता था कि सब कुछ श्रीकृष्ण के हाथ में है, जो वे चाहेंगे वही होगा, उनकी आज्ञा से पाण्डव अपना सर्वस्व त्याग कर सकते हैं, श्रीकृष्ण को क़ाबू में कर लिया जाय तो बिना युद्ध के ही विजय हो सकती है, श्रीकृष्ण के बल-बूते पर ही पाण्डव युद्ध के लिए सन्नद्ध हो रहे हैं। निदान दुर्योधन ने श्रीकृष्ण को फँसाने की प्राणपण से चेष्टा की। पर 'अच्युत' श्रीकृष्ण अपने लक्ष्य से कब चूकने वाले थे। सन्धि का प्रस्ताव स्वीकृत न हुआ। दुर्योधन कर्ण, शकुनि आदि अपने साथियों के साथ सभा से उठ कर चला गया। जब उसने साम-दाम से काम बनते न देखा तो आवश्यक दण्ड देने—क़ैद कर लेने का—षड्यन्त्र रचा, उन्हें अपने घर पर निमन्त्रित किया। दुर्योधन की इस दुरभिसन्धि को विदुर आदि दूरदर्शी ताड़ गये। उन्होंने

श्रीकृष्ण को वहाँ जाने से रोका । श्रीकृष्ण स्वयं भी सब कुछ समझते थे, पर वे जिस काम को आये थे उसके लिए एक वार फिर प्राणपण से प्रयत्न करना ही उन्होंने उचित समझा । वे दुर्योधन के घर पहुँचे और निर्भयता-पूर्वक सन्धि का औचित्य समझाया । पाण्डवों की निर्दोषता और दुर्योधन का अन्याय प्रमाणित किया, पर दुर्योधन किसी तरह न माना । श्रीकृष्ण उसे फटकार कर चलने लगे, दुर्योधन ने भोजन के लिए आग्रह किया, इस पर जो उचित उत्तर भगवान् श्रीकृष्ण ने दिया वह उन्ही के योग्य था । कहा कि—

सम्प्रीति-भोज्यान्यान्नानि ह्यापद्भोज्यानि वा पुनः ।
न च सम्प्रीयसे राजन् ! न चैवापद्‌गता वयम् ॥

अर्थात् या तो प्रीति के कारण किसी के यहाँ भोजन किया जाता है, या फिर विपत्ति में—दुर्भिक्षादि संकट में । तुम हमसे प्रेम नही करते और हम पर कोई ऐसी आपत्ति भी नहीं आई है, ऐसी दशा में तुम्हारा भोजन कैसे स्वीकार करें ?

इस प्रत्याख्यान से क्रुद्ध होकर दुर्योधन ने उन्हें घेर कर पकड़ना चाहा, पर भगवान् श्रीकृष्ण के अलौकिक तेज और दिव्य पराक्रम ने उसे परास्त कर दिया । वह अपनी धृष्टता पर लज्जित होकर रह गया ।

हमारे लीडर लोग भगवान् के इस आचरण से शिक्षा ग्रहण करें तो उनका और लोक का कल्याण हो।

पाण्डव और कौरव दोनों ही श्रीकृष्ण के सम्बन्धी थे, दोनों ही उन्हें अपने पक्ष में लाने के लिए समान रूप से प्रयत्नशील थे। 'लोक-संग्रह' के तत्त्व से भी भगवान् अनभिज्ञ न थे, पर उन्होंने सर्व-प्रियता के मोह में पड़ कर धर्म को अधर्म नहीं बताया। निरपराध को अपराधी बता कर अपनी 'समदर्शिता' या उदारता का परिचय नही दिया। श्रीकृष्ण अपने प्राणों का मोह छोड़ कर दुर्योधन को समझाने गये और भयानक सङ्कट के भय से भी कर्त्तव्य-पराङ्मुख न हुए।

आर्य जाति के लीडर और शिक्षित युवक श्रीकृष्ण-चरित्र को अपना आदर्श मान कर यदि अपने चरित्र का निर्माण करें तो वे देश और जाति का उद्धार करने में समर्थ हो सकेंगे। परमात्मा ऐसा ही करे!

गोस्वामी तुलसीदासजी

[रा० ब० बाबू श्यामसुंदरदास]

तुलसीदास युक्त-प्रांत के बाँदा ज़िले में राजापुर गाँव के निवासी थे। वे सरयूपारीण ब्राह्मण थे। उनके पिता आत्माराम पत्यौंजा के दूबे और उनकी माता हुलसी थीं, जिनका उल्लेख अकबर के दरबार में रहीम ख़ानख़ाना ने एक प्रसिद्ध दोहे में किया है—

"सुरतिय नरतिय नागतिय अस चाहत सब कोय।
गोद लिये हुलसी फिरैं तुलसी-सौ सुत होय॥"

लड़कपन में ही उनके माता-पिता द्वारा परित्यक्त होने की जन-श्रुति प्रचलित है, जिससे उनके अभुक्त-मूल में जन्म लेने की बात की कुछ लोगों ने कल्पना की है। पर बाबा बेणीमाधव दास ने इस घटना का पूरा विवरण देकर सब प्रकार की कल्पना और अनुमान को शांत कर दिया है। बाल्यावस्था में आश्रय-हीन इधर-उधर घूमने-फिरने और

उसी समय गुरु द्वारा राम-चरित्र सुनने का उल्लेख गोस्वामीजी की रचनाओं में मिलता है। कहा जाता है कि उनके गुरु बाबा नरहरि थे, जिनका स्मरण गोस्वामीजी ने राम-चरित-मानस के प्रारंभ में किया है। संभवतः गुरु के ही साथ रहते हुए उन्होंने शास्त्रों का अध्ययन किया। गोस्वामीजी के अध्यापक शेषसनातन नामक एक विद्वान् महात्मा कहे जाते हैं, जो काशी-निवासी थे और महात्मा रामानंद के आश्रम में रहते थे। स्मार्त-वैष्णवों से शिक्षा-दीक्षा पाकर गोस्वामीजी भी उसी मत के अवलंबी बने। उनका अध्ययन-काल लगभग १५ वर्ष तक रहा। शिक्षा समाप्त कर गोस्वामीजी युवावस्था में घर लौटे, क्योंकि इसी समय उनके विवाह करने की बात कही जाती है।

गोस्वामीजी के विवाह के संबंध में कुछ शंका की जाती है। शंका का आधार उनका "ब्याह न बरेखी जाति-पाँति न चहत हौं" पद्यांश माना जाता है, परंतु उनके विवाह और विवाहित जीवन के संबंध में जो किंवदंतियाँ प्रचलित हैं और जो कुछ लिखा मिलता है उन पर सहसा अविश्वास नहीं किया जा सकता। गोस्वामीजी का स्त्री-प्रेम प्रसिद्ध है, और स्त्री ही के कारण उनके विरक्त होकर भक्त बन जाने की बात भी कही जाती है।

स्त्री से विरक्त होकर गोस्वामीजी साधु बन गये और घर छोड़ कर देश के अनेक भू-भागों और तीर्थों में घूमते रहे।

उनका भ्रमण बड़ा विस्तृत था, उत्तर में मान-सरोवर और दक्षिण में सेतुबंध रामेश्वर तक की उन्होंने यात्रा की थी। चित्रकूट की रम्य भूमि में उनकी वृत्ति अतिशय रमी थी, जैसा कि उनकी रचनाओं से स्पष्ट हो जाता है। काशी, प्रयाग और अयोध्या उनके स्थायी निवास-स्थान थे, जहाँ वे वर्षों रहते और ग्रंथ-रचना करते थे। मथुरा-वृंदावन आदि कृष्ण-तीर्थों की भी उन्होंने यात्रा की थी और यहीं-कहीं उनकी "कृष्ण-गीतावली" लिखी गई थी। इसी भ्रमण में गोस्वामीजी ने पचीसों वर्ष लगा दिये थे, और बड़े-बड़े महात्माओं की संगति की थी। कहते हैं कि एक बार जब वे चित्रकूट में थे, तब संवत् १६१६ में सूरदास उनसे मिलने गये थे। कवि केशवदास और रहीम खानखाना से भी उनकी भेंट होने की बात प्रचलित है।

संवत् १६३१ में अपना प्रसिद्ध ग्रंथ 'राम-चरित-मानस' लिखने बैठे। उसे उन्होंने लगभल ढाई वर्ष में समाप्त किया। राम-चरित का कुछ अंश काशी में लिखा गया है, कुछ अन्यत्र भी। इस ग्रंथ की रचना से उनकी बड़ी ख्याति हुई। उस काल के प्रसिद्ध विद्वान् और संस्कृतज्ञ मधुसूदन सरस्वती ने उनकी बड़ी प्रशंसा की थी। स्मरण रखना चाहिए कि संस्कृत के विद्वान् उस समय भाषा कविता को हेय समझते थे। ऐसी अवस्था में उनकी प्रशंसा का महत्त्व और भी बढ़ जाता है। गोस्वामी तुलसीदास को उनके जीवन-काल में जो प्रसिद्धि

मिली, वह निरंतर बढ़ती ही गई और अब तो वह सर्वव्यापिनी हो रही है।

राम-चरित लिख चुकने के उपरांत गोस्वामीजी आत्मोद्धार की ओर प्रवृत्त हुए। अब तक उन्होंने राम के चरित्र का चित्रण कर लोक-धर्म की प्रतिष्ठा की ओर विशेष ध्यान दिया था। अब वे साधना के क्षेत्रों में आकर आत्म-निवेदन की ओर खिंचे। उनकी 'विनय-पत्रिका' इसी समय की रचना है। भक्त का दैन्य और आत्म-ग्लानि दिखा कर, प्रभु की क्षमता और क्षमता-शीलता का चित्र अपने हृदय-पटल पर अंकित कर तथा भक्त और प्रभु के अविच्छिन्न संबंध पर ज़ोर देकर गोस्वामीजी ने 'विनय-पत्रिका' को भक्तों का प्रिय ग्रंथ बना दिया। यद्यपि उनके उपास्य देव राम थे, तथापि 'पत्रिका' में गणेश और शिव आदि की वंदना कर एक ओर तो गोस्वामी जी ने लौकिक पद्धति का अनुसरण किया है और दूसरी ओर अपने उदार हृदय का परिचय दिया है। उत्तर-भारत में कट्टरपन की शृंखला को शिथिल कर धार्मिक उदारता का प्रचार करने वालों में गोस्वामीजी अग्रणी हैं। ऐसी जन-श्रुति है कि 'विनय-पत्रिका' की रचना गोस्वामीजी ने काशी के गोपाल-मंदिर में की थी।

गोस्वामीजी की मृत्यु काशी में संवत् १६८० में हुई थी। काशी में उस समय महामारी का प्रकोप था और तुलसीदास भी उससे आक्रांत हुए थे। प्लेग उन्हें हो गया था, पर कहा

जाता है कि महावीरजी की वंदना करने से उनकी बीमारी जाती रही थी। परंतु वे इसके उपरांत अधिक दिन जीवित ही नहीं रहे। ऐसा जान पड़ता है कि इस रोग ने उनके वृद्ध शरीर को जीर्ण-शीर्ण कर दिया था। मृत्यु-तिथि के संबंध में अब तक कुछ मत-भेद था। नीचे लिखे दोहे के अनुसार श्रावण शुक्ला है—

"संवत सोरह सौ असी, असी गंग के तीर।
सावन सुकला सप्तमी, तुलसी तज्यो शरीर॥"

परंतु बेणीमाधव दास के 'गुसाईं-चरित' में उनकी मृत्यु-तिथि संवत् १६८० की 'श्रावण श्यामा तीज, शनिवार' लिखी हुई है। अनुसंधान करने पर यह तिथि ठीक भी ठहरी, क्योंकि एक तो तीज के दिन शनिवार का होना ज्योतिष की गणना में ठीक उतरा; और दूसरे गोस्वामीजी के घनिष्ठ मित्र टोडरमल के वंश में तुलसीदासजी की मृत्यु-तिथि के दिन एक सीधा देने की परिपाटी अब तक चली आती है और वह सीधा श्रावण के कृष्ण-पक्ष में तृतीया के दिन दिया जाता है; श्रावण शुक्ला सप्तमी को नहीं।

महाकवि तुलसीदास का जो व्यापक प्रभाव भारतीय जनता पर है, उसका कारण उनकी उदारता, उनकी विलक्षण प्रतिभा तथा उनके उद्गारों की सत्यता आदि तो हैं ही, साथ ही उसका सब से बड़ा कारण उनका विस्तृत अध्ययन और उनकी सार-ग्राहिणी प्रवृत्ति है। 'नाना पुराण निगमागम

सम्मत' राम-चरित-मानस लिखने की बात अन्यथा नहीं है, सत्य है। भारतीय संस्कृति के आधार-भूत तत्त्वों को गोस्वामीजी ने विविध शास्त्रों से ग्रहण किया था और समय के अनुरूप उन्हें अभिव्यंजित करके अपनी अपूर्व दूरदर्शिता का परिचय दिया था। यों तो उनके अध्ययन का विस्तार प्रायः अपरिसीम था, परंतु उन्होंने प्रधानतः वाल्मीकि-रामायण का आधार लिया है। साथ ही उन पर वैष्णव महात्मा रामानंद की छाप स्पष्ट देख पड़ती है। उनके 'राम-चरित-मानस' में मध्य-कालीन धर्म-ग्रंथों, विशेषतः अध्यात्म-रामायण योगवाशिष्ठ तथा अद्भुत-रामायण का प्रभाव कम नहीं है। 'भुसुंडि-रामायण' और 'हनुमन्नाटक' नामक ग्रंथों का ऋण भी गोस्वामीजी पर स्वीकार करना पड़ेगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि वाल्मीकि-रामायण की कथा लेकर, उसमें मध्य-कालीन धर्म-ग्रंथों के तत्त्वों का समावेश कर, साथ ही अपनी उदार बुद्धि और प्रतिभा से अद्भुत चमत्कार उत्पन्न कर, उन्होंने जिस अनमोल साहित्य का सृजन किया, वह उनकी सार-ग्राहिणी प्रवृत्ति के साथ ही उनकी प्रगाढ़ मौलिकता का भी परिचायक है।

गोस्वामीजी की समस्त रचनाओं में उनका 'राम-चरित-मानस' ही सर्व-श्रेष्ठ रचना है और उसका प्रचार उत्तरी-भारत में घर-घर है। उसी पर गोस्वामीजी का स्थायित्व और गौरव सब से अधिक अवलंबित है। 'राम-चरित-मानस'

करोड़ों भारतीयों का एक-मात्र धर्म-ग्रंथ है। जिस प्रकार संस्कृत साहित्य में वेद, उपनिषद् तथा गीता आदि पूज्य दृष्टि से देखे जाते हैं, उसी प्रकार आज संस्कृत का लेश-मात्र ज्ञान न रखने वाली जनता भी करोड़ों की संख्या में 'राम-चरित-मानस' को पढ़ती और वेद आदि की ही भाँति उसका संमान करती है। इस कथन का यह तात्पर्य नहीं कि गोस्वामीजी के अन्य ग्रंथ निम्न कोटि के हैं। गोस्वामीजी की प्रतिभा सब में समान रूप से लक्षित होती है, पर 'राम-चरित-मानस' की प्रधानता अनिवार्य है। गोस्वामीजी ने हिंदू-धर्म का सच्चा स्वरूप राम के चरित्र में अंकित कर दिया है। धर्म और समाज की कैसी व्यवस्था होनी चाहिए, राजा-प्रजा, ऊँच-नीच, द्विज-शूद्र आदि सामाजिक सूत्रों के साथ माता-पिता, गुरु, भाई आदि पारिवारिक संबंधों का कैसा निर्वाह होना चाहिए आदि जीवन के सरलतम और जटिलतम प्रश्नों का बड़ा ही विशद विवेचन इस ग्रंथ में मिलता है। हिंदुओं के सब देवता उनकी सब रीति-नीति, वर्णाश्रम-व्यवस्था तुलसीदासजी को सब स्वीकार हैं। शिव उनके लिए उतने ही पूज्य हैं जितने स्वयं राम। वे भक्त होते हुए भी ज्ञान-मार्ग के अद्वैत-वाद पर श्रद्धा रखते हैं। संक्षेप में, वे व्यापक हिंदू-धर्म के संकलित संस्करण हैं और उनके 'राम-चरित-मानस' में उनका यह रूप बड़ी ही मार्मिकता से व्यक्त हुआ है। उनकी उत्कट

राम-भक्ति ने उन्हें इतने ऊँचे उठा दिया है कि क्या कवित्व की दृष्टि से और क्या धार्मिक दृष्टि से 'राम-चरित-मानस' को किसी अलौकिक पुरुष की अलौकिक कृति मान कर, आनंद-मग्न होकर, हम उसके विधि-निषेधों को चुपचाप स्वीकार करते हैं। किसी छोटे भू-भाग में नहीं, सारे उत्तर-भारत में, स्वल्प संख्या द्वारा नही, करोड़ों व्यक्तियों द्वारा आज उनका 'राम-चरित-मानस' सारी समस्याओं का समाधान करने वाला और अनंत कल्याणकारी माना जाता है—इन्हीं कारणों से उसकी प्रधानता है।

गोस्वामीजी के 'राम-चरित-मानस' और 'विनय-पत्रिका' के अतिरिक्त 'दोहावली', 'कवितावली', 'गीतावली' और 'रामाज्ञा-प्रश्न' आदि बड़े ग्रंथ तथा 'बरवै-रामायण', 'रामलला-नहछू', 'कृष्ण-गीतावली', 'वैराग्य-संदीपनी', 'पार्वती-मंगल' और 'जानकी-मंगल' छोटी रचनाएँ प्रसिद्ध हैं। उनकी बनाई अन्य पुस्तकों का नामोल्लेख 'शिवसिंह-सरोज' मे किया है, परंतु उनमें से कुछ तो अप्राप्य हैं, कुछ उनके उपर्युक्त ग्रंथों में सांमिलित हो गई हैं। साधारणतः ये ही ग्रंथ गोस्वामीजी द्वारा रचित निर्विवाद माने जाते हैं। बाबा बेणीमाधव दास ने गोस्वामीजी की 'राम-सतसई' का भी उल्लेख किया है। कुछ लोगों का कहना है कि उसकी रचना गोस्वामीजी की अन्य कृतियों के अनुकूल नहीं है; क्योंकि इसमें अनेक दोहे क्लिष्ट और पहेली आदि के रूप

में आये हैं जो चमत्कारवादी कवियों को ही प्रिय हो सकते हैं, गोस्वामी तुलसीदास जैसे सच्चे कला-मर्मज्ञों को नहीं।

तुलसीदासजी ने जो कुछ लिखा है, स्वांतःसुखाय लिखा है। उपदेश देने की अभिलाषा से अथवा कवित्व प्रदर्शन की कामना से जो कविता की जाती है, उसमें आत्मा की प्रेरणा न होने के कारण स्थायित्व नहीं होता। कला का जो उत्कर्ष हृदय से सीधी निकली हुई रचनाओं में होता है वह अन्यत्र मिलना असंभव है। गोस्वामीजी की यह विशेषता उन्हें हिंदी-कविता के शीर्षासन पर ला रखती है। एक ओर तो वे काव्य-चमत्कार का भद्दा प्रदर्शन करने वाले केशव आदि से सहज में ही ऊपर आ जाते हैं और दूसरी ओर उपदेशों का सहारा लेने वाले कबीर आदि भी उनके सामने नहीं ठहर पाते। कवित्व की दृष्टि से जायसी का क्षेत्र तुलसी की अपेक्षा अधिक संकुचित है और सूरदास के उद्गार सत्य और सबल होते हुए भी उतने व्यापक नहीं हैं। इस प्रकार केवल कविता की दृष्टि से ही तुलसी हिंदी के अद्वितीय कवि ठहरते हैं। इसके साथ जब हम भाषा पर उनके अधिकार तथा जनता पर उनके उपकार की तुलना अन्य कवियों से करते हैं, तब गोस्वामीजी की अनुपम महत्ता का साक्षात्कार स्पष्ट रीति से हो जाता है।

गोस्वामीजी की रचनाओं का महत्त्व उनमें व्यंजित भावों की विशदता और व्यापकता से ही नहीं, उनकी मौलिक

कल्पनाओं तथा चमत्कारिक वर्णनों से भी है। यद्यपि रामायण की कथा उन्हें वाल्मीकि से बनी-बनाई मिल गई थी, परंतु उसमें भी गोस्वामीजी ने यथोचित परिवर्तन किए हैं। हनुमान के सीता की खोज में लंका पहुँचने की कथा तो वाल्मीकि-रामायण में भी है; परंतु सीताजी की शोक-विह्वल अवस्था में उनका अशोक के ऊपर से अँगूठी गिराना और सीता का उसे अंगार समझ कर उठा लेना गोस्वामीजी की कल्पना है। ऐसे ही अन्यत्र भी अन्य चमत्कार-पूर्ण परिवर्तन हैं। गोस्वामीजी के सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की अद्भुत क्षमता 'राम-चरित-मानस' की मंथरा में देख पड़ती है। भरत का आदर्श चरित्र खड़ा करने और कैकेयी की आत्म-ग्लानि दिखाने में गोस्वामीजी को स्वतंत्र पथ का अनुसरण करना पड़ा है। सुग्रीव और विभीषण के चरित्रों से जितनी सहानुभूति उन्हें है, उतनी वाल्मीकि को नहीं। प्रकृति के रम्य रूपों का चित्र खड़ा करने की क्षमता हिंदी के कवियों में बहुत कम है; परंतु गोस्वामीजी ने चित्रकूट-वर्णन में संस्कृत कवियों से टक्कर ली है। इतना ही नहीं, भावों के अनुरूप भाषा लिखने तथा प्रबंध में संबंध-निर्वाह और चरित्र-चित्रण का निरंतर ध्यान रखने में वे अपनी समता नही रखते। उत्कट राम-भक्ति के कारण उनके 'राम-चरित-मानस' में उच्च सदाचार का जो एक प्रवाह सा बहा है, वह तो वाल्मीकि-रामायण से भी अधिक गंभीर और पूरा है।

गोस्वामीजी संस्कृतज्ञ और शास्त्रज्ञ थे; अतः उन्होंने कुछ स्थानों पर ठेठ अवधी का प्रयोग करते हुए भी अधिकांश स्थलों में संस्कृत-मिश्रित अवधी का व्यवहार किया है। इससे उनके 'राम-चरित-मानस' में प्रसंगानुसार उपर्युक्त दोनों प्रकार की भाषाओं का माधुर्य दिखाई देता है। उनकी 'विनय-पत्रिका', 'गीतावली' और 'कवितावली' आदि में ब्रज-भाषा व्यवहृत हुई है। गोस्वामीजी ने ब्रजभाषा में भी अपनी संस्कृत पदावली का संमिश्रण किया और उसे उपयुक्त प्रौढ़ता प्रदान की। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जहाँ एक ओर तो जायसी और सूर का भाषा-ज्ञान क्रमशः अवधी और ब्रजभाषा तक ही परिमित है, वहाँ गोस्वामीजी का इन दोनों भाषाओं पर समान अधिकार है और उन दोनों में संस्कृत के समावेश से नवीन चमत्कार उत्पन्न कर देने की क्षमता तो अकेले उन्हीं में है।

गोस्वामी तुलसीदास के विभिन्न ग्रंथों में जिस प्रकार भाषा-भेद है, उसी प्रकार छंद-भेद भी है। 'राम-चरित-मानस' में उन्होंने जायसी की तरह दोहे-चौपाइयों का क्रम रखा है, परंतु साथ ही हरिगीतिका आदि लंबे तथा सोरठा आदि छोटे छंदों का भी बीच-बीच में व्यवहार कर उन्होंने छंद परिवर्तन की ओर ध्यान रखा है। 'राम-चरित-मानस' के लंका-कांड में जो युद्ध-वर्णन है, उसमें चंद आदि वीर कवियों के छंद भी लाए गए हैं। 'कवितावली' में सवैया और कवित्त

छंदों में कथा कही गई है, जो भाटों की परंपरा के अनुसार है। 'कवितावली' में राजा राम की राज्य-श्री का जो विशद वर्णन है, उसके अनुकूल कवित्त छंद का व्यवहार उचित ही हुआ है। 'विनय-पत्रिका' तथा 'गीतावली' आदि में ब्रजभाषा के सगुणोपासक संत महात्माओं के गीतों की प्रणाली स्वीकृत की गई है। 'दोहावली,' 'बरवै-रामायण' आदि में तुलसीदास जी ने छोटे छंदों में नीति आदि के उपदेश दिये हैं। अथवा अलंकारों की योजना के साथ फुटकर भाव-व्यंजना की है। सारांश यह कि गोस्वामीजी ने अनेक शैलियों में अपने ग्रंथों की रचना की है और आवश्यकतानुसार उनमें विविध छंदों का प्रयोग किया है। इस कार्य में गोस्वामीजी की सफलता विस्मय-कारिणी है। हिंदी की जो व्यापक क्षमता और जो प्रचुर अभिव्यंजन-शक्ति गोस्वामीजी की रचनाओं में देख पड़ती है वह अभूतपूर्व है। उनकी रचनाओं से हिंदी में पूर्ण प्रौढ़ता की प्रतिष्ठा हुई।

तुलसीदास के महत्त्व का ठीक-ठीक अनुमान करने के लिए उनकी कृतियों की तीन प्रधान दृष्टियों से परीक्षा करनी पड़ेगी—भाषा की दृष्टि से, साहित्योत्कर्ष की दृष्टि से और संस्कृति के ग्रहण और व्यंजन की दृष्टि से। इन तीनों दृष्टियों से उन पर विचार करने का प्रयत्न ऊपर किया गया है, जिसके परिणाम-स्वरूप उदाहरणार्थ हम यह कह सकते हैं कि गोस्वामीजी को ब्रज और अवधी दोनों भाषाओं पर समान

अधिकार था और दोनों में ही संस्कृत की छटा उनकी कृतियों में दर्शनीय हुई है। उनमें छंदों और अलंकारों का समावेश भी पूरी सफलता के साथ किया गया है। साहित्यिक दृष्टि से 'राम-चरित-मानस' के जोड़ का दूसरा ग्रंथ हिंदी में नहीं देख पड़ता। क्या प्रबंध-कल्पना, क्या संबंध-निर्वाह, क्या वस्तु एवं भाव-व्यंजना, सभी उच्च कोटि की हुई हैं। पात्रों के चरित्र-चित्रण में उनकी सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक दृष्टि का परिचय मिलता है और प्रकृति-वर्णन में हिंदी के कवि उनकी बराबरी नहीं कर सकते। अंतिम प्रश्न संस्कृति का है। गोस्वामीजी ने देश के परंपरागत विचारों और आदर्शों को बहुत अध्ययन करके ग्रहण किया है और बड़ी सावधानी से उनकी रक्षा की है। उनके ग्रंथ जो आज देश की इतनी असंख्य जनता के लिए धर्म-ग्रंथ का काम दे रहे हैं, उसका कारण यही है। गोस्वामीजी हिंदू-जाति, हिंदू-धर्म और हिंदू-संस्कृति को अक्षुण्ण रखने वाले हमारे प्रतिनिधि कवि हैं। उनकी यशःप्रशस्ति अमिट अक्षरों में प्रत्येक हिंदी-भाषा-भाषी के हृदय-पटल पर अनंत काल तक अंकित रहेगी, इसमें कुछ भी संदेह नहीं।

समाज और साहित्य

[रा० ब० बाबू श्यामसुंदर दास]

ईश्वर की सृष्टि विचित्रताओं से भरी हुई है। जितना ही इसे देखते जाइए, इसका अन्वेषण करते जाइए, इसकी छान-बीन करते जाइए, उतनी ही नई-नई शृंखलाएँ विचित्रता की मिलती जायँगी। कहाँ एक छोटा-सा बीज और कहाँ उससे उत्पन्न एक विशाल वृक्ष! दोनों में कितना अंतर और फिर दोनों का कितना घनिष्ठ संबंध! तनिक सोचिए तो सही, एक छोटे-से बीज के गर्भ में क्या-क्या भरा हुआ है। उस नाम-मात्र के पदार्थ में एक बड़े से बड़े वृक्ष को उत्पन्न करने की शक्ति है जो समय पाकर पत्र, पुष्प, फल से संपन्न हो वैसे ही अगणित बीज उत्पन्न करने में समर्थ होता है जैसे बीज से उसकी स्वयं उत्पत्ति हुई थी। इसी प्रकार से मनुष्य का शरीर बनता है, कैसे क्रम-क्रम से नवजात

बालक के अंग पुष्ट होते हैं; उसमें नई शक्ति आती जाती है, उसके मस्तिष्क का विकास होता जाता है, उसमें भावनाएँ उत्पन्न होती जाती हैं और समय पाकर वह उस शक्ति से संपन्न हो जाता है, जिससे वह अपनी ही-सी सृष्टि की वृद्धि करता जाय। फिर एक ही प्रणाली से उत्पन्न अनेक प्राणियों की भिन्नता कैसी आश्चर्य-जनक है, कोई बलवान् है तो कोई विचारवान्, कोई न्यायशील है तो कोई अत्याचारी, कोई दयामय है तो कोई क्रूरातिक्रूर, कोई सदाचारी है तो कोई दुराचारी, कोई संसार की माया में लिप्त है तो कोई परलोक-चिंता में रत। पर क्या इन विशेषताओं के बीच कोई सामान्य धर्म भी है या नहीं? विचार करके देखिए। सब बातें विचित्र, आश्चर्य-जनक और कौतूहल-वर्द्धक होने पर भी किसी शासक द्वारा निर्धारित नियमावली से बद्ध हैं। सब अपने-अपने नियमानुसार उत्पन्न होते, बढ़ते, पुष्ट होते और अंत में उस अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं जिसे हम मृत्यु कहते हैं: पर यही उनकी समाप्ति नहीं है, यहीं उनका अंत नहीं है, वे सृष्टि के कार्य-साधन में निरंतर तत्पर हैं। मर कर भी वे सृष्टि-निर्माण में योग देते हैं। यों ही वे जीते मरते चले जाते हैं। इन्हीं सब बातों की जाँच विकास-वाद का विषय है। यह शास्त्र हम को इस बात की छानबीन में प्रवृत्त करता है और बतलाता है कि कैसे संसार की सब बातों की सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप में अभिव्यक्ति हुई, कैसे क्रम-क्रम से

उनकी उन्नति हुई और किस प्रकार उनकी संकुलता बढ़ती गई। जैसे संसार की भूतात्मक अथवा जीवात्मक उत्पत्ति के संबंध में विकास-वाद के निश्चित नियम पूर्ण रूप से घटते हैं वैसे ही वे मनुष्य के सामाजिक जीवन के उन्नति-क्रम आदि को भी अपने अधीन रखते हैं। यदि हम सामाजिक जीवन के इतिहास पर ध्यान देते हैं तो हमें विदित होता है कि पहले मनुष्य असभ्य वा जंगली अवस्था में थे। वे झुंडों में घूमा करते थे और उनके जीवन का एक-मात्र उद्देश्य उदर की पूर्ति था, जिसका साधन वे जानवरों के शिकार से करते थे। क्रमशः शिकार में पकड़े हुए जानवरों की संख्या आवश्यकता से अधिक होने के कारण उनको बाँध रखना पड़ा। इसका लाभ उन्हें भूख लगने पर स्पष्ट विदित हो गया और यहीं से मानो उनके पशु-पालन-विधान का बीजारोपण हुआ। धीरे-धीरे वे पशु-पालन के लाभों को समझने लगे और उनके चारे आदि के आयोजन में प्रवृत्त हुए। साथ ही पशुओं को साथ लिये लिये घूमने में उन्हें कष्ट दिखलाई पड़ने लगे और वे एक नियत स्थान पर रह कर जीवन-निर्वाह का उपाय करने लगे। अब वृत्ति की ओर उनका ध्यान गया। कृषि-कर्म होने लगे, गाँव बसने लगे, पशुओं और भू-भागों पर अधिकार की चर्चा चल पड़ी। लोहारों और बढ़इयों की संस्थाएँ बन गईं। आपस में लेन-देन होने लगा। एक वस्तु देकर

दूसरी आवश्यक वस्तु प्राप्त करने का उद्योग हुआ और यहीं मानो व्यापार की नींव पड़ी। धीरे-धीरे इन गाँवों के अधिपति हुए जिन्हें अपने अधिकार को बढ़ाने, अपनी संपत्ति को वृद्धि देने तथा अपने बल को पुष्ट करने की लालसा उत्पन्न हुई। सारांश यह कि आवश्यकतानुसार उनके रहन-सहन, भाव-विचार सब में परिवर्तन हो चला। जो सामाजिक जीवन पहले था वह अब न रहा। अब उसका रूप ही वदल गया। अब नये विधान आ उपस्थित हुए। नई आवश्यकताओं ने नई चीज़ों के बनाने के उपाय निकाले, जव किसी चीज़ की आवश्यकता आ उपस्थित होती है तब मस्तिष्क को उस कठिनता को हल करने के लिए कष्ट देना पड़ता है। इस प्रकार सामाजिक जीवन में परिवर्तन के साथ ही साथ मस्तिष्क-शक्ति का विकास होने लगा। सामाजिक जीवन के परिवर्तन का दूसरा नाम असभ्यावस्था से सभ्यावस्था को प्राप्त होना है, अर्थात् ज्यों-ज्यों सामाजिक जीवन का विकास, विस्तार और उसकी संकुलता बढ़ती गई त्यों-त्यों सभ्यता देवी का साम्राज्य स्थापित होता गया। जहाँ पहले असभ्यता वा जंगलीपन ही में मनुष्य संतुष्ट रहते थे वहाँ उन्हें सभ्यता-पूर्वक रहना पसंद आने लगा! सभ्यावस्था सामाजिक जीवन में उस स्थिति का नाम है जब मनुष्य को अपने सुख और चैन के साथ-साथ दूसरे के स्वत्वों और अधिकारों का भी ज्ञान हो जाता है। आदर्श

सभ्यता वह है जिसमें मनुष्य का यह स्थिर सिद्धांत हो जाय कि "जितना किसी काम के करने का अधिकार मुझे है उतना ही दूसरे को भी है" और इसे इस सिद्धांत पर दृढ़ रखने के लिए किसी बाहरी अंकुश की आवश्यकता न रह जाय। यह भाव जिस जाति में जितना ही अधिक पाया जाता है उतना ही अधिक वह जाति सभ्य समझी जाती है, इस अवस्था की प्राप्ति, बिना मस्तिष्क के विकास के नहीं हो सकती अथवा यह कहना चाहिए कि सभ्यता की उन्नति और मस्तिष्क की उन्नति साथ ही साथ होती है। एक दूसरे का अन्योऽन्याश्रय संबंध है। एक का दूसरे के बिना आगे बढ़ जाना या पीछे पड़ जाना असंभव है। दोनों साथ-साथ चलते हैं। मस्तिष्क के विकास में साहित्य का स्थान बड़े महत्त्व का है।

जैसे भौतिक शरीर की स्थिति और उन्नति बाह्य पंचभूतों के कार्य-रूप प्रकाश, वायु, जलादि की उपयुक्तता पर निर्भर है वैसे ही समाज के मस्तिष्क का बनना बिगड़ना साहित्य की अनुकूलता पर अवलंबित है अर्थात् मस्तिष्क के विकास और वृद्धि का मुख्य साधन साहित्य है।

सामाजिक मस्तिष्क अपने पोषण के लिए जो भाव-सामग्री निकाल कर समाज को सौंपता है उसी के संचित भांडार का नाम साहित्य है। अतः किसी जाति के साहित्य को हम उस जाति की सामाजिक शक्ति या सभ्यता का

अब तक निवेदन किया है उससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि मनुष्य की सामाजिक स्थिति के विकास में साहित्य का प्रधान योग रहता है।

यदि संसार के इतिहास की ओर हम ध्यान देते हैं तो हमें यह भली भाँति विदित होता है कि साहित्य ने मनुष्यों की सामाजिक स्थिति में कैसा परिवर्तन कर दिया है। पाश्चात्य देशों में एक समय धर्म-संबंधी शक्ति पोप के हाथ में आ गई थी। माध्यमिक काल में इस शक्ति का बड़ा दुरुपयोग होने लगा। अतएव जब पुनरुत्थान ने वर्त्तमान काल का सूत्रपात किया और युरोपीय मस्तिष्क स्वतंत्रता-देवी की आराधना में रत हुआ तब पहला काम जो उसने किया वह धर्म के विरुद्ध विद्रोह खड़ा करना था। इसका परिणाम यह हुआ कि युरोपीय कार्य-क्षेत्र से धर्म का प्रभाव हटा और व्यक्ति-गत स्वातंत्र्य की लालसा बढ़ी। यह कौन नहीं जानता कि फ्रांस की राज्य-क्रांति का सूत्रपात रूसो और वालटेयर के लेखों ने किया और इटली के पुनरुत्थान का वीज मेज़िनी के लेखों ने बोया। भारतवर्ष में भी साहित्य का प्रभाव इसकी अवस्था पर कम नहीं पड़ा। यहाँ की प्राकृतिक अवस्था के कारण सांसारिक चिंता ने लोगों को अधिक न ग्रसा। उनका विशेष ध्यान धर्म की ओर रहा। जब-जब उसमें अव्यवस्था और अनीति की वृद्धि हुई, नये विचारों, नई संस्थाओं की सृष्टि हुई, बौद्ध धर्म और

आर्य-समाज का प्राबल्य और प्रचार ऐसी ही स्थिति के बीच हुआ। इसलाम और हिंदू-धर्म जब परस्पर पड़ोसी हुए तब दोनों में से कूप-मंडूकता का भाव निकालने के लिए कबीर, नानक आदि का प्रादुर्भाव हुआ। अतः यह स्पष्ट है कि मानव-जीवन की सामाजिक गति में साहित्य का स्थान बड़े गौरव का है।

अब यह प्रश्न उठता है कि जिस साहित्य के प्रभाव से संसार में इतने उलट फेर हुए हैं, जिसने युरोप के गौरव को बढ़ाया, जो मनुष्य समाज का हित-विधायक मित्र है वह क्या हमें राष्ट्र-निर्माण में सहायता नहीं दे सकता? क्या हमारे देश की उन्नति करने में हमारा पथ-प्रदर्शक नहीं हो सकता? हो अवश्य सकता है यदि हम लोग जीवन के व्यवहार में उसे अपने साथ-साथ लेते चलें, उसे पीछे न छूटने दें। यदि हमारे जीवन का प्रवाह दूसरी ओर को है, तब तो हमारा उसका प्रकृति-संयोग ही नहीं हो सकता।

अब तक जो वह हमारा सहायक नहीं हो सका है, इसके दो मुख्य कारण हैं। एक तो इस विस्तृत देश की स्थिति एकांत रही है और दूसरे इसके प्राकृतिक विभव का वारापार नहीं है। इन्हीं कारणों से इसमें संघ-शक्ति का संचार जैसा चाहिए वैसा नहीं हो सका है और यह अब तक आलसी और सुख-लोलुप बना हुआ है। परंतु अब इन अवस्थाओं में परिवर्तन हो चला है। इसके विस्तार की दुर्गमता और

स्थिति की एकांतता को आधुनिक वैज्ञानिक आविष्कारों ने एक प्रकार से निर्मूल कर दिया है और प्राकृतिक वैभव का लाभालाभ बहुत कुछ तीव्र जीवन-संग्राम की सामर्थ्य पर निर्भर है।

यह जीवन-संग्राम दो भिन्न सभ्यताओं के संघर्षण से और भी तीव्र और दुःखमय प्रतीत होने लगा है। इस अवस्था के अनुकूल ही जब साहित्य उत्पन्न हो कर समाज के मस्तिष्क को प्रोत्साहित और प्रतिक्रियमाण करेगा तभी वास्तविक उन्नति के लक्षण देख पड़ेंगे और उसका कल्याणकारी फल देश को आधुनिक काल का गौरव प्रदान करेगा।

अब विचारणीय यह है कि वह साहित्य किस प्रकार का होना चाहिए जिससे कथित उद्देश्य की सिद्धि हो सके? मेरे विचार के अनुसार इस समय हमें विशेष कर ऐसे साहित्य की आवश्यकता है जो मनोवेगों का परिष्कार करने वाला, संजीवनी शक्ति का संचार करने वाला, चरित्र को सुंदर साँचे में ढालने वाला तथा बुद्धि को तीव्रता प्रदान करने वाला हो। साथ ही इस बात की भी आवश्यकता है कि यह साहित्य परिमार्जित, सरस और ओजस्विनी भाषा में तैयार किया जाय। इसको सब लोग स्वीकार करेंगे कि ऐसे साहित्य का हमारी हिंदी भाषा में अभी तक बड़ा अभाव

है पर शुभ लक्षण चारों ओर देखने में आरहे हैं, और यह दृढ़ आशा होती है कि थोड़े ही दिनों में उसका उदय दिखाई पड़ेगा जिससे जन-समुदाय की आँखें खुलेंगी और भारतीय जीवन का प्रत्येक विभाग ज्ञान की ज्योति से जगमगा उठेगा।

क्रोध

[पंडित रामचंद्र शुक्ल]

क्रोध दुःख के कारण के साक्षात्कार वा अनुमान से उत्पन्न होता है। साक्षात्कार के समय दुःख और उसके कारण के संबंध का परिज्ञान आवश्यक है। जैसे तीन-चार महीने के बच्चे को कोई हाथ उठा कर मार दे तो उसने हाथ उठाते तो देखा है पर अपनी पीड़ा और उस हाथ उठाने से क्या संबंध है, यह वह नहीं जानता है। अतः वह केवल रोकर अपना दुःख-मात्र प्रकट कर देता है। दुःख के कारण के साक्षात्कार के निश्चय के बिना क्रोध का उदय नहीं हो सकता। दुःख के सज्ञान हेतु पर प्रबल प्रभाव डालने में प्रवृत्त करने की मानसिक क्रिया होने के कारण क्रोध का आविर्भाव बहुत पहले देखा जाता है। शिशु अपनी माता की आकृति से अभ्यस्त हो ज्योंही यह जान जाता है कि दूध इसी से मिलता

है, भूखा होने पर वह उसकी आहट पा रोने में कुछ क्रोध के चिह्न दिखलाने लगता है।

सामाजिक जीवन के लिए क्रोध की बड़ी आवश्यकता है। यदि क्रोध न हो तो जीव बहुत से दुःखों की चिर-निवृत्ति के लिए यत्न ही न करे। कोई मनुष्य किसी दुष्ट के नित्य प्रहार सहता है। यदि उसमें क्रोध का विकास नहीं हुआ है तो वह केवल 'आह ऊह' करेगा जिसका उस दुष्ट पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। उस दुष्ट के हृदय में दया आदि उत्पन्न करने में बड़ी देर लगेगी। प्रकृति किसी को इतना समय ऐसे छोटे-छोटे कामों के लिए नहीं दे सकती। भय के द्वारा भी प्राणी अपनी रक्षा करता है पर समाज में इस प्रकार की दुःख-निवृत्ति चिर-स्थायिनी नहीं होती। मेरे कहने का यह अभिप्राय नहीं कि क्रोध के समय क्रोध-कर्ता के हृदय में भावी दुःख से बचने वा बचाने की इच्छा रहती है बल्कि चेतन प्रकृति के भीतर क्रोध इसी लिए है।

ऊपर कहा जा चुका है कि क्रोध दुःख के कारण के परिज्ञान वा साक्षात्कार से होता है। अतः एक तो जहाँ इस ज्ञान में त्रुटि हुई वहाँ क्रोध धोखा देता है। दूसरी बात यह है कि क्रोध जिस ओर से दुःख आता है उसी ओर देखता है, अपने धारण-कर्ता की ओर नहीं। जिससे दुःख पहुँचा है वा पहुँचेगा उसका नाश हो वा उसे दुःख पहुँचे यही क्रोध का लक्ष्य है, क्रोध करने वाले का फिर क्या होगा, इससे

उसे कुछ सरोकार नहीं। इसी से एक तो मनोवेग ही एक दूसरे को परिमित किया करते हैं, दूसरे विचार-शक्ति भी उन पर अंकुश रखती है। यदि क्रोध इतना उग्र हुआ कि हृदय में दुःख के कारण की अवरोध-शक्ति के रूप और परिमाण के निश्चय, दया, भय आदि और विकारों के संचार तथा उचित अनुचित के विचार के लिए जगह ही न रही तो बहुत हानि पहुँच जाती है। जैसे कोई सुने कि उसका शत्रु बीस आदमी लेकर उसे मारने आ रहा है और वह चट क्रोध से व्याकुल होकर, बिना शत्रु की शक्ति का विचार वा भय किये, उसे मारने के लिए अकेला दौड़े तो उसके मारे जाने में बहुत कम संदेह है। अतः कारण के यथार्थ निश्चय के उपरांत आवश्यक मात्रा में और उपयुक्त स्थिति में भी क्रोध वह काम दे सकता है जिसके लिए उसका विकास होता है।

कभी-कभी लोग अपने कुटुंबियों वा स्नेहियों से झगड़ कर उन्हें पीछे से दुःख पहुँचाने के लिए अपना सिर तक पटक देते हैं। यह सिर पटकना अपने को दुःख पहुँचाने के अभिप्राय से नहीं होता क्योंकि बिलकुल बेगानों के साथ कोई ऐसा नहीं करता। जब किसी को क्रोध में अपना ही सिर पटकते या अंग भंग करते देखे तब समझ लेना चाहिए कि उसका क्रोध ऐसे व्यक्ति के ऊपर है जिसे उसके सिर पटकने की परवा है अर्थात्

जिसे उसके सिर फूटने से यदि उस समय नहीं तो आगे चल कर दुःख पहुँचेगा।

क्रोध का वेग इतना प्रबल होता है कि कभी-कभी मनुष्य यह विचार नहीं करता कि जिसने दुःख पहुँचाया है उसमें दुःख पहुँचाने की इच्छा थी या नहीं। इसी से कभी तो वह अचानक पैर कुचल जाने पर किसी को मार बैठता है और कभी ठोकर खाकर कंकड़-पत्थर तोड़ने लगता है। चाणक्य ब्राह्मण अपना विवाह करने जाता था। मार्ग में उसके पैर में कुश चुभे। वह चट मट्ठा और कुदाली लेकर पहुँचा और कुशों को उखाड़-उखाड़ कर उनकी जड़ों में मट्ठा देने लगा। मैंने देखा कि एक ब्राह्मण देवता चूल्हा फूँकते-फूँकते थक गए। जब आग नहीं जली तब उस पर कोप करके चूल्हे में पानी डाल किनारे हो गए। इस प्रकार का क्रोध असंस्कृत है। यात्रियों ने बहुत-से ऐसे जंगलियों का हाल लिखा है जो रास्ते में पत्थर की ठोकर लगने पर बिना उसको चूर-चूर किए आगे नहीं बढ़ते। इस प्रकार का क्रोध अपने दूसरे भाइयों के स्थान को दबाए हुए है। अधिक अभ्यास के कारण यदि कोई मनोवेग अधिक प्रबल पड़ गया तो वह अंतःकरण में अव्यवस्था उत्पन्न कर मनुष्य को फिर बचपन से मिलती-जुलती अवस्था में ले जाकर पटक देता है।

जिससे एक बार दुःख पहुँचा, पर उसके दोहराए जाने की संभावना कुछ भी नहीं है उसको जो कष्ट पहुँचाया

जाता है वह प्रतिकार कहलाता है। एक दूसरे से अपरिचित दो आदमी रेल पर चले जाते हैं। इनमें से एक को आगे ही के स्टेशन पर उतरना है। स्टेशन तक पहुँचते-पहुँचते बात ही बात में एक ने दूसरे को एक तमाचा जड़ दिया और उतरने की तैयारी करने लगा। अब दूसरा मनुष्य भी यदि उतरते-उतरते उसको एक तमाचा लगा दे तो यह उसका प्रतिकार वा बदला कहा जायगा क्योंकि उसे फिर उसी व्यक्ति से तमाचे खाने की संभावना का कुछ भी निश्चय नहीं था। जहाँ और दुःख पहुँचने की कुछ भी संभावना होगी वह शुद्ध प्रतिकार नहीं होगा। हमारा पड़ोसी कई दिनों से नित्य आकर हमें दो-चार टेढ़ी-सीधी सुना जाता है। यदि हम उसको एक दिन पकड़ कर पीट दें तो हमारा यह कर्म शुद्ध प्रतिकार नहीं कहलाएगा क्योंकि नित्य गाली सुनने के दुःख से बचने के परिणाम की ओर भी हमारी दृष्टि रही। इन दोनों अवस्थाओं को ध्यान-पूर्वक देखने से पता लगेगा कि दुःख से उद्विग्न होकर दुःख-दाता को कष्ट पहुँचाने की प्रवृत्ति दोनों में है। पर एक में वह परिणाम आदि के विचार को बिलकुल छोड़े हुए है और दूसरे में कुछ लिए हुए। इनमें से पहले प्रकार का क्रोध निष्फल समझा जाता है। पर थोड़े धैर्य के साथ सोचने से जान पड़ेगा कि इस प्रकार के क्रोध से स्वार्थ-साधन तो नहीं होता पर परोक्ष-रूप में कुछ लोक-हित-साधन अवश्य

हो जाता है। दुःख पहुँचानेवाले से हमें फिर दुःख पहुँचने का डर न सही पर समाज को तो है। इससे उसे उचित दंड दे देने से पहले तो उसकी शिक्षा वा भलाई हो जाती है, फिर समाज के और लोगों का भी बचाव हो जाता है। क्रोध-कर्त्ता की दृष्टि तो इन परिणामों की ओर नहीं रहती है पर सृष्टि-विधान में इस प्रकार के क्रोध की नियुक्ति इन्हीं परिणामों के लिए है।

क्रोध सब मनोविकारों से फुरतीला है, इसी से अवसर पड़ने पर यह और दूसरे मनोविकारों का भी साथ देकर उनकी सहायता करता है। कभी वह दया के साथ कूदता है, कभी घृणा के। एक क्रूर कुमार्गी किसी अनाथ अबला पर अत्याचार कर रहा है। हमारे हृदय में उस अनाथ अबला के प्रति दया उमड़ रही है। पर दया की पहुँच तो आर्त ही तक है। यदि वह स्त्री भूखी होती तो हम उसे कुछ रुपया-पैसा देकर अपने दया के वेग को शांत कर लेते। पर यहाँ तो उस दुःख का हेतु मूर्त्तिमान् तथा अपने विरुद्ध प्रयत्नों को ज्ञान-पूर्वक व्यर्थ करने की शक्ति रखनेवाला है। ऐसी अवस्था में क्रोध ही उस अत्याचारी के दमन के लिए उत्तेजित करता है जिसके बिना हमारी दया ही व्यर्थ जाती है। क्रोध अपनी इस सहायता के बदले में दया की वाहवाही को नहीं बँटाता। काम क्रोध करता है पर नाम दया का ही होता है। लोग यही कहते हैं "उसने दया करके बचा

लिया"; यह कोई नहीं कहता कि "क्रोध करके बचा लिया"। ऐसे अवसरों पर यदि क्रोध दया का साथ न दे तो दया अपने अनुकूल परिणाम उपस्थित ही नहीं कर सकती। एक अघोरी हमारे सामने मक्खियाँ मार-मार कर खा रहा है और हमें घिन लग रही है। हम उससे नम्रता-पूर्वक हटने के लिए कह रहे हैं और वह नहीं सुन रहा है। चट हमें क्रोध आ जाता है और हम उसे बलात् हटाने में प्रवृत्त हो जाते हैं।

क्रोध के निरोध का उपदेश अर्थ-परायण और धर्म-परायण दोनों देते हैं। पर दोनों में जिसे अति से अधिक सावधान रहना चाहिए वही कुछ भी नहीं रहता। बाक़ी रुपया वसूल करने का ढंग बताने वाला चाहे कड़े पड़ने की शिक्षा दे भी दे पर धज के साथ धर्म की ध्वजा लेकर चलने वाला धोखे में भी क्रोध को पाप का बाप ही कहेगा। क्रोध रोकने का अभ्यास ठगों और स्वार्थियों को सिद्धों और साधकों से कम नहीं होता। जिससे कुछ स्वार्थ निकालना रहता है, जिसे बातों में फँसा कर ठगना रहता है, उसकी कठोर से कठोर और अनुचित से अनुचित बातों पर न जाने कितने लोग ज़रा भी क्रोध नहीं करते। पर उनका यह अक्रोध न धर्म का लक्षण है, न साधन।

वैर क्रोध का अचार या मुरब्बा है। जिससे हमें दुःख पहुँचा है उस पर हमने जो क्रोध किया वह यदि हमारे हृदय

में बहुत दिनों तक टिका रहा तो वह वैर कहलाता है। इस स्थायी रूप में टिक जाने के कारण क्रोध की क्षिप्रता और हड़बडी तो कम हो जाती है पर वह और धैर्य, विचार और युक्ति के साथ लक्ष्य को पीड़ित करने की प्रेरणा बराबर बहुत काल तक किया करता है। क्रोध अपना बचाव करते हुए शत्रु को पीड़ित करने की युक्ति आदि सोचने का समय नहीं देता पर वैर इसके लिए बहुत समय देता है । वास्तव में क्रोध और वैर में केवल काल-भेद है। दुःख पहुँचने के साथ ही दुःख-दाता को पीड़ित करने की प्रेरणा क्रोध और कुछ काल बीत जाने पर वैर है। किसी ने हमें गाली दी। यदि हमने उसी समय उसे मार दिया तो हमने क्रोध किया। मान लीजिए कि वह गाली देकर भाग गया और दो महीने बाद हमें कहीं मिला। अब यदि उससे बिना फिर गाली सुने, हमने उसे मिलने के साथ ही मार दिया तो यह हमारा वैर निकालना हुआ। इस विवरण से स्पष्ट है कि वैर उन्हीं प्राणियों में होता है जिनमें धारणा अर्थात् भावों के संचय की शक्ति होती है। पशु और बच्चे किसी से वैर नहीं मानते। वे क्रोध करते हैं और थोड़ी देर के बाद भूल जाते हैं। क्रोध का यह स्थायी रूप भी आपदाओं की पहचान करा कर उनसे बहुत काल तक बचाये रखने के लिए दिया गया है।

करुणा

[पंडित रामचंद्र शुक्ल]

जब बच्चे को कार्य-कारण-संबंध कुछ-कुछ प्रत्यक्ष होने लगता है तभी दुःख के उस भेद की नींव पड़ जाती है जिसे करुणा कहते हैं। बच्चा पहले यह देखता है कि जैसे हम हैं वैसे ही ये और प्राणी भी हैं और बिना किसी विवेचना-क्रम के, स्वाभाविक प्रवृत्ति द्वारा, वह अपने अनुभवों का आरोप दूसरे प्राणियों पर करता है। फिर कार्य-कारण-संबंध से अभ्यस्त होने पर दूसरे के दुःख के कारण वा कार्य को देख कर उनके दुःख का अनुमान करता है और स्वयं एक प्रकार का दुःख अनुभव करता है। प्रायः देखा जाता है कि जब माँ झूठमूठ 'ऊँ ऊँ' करके रोने लगती है तब कोई कोई बच्चे भी रो पड़ते हैं*। इसी प्रकार जब उनके किसी

---

* कार्य

भाई वा बहन को कोई मारने उठता है तब वे कुछ चंचल हो उठते हैं* ।

दुःख की श्रेणी में परिणाम के विचार से करुणा का उलटा क्रोध है। क्रोध जिसके प्रति उत्पन्न होता है उसकी हानि की चेष्टा की जाती है। करुणा जिसके प्रति उत्पन्न होती है उसकी भलाई का उद्योग किया जाता है। किसी पर प्रसन्न होकर भी लोग उसकी भलाई करते हैं। इस प्रकार पात्र की भलाई की उत्तेजना दुःख और आनंद दोनों की श्रेणियों में रखी गई है। आनंद की श्रेणी में ऐसा कोई शुद्ध मनोविकार नहीं है जो पात्र की हानि की उत्तेजना करे, पर दुःख की श्रेणी में ऐसा मनोविकार है जो पात्र की भलाई की उत्तेजना करता है। लोभ से, जिसे मैंने आनंद की श्रेणी में रखा है, चाहे कभी-कभी और व्यक्तियों वा वस्तुओं को हानि पहुँच जाय पर जिसे जिस व्यक्ति वा वस्तु का लोभ होगा, उसकी हानि वह कभी नहीं करेगा। लोभी महमूद ने सोमनाथ को तोड़ा; पर भीतर से जो जवाहरात निकले उनको .खूब सँभाल कर रखा। नूरजहाँ के रूप के लोभी जहाँगीर ने शेर अफ़गन को मरवाया पर नूरजहाँ को बड़े चैन से रखा।

कभी-कभी नम्रता, सज्जनता, धृष्टता, दीनता आदि मनुष्य की स्थायी वासनाएँ, जिन्हें गुण कहते हैं, तीव्र

* कारण

होकर मनोवेगों का रूप धारण कर लेती हैं पर वे मनोवेगों में नहीं गिनी जातीं।

ऊपर कहा जा चुका है कि मनुष्य ज्योंही समाज में प्रवेश करता है, उसके दुःख और सुख का बहुत-सा अंश दूसरों की क्रिया वा अवस्था पर निर्भर हो जाता है और उसके मनोविकारों के प्रवाह तथा जीवन के विस्तार के लिए अधिक क्षेत्र हो जाता है। वह दूसरों के दुःख से दुखी और दूसरों के सुख से सुखी होने लगता है। अब देखना यह है कि क्या दूसरों के दुःख से दुखी होने का नियम जितना व्यापक है उतना ही दूसरों के सुख से सुखी होने का भी। मैं समझता हूँ, नहीं। हम अज्ञात-कुल-शील मनुष्य के दुःख को देख कर भी दुखी होते हैं। किसी दुखी मनुष्य को सामने देख हम अपना दुखी होना तब तक के लिए बंद नहीं रखते जब तक कि यह न मालूम हो जाय कि वह कौन है, कहाँ रहता है और कैसा है। यह और बात है कि यह जान कर कि जिसे पीड़ा पहुँच रही है उसने कोई भारी अपराध वा अत्याचार किया है, हमारी दया दूर वा कम हो जाय। ऐसे अवसर पर हमारे ध्यान के सामने वह अपराध वा अत्याचार आ जाता है और उस अपराधी वा अत्याचारी का वर्तमान क्लेश हमारे क्रोध की तुष्टि का साधक हो जाता है। सारांश यह कि करुणा की प्राप्ति के लिए पात्र में दुःख के अतिरिक्त और किसी विशेषता की अपेक्षा नहीं। पर आनंदित

हम ऐसे ही आदमी के सुख को देख कर होते हैं जो या तो हमारा सुहृद या संबंधी हो अथवा अत्यंत सज्जन, शीलवान् वा चरित्रवान् होने के कारण समाज का मित्र वा हितू हो। यों ही किसी अज्ञात व्यक्ति का लाभ वा कल्याण सुनने से हमारे हृदय में किसी प्रकार के आनंद का उदय नहीं होता। इससे प्रकट है कि दूसरों के दुःख से दुखी होने का नियम बहुत व्यापक है और दूसरों के सुख के सुखी होने का नियम उसकी अपेक्षा परिमित है। इसके अतिरिक्त दूसरों को सुखी देख कर जो आनंद होता है उसका न तो कोई अलग नाम रखा गया है और न उसमें वेग या क्रियोत्पादक गुण है। पर दूसरों के दुःख के परिज्ञान से जो दुःख होता है वह करुणा, दया आदि नामों से पुकारा जाता है और अपने कारण को दूर करने की उत्तेजना करता है।

जब कि अज्ञात व्यक्ति के दुःख पर दया बराबर उत्पन्न होती है तब जिस व्यक्ति के साथ हमारा विशेष संसर्ग है, जिसके गुणों से हम अच्छी तरह परिचित हैं, जिसका रूप हमें भला मालूम होता है, उसके उतने ही दुःख पर हमें अवश्य अधिक करुणा होगी। किसी भोली-भाली सुंदरी रमणी को, किसी सच्चरित्र परोपकारी महात्मा को, किसी अपने भाई-बंधु को दुःख में देख हमें अधिक व्याकुलता होगी। करुणा की यह सापेक्ष तीव्रता जीवन-निर्वाह की सुगमता

और कार्य-विभाग की पूर्णता के उद्देश्य से इस प्रकार परिमित की गई है।

मनुष्य की प्रकृति में शील और सात्त्विकता का आदि संस्थापक यही मनोविकार है। मनुष्य की सज्जनता वा दुर्जनता अन्य प्राणियों के साथ उसके संबंध वा संसर्ग द्वारा ही व्यक्त होती है। यदि कोई मनुष्य जन्म से ही किसी निर्जन स्थान में अपना निर्वाह करे तो उसका कोई कर्म सज्जनता या दुर्जनता की कोटि में न आएगा। उसके सब कर्म निर्लिप्त होंगे। संसार में प्रत्येक प्राणी के जीवन का उद्देश्य दुःख की निवृत्ति और सुख की प्राप्ति है। अतः सबके उद्देश्यों को एक साथ जोड़ने से संसार का उद्देश्य सुख का स्थापन और दुःख का निराकरण या बचाव हुआ। अतः जिन कर्मों से संसार के इस उद्देश्य का साधन हो वे उत्तम हैं। प्रत्येक प्राणी के लिए उससे भिन्न प्राणी संसार है। जिन कर्मों से दूसरे के वास्तविक सुख का साधन और दुःख की निवृत्ति हो वे शुभ और सात्त्विक हैं तथा जिस अंतःकरण-वृत्ति से इन कर्मों में प्रवृत्ति हो वह सात्त्विक है। कृपा वा प्रसन्नता से भी दूसरों के सुख की योजना की जाती है। पर एक तो कृपा वा प्रसन्नता में आत्म-भाव छिपा रहता है और उसकी प्रेरणा से पहुँचाया हुआ सुख एक प्रकार का प्रतिकार है। दूसरी बात यह है कि नवीन सुख की योजना की अपेक्षा प्राप्त दुःख की निवृत्ति की आवश्यकता अत्यंत अधिक है।

दूसरे के उपस्थित दुःख से उत्पन्न दुःख का अनुभव अपनी तीव्रता के कारण मनोवेगों की श्रेणी में माना जाता है पर अपने भावी आचरण द्वारा दूसरे के संभाव्य दुःख का ध्यान वा अनुमान, जिसके द्वारा हम ऐसी बातों से बचते हैं जिनसे अकारण दूसरे को दुःख पहुँचे, शील वा साधारण सद्वृत्ति के अंतर्गत समझा जाता है। बोलचाल की भाषा में तो "शील" शब्द से चित्त की कोमलता वा मुरौवत ही का भाव समझा जाता है जैसे 'उनकी आँखों में शील नहीं है,' 'शील तोड़ना अच्छा नहीं।' दूसरों का दुःख दूर करना और दूसरों को दुःख न पहुँचाना, इन दोनों बातों का निर्वाह करनेवाला नियम न पालने का दोषी हो सकता है, पर दुःशीलता वा दुर्भाव का नहीं। ऐसा मनुष्य झूठ बोल सकता है, पर ऐसा नहीं जिससे किसी का कोई काम बिगड़े या जी दुखे। यदि वह कभी बड़ों की कोई बात न मानेगा तो इसलिए कि वह उसे ठीक नहीं जँचती, वह उसके अनुकूल चलने में असमर्थ है, इसलिए नहीं कि बड़ों का अकारण जी दुखे। मेरे विचार के अनुसार 'सदा सत्य बोलना', 'बड़ों का कहना मानना' आदि नियम के अंतर्गत हैं, शील वा सद्भाव के अंतर्गत नहीं। झूठ बोलने से बहुधा बड़े-बड़े अनर्थ हो जाते हैं इसी से उसका अभ्यास रोकने के लिए यह नियम कर दिया गया कि किसी अवस्था में झूठ बोला ही न जाय। पर मनोरंजन, ख़ुशामद और शिष्टाचार आदि के बहाने संसार में बहुत-सा

झूठ बोला जाता है जिस पर कोई समाज कुपित नहीं होता। किसी-किसी अवस्था में तो धर्म-ग्रंथों में झूठ बोलने की इजाज़त तक दे दी गई है, विशेषतः जब इस नियम-भंग द्वारा अंतःकरण की किसी उच्च और उदार वृत्ति का साधन होता हो। यदि किसी के झूठ बोलने से कोई निरपराध और निःसहाय व्यक्ति अनुचित दंड से बच जाय तो ऐसा झूठ बोलना बुरा नहीं बतलाया गया है क्योंकि नियम शील वा सद्वृत्ति का साधक है, सम-कक्ष नहीं। मनोवेग-वर्जित सदाचार केवल दंभ है। मनुष्य के अंतःकरण में सात्त्विकता की ज्योति जगानेवाली यही करुणा है। इसी से जैन और बौद्ध धर्म में इसको वड़ी प्रधानता दी गई है और गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी कहा है—

पर-उपकार सरिस न भलाई।
पर-पीडा सम नहिं अधमाई॥

यह बात स्थिर और निर्विवाद है कि श्रद्धा का विषय किसी न किसी रूप में सात्त्विक-शीलता ही है। अतः करुणा और सात्त्विकता का संबंध इस बात से और भी प्रमाणित होता है कि किसी पुरुष को दूसरे पर करुणा करते देख तीसरे को करुणा करनेवाले पर श्रद्धा उत्पन्न होती है। किसी प्राणी में और किसी मनोवेग को देख श्रद्धा नहीं उत्पन्न होती। किसी को क्रोध, भय, ईर्ष्या, घृणा, आनंद आदि करते देख लोग उस पर श्रद्धा नहीं कर बैठते। यह दिखलाया

ही जा चुका है कि प्राणियों की आदि अंतःकरण-वृत्ति रागात्मक है। अतः मनोवेगों में से जो श्रद्धा का विषय हो वही सात्त्विकता का आदि संस्थापक ठहरा। दूसरी बात यह भी ध्यान देने की है कि मनुष्य का आचरण मनोवेग वा प्रवृत्ति ही का फल है। बुद्धि दो वस्तुओं के रूपों को अलग-अलग दिखला देगी, यह मनुष्य के मनोवेग पर निर्भर है कि वह उनमें से किसी एक को चुन कर कार्य में प्रवृत्त हो। कुछ दार्शनिकों ने तो यहाँ तक दिखलाया है कि हमारे निश्चयों का अंतिम आधार अनुभव वा कल्पना की तीव्रता ही है, बुद्धि द्वारा स्थिर की हुई कोई वस्तु नहीं। गीली लकड़ी को आग पर रखने से हमने एक बार धुँआ उठते देखा, दस बार देखा, हज़ार बार देखा, अतः हमारी कल्पना में यह व्यापार जम गया और हमने निश्चय किया कि गीली लकड़ी आग पर रखने से धुआँ होता है। यदि विचार कर देखा जाय तो स्मृति, अनुमान, बुद्धि आदि अंतःकरण की सारी वृत्तियाँ केवल मनोवेगों की सहायक हैं, वे मनोवेगों के लिए उपयुक्त विषय मात्र ढूँढ़ती हैं। मनुष्य की प्रवृत्ति पर कल्पना को और मनोवेगों को व्यवस्थित और तीव्र करने वाले कवियों का प्रभाव प्रकट ही है।

प्रिय के वियोग से जो दुःख होता है वह भी करुणा कहलाता है, क्योंकि उसमें दया वा करुणा का अंश भी मिला रहता है। ऊपर कहा जा चुका है कि करुणा का विषय

दूसरे का दुःख है। अतः प्रिय के वियोग में इस विषय की संप्राप्ति किस प्रकार होती है, यह देखना है। प्रत्यक्ष निश्चय कराता है और परोक्ष अनिश्चय में डालता है। प्रिय व्यक्ति के सामने रहने से उसके सुख का जो निश्चय होता रहता है, वह उसके दूर होने से अनिश्चय में परिवर्तित हो जाता है। अतः प्रिय के वियोग पर उत्पन्न करुणा का विषय प्रिय के सुख का अनिश्चय है। जो करुणा हमें साधारण जनों के उपस्थित दुःख से होती है, वही करुणा हमें प्रिय-जनों के सुख के अनिश्चय मात्र से होती है। साधारण जनों का तो हमें दुःख असह्य होता है पर प्रिय-जनों के सुख का अनिश्चय ही। अनिश्चित बात पर सुखी या दुखी होना ज्ञान-वादियों के निकट अज्ञान है; इसी से इस प्रकार के दुःख वा करुणा को किसी-किसी प्रांतिक भाषा में 'मोह' भी कहते हैं। सारांश यह कि प्रिय के वियोग-जनित दुःख में जो करुणा का अंश रहता है उसका विषय प्रिय के सुख का अनिश्चय है। राम-जानकी के वन चले जाने पर कौशल्या उनके सुख के अनिश्चय पर इस प्रकार दुखी होती है—

वन को निकरि गए दोउ भाई।

सावन गरजै, भादों बरसै, पवन चलै पुरवाई।
कौन बिरिछ तर भीजत ह्वैहैं, राम लखन दोउ भाई॥

(—गीत)

प्रेमी को यह विश्वास कभी नहीं होता कि उसके प्रिय

के सुख का ध्यान जितना वह रखता है उतना संसार में और भी कोई रख सकता है। श्रीकृष्ण गोकुल से मथुरा चले गए जहाँ सब प्रकार का सुख-वैभव था, पर यशोदा इसी सोच में मरती रही कि—

प्रात समय उठि माखन रोटी को बिन माँगे दैहै ?
को मेरे बालक कुँवर कान्ह को छिन छिन आगो लैहै ?

और उद्धव से कहती हैं—

सँदेसो देवकी सों कहियो।
हौं तो धाय तिहारे सुत की कृपा करत ही रहियो॥
उबटन, तेल और तातो जल देखत ही भजि जाते।
जोइ जोइ माँगत सोइ सोइ देती क्रम क्रम करिकै न्हाते॥
तुम तो टेव जानतिहि ह्वैहौ, तऊ मोहिं कहि आवै।
प्रात उठत मेरे लाल लड़ैतहि माखन रोटी भावै॥
अब यह सूर मोहि निसि-बासर बड़ो रहत जिय सोच।
अब मेरे अलकलड़ैते लालन ह्वैहैं करत सँकोच॥

वियोग की दशा में गहरे प्रेमियों को प्रिय के सुख का अनिश्चय ही नहीं, कभी-कभी घोर अनिष्ट की आशंका तक होती है; जैसे एक पति-वियोगिनी स्त्री संदेह करती है—

नदी किनारे धुआँ उठत है, मैं जानूँ कछु होय।
जिसके कारण मै जली, वही न जलता होय॥

प्रिय के वियोग-जनित दुःख में जो कारण का अंश होता है उसे तो मैंने दिखलाया किंतु ऐसे दुःख का प्रधान अंग

आत्म-पक्ष-संबंधी एक और ही प्रकार का दुःख होता है जिसे शोक कहते हैं। जिस व्यक्ति से किसी को घनिष्ठता और प्रीति होती है वह उसके जीवन के बहुत-से व्यापारों तथा मनोवृत्तियों का आधार होता है। उसके जीवन का बहुत-सा अंश उसी के संबंध द्वारा व्यक्त होता है। मनुष्य अपने लिए संसार आप बनाता है। संसार तो कहने-सुनने के लिए है, वास्तव मे किसी मनुष्य का संसार तो वे ही लोग हैं जिनसे उसका संसर्ग या व्यवहार है। अतः ऐसे लोगों में से किसी का दूर होना उसके लिए उसके संसार के एक अंश का उठ जाना या जीवन के एक अंग का निकल जाना है। किसी प्रिय वा सुहृद् के चिर-वियोग या मृत्यु के शोक के साथ करुणा या दया का भाव मिल कर चित्त को बहुत व्याकुल करता है। किसी के मरने पर उसके प्राणी उसके साथ किए हुए अन्याय या कुव्यवहार, तथा उसकी इच्छा-पूर्ति के संबंध में अपनी त्रुटियों को स्मरण कर और यह सोच कर कि उसकी आत्मा को संतुष्ट करने की संभावना सब दिन के लिए जाती रही, बहुत अधीर और विकल होते हैं।

सामाजिक जीवन की स्थिति और पुष्टि के लिए करुणा का प्रसार आवश्यक है। समाज-शास्त्र के पश्चिमी ग्रंथकार कहा करें कि समाज में एक दूसरे की सहायता अपनी-अपनी रक्षा के विचार से की जाती है; यदि ध्यान से देखा जाय तो कर्म-क्षेत्र में परस्पर सहायता की सच्ची उत्तेजना देनेवाली

किसी-न-किसी रूप में करुणा ही दिखाई देगी। मेरा यह कहना नहीं कि परस्पर की सहायता का परिणाम प्रत्येक का कल्याण नहीं है। मेरे कहने का यह अभिप्राय है कि संसार में एक दूसरे की सहायता, विवेचना द्वारा निश्चित, इस प्रकार के दूरस्थ परिणाम पर दृष्टि रख कर नहीं की जाती, बल्कि मन की प्रवृत्ति-कारिणी प्रेरणा से की जाती है। दूसरे की सहायता करने से अपनी रक्षा की भी संभावना है, इस बात या उद्देश्य का ध्यान प्रत्येक, विशेष कर सच्चे, सहायक को तो नहीं रहता। ऐसे विस्तृत उद्देश्यों का ध्यान तो विश्वात्मा स्वयं रखती है; वह उसे प्राणियों की बुद्धि ऐसी चंचल और मुंडे-मुंडे भिन्न वस्तु के भरोसे नहीं छोड़ती। किस युग में और किस प्रकार मनुष्यों ने समाज-रक्षा के लिए एक दूसरे की सहायता करने की गोष्ठी की होगी, यह समाज शास्त्र के वहुत-से वक्ता ही जानते होंगे। यदि परस्पर सहायता की प्रवृत्ति पुरखों की उसे पुरानी पंचायत ही के कारण होती और यदि उसका उद्देश्य वहीं तक होता जहाँ तक ये समाज-शास्त्र के वक्ता बतलाते हैं तो हमारी दया मोटे, मुस्टंडे और समर्थ लोगों पर जितनी होती उतनी दीन, अशक्त और अपाहज लोगों पर नहीं, जिनसे समाज को उतना लाभ नहीं। पर इसका बिलकुल उलटा देखने में आता है। दुखी व्यक्ति जितना ही अधिक असहाय और असमर्थ होगा उतनी ही अधिक उसके प्रति

हमारी करुणा होगी। एक अनाथ अबला को मार खाते देख हमें जितनी करुणा होगी उतनी एक सिपाही या पहलवान को पिटते देख नहीं। इससे स्पष्ट है कि परस्पर साहाय्य के जो व्यापक उद्देश्य हैं उनका धारण करनेवाला मनुष्य का छोटा-सा अंतःकरण नहीं, विश्वात्मा है।

दूसरों के, विशेषतः अपने परिचितों के, क्लेश या करुणा पर जो वेग-रहित दुःख होता है उसे सहानुभूति कहते हैं। शिष्टाचार में अब इस शब्द का प्रयोग इतना अधिक होने लगा है कि यह निकम्मा-सा हो गया है। अब प्रायः इस शब्द से हृदय का कोई सच्चा भाव नहीं समझा जाता है। सहानुभूति के तार, सहानुभूति की चिट्ठियाँ लोग यों ही भेजा करते हैं। यह छद्म-शिष्टता मनुष्य के व्यवहार-क्षेत्र में घुस कर सच्चाई को चरती चली जा रही है।

करुणा अपना बीज लक्ष्य में नहीं फेंकती अर्थात् जिस पर करुणा की जाती है वह बदले में करुणा करनेवाले पर भी करुणा नहीं करता—जैसा कि क्रोध और प्रेम में होता है—बल्कि कृतज्ञता, श्रद्धा या प्रीति करता है। बहुत-सी औपन्यासिक कथाओं में यह बात दिखलाई गई है कि युवतियाँ दुष्टों के हाथ से अपना उद्धार करनेवाले युवकों के प्रेम में फँस गई हैं। उद्वेगशील बँगला उपन्यास-लेखक करुणा और प्रीति के मेल से बड़े ही प्रभावोत्पादक दृश्य उपस्थित करते हैं।

मनुष्य के प्रत्यक्ष ज्ञान में देश और काल की परिमिति अत्यंत संकुचित होती है। मनुष्य जिस वस्तु को जिस समय और जिस स्थान पर देखता है उसकी उसी समय और उसी स्थान की अवस्था का अनुभव उसे होता है। पर स्मृति, अनुमान या उपलब्ध ज्ञान के सहारे मनुष्य का ज्ञान इस परिमिति को लाँघता हुआ अपना देश और काल संबंधी विस्तार बढ़ाता है। उपस्थित विषय के संबंध में उपयुक्त भाव प्राप्त करने के लिए यह विस्तार कभी-कभी आवश्यक होता है। मनोवेगों की उपयुक्तता कभी-कभी इस विस्तार पर निर्भर रहती है। किसी मार खाते हुए अपराधी के विलाप पर हमें दया आती है, पर जब हम सुनते हैं कि कई स्थानों पर कई बार वह बड़े-बड़े अपराध कर चुका है, इससे आगे भी ऐसे ही अत्याचार करेगा, तब हमें अपनी दया की अनुपयुक्तता मालूम हो जाती है। ऊपर कहा जा चुका है कि स्मृति और अनुमान आदि केवल मनोवेगों के सहायक हैं अर्थात् प्रकारांतर से वे मनोवेगों के लिए विषय उपस्थित करते हैं। ये कभी तो आपसे आप विषयों को मन के सामने लाते हैं; कभी किसी विषय के सामने आने पर ये उससे संबंध (पूर्वापर वा कार्य-कारण-संबंध) रखनेवाले और बहुत-से विषय उपस्थित करते हैं जो कभी तो सब के सब एक ही मनोवेग के विषय होते हैं और उस प्रत्यक्ष विषय से उत्पन्न मनोवेग को तीव्र करते हैं, कभी भिन्न-भिन्न

मनोवेगों के विषय होकर प्रत्यक्ष विषय से उत्पन्न मनोवेग को परिवर्त्तित वा धीमा करते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि मनोवेग वा प्रवृत्ति को मंद करनेवाली, स्मृति अनुमान वा बुद्धि आदि कोई दूसरी अंतःकरण-वृत्ति नहीं है, मन की रागात्मिका क्रिया या अवस्था ही है।

मनुष्य की सजीवता मनोवेग या प्रवृत्ति ही में है। नीतिज्ञों और धार्मिकों का मनोवेगों को दूर करने का उपदेश घोर पाखंड है। इस विषय में कवियों का प्रयत्न ही सच्चा है, जो मनोविकारों पर सान ही नहीं चढ़ाते बल्कि उन्हें परिमार्जित करते हुए सृष्टि के पदार्थों के साथ उनके उपयुक्त संबंध-निर्वाह पर ज़ोर देते हैं। यदि मनोवेग न हो तो स्मृति, अनुमान, बुद्धि आदि के रहते भी मनुष्य बिलकुल जड़ है। प्रचलित सभ्यता और जीवन की कठिनता से मनुष्य अपने इन मनोवेगों को मारने और अशक्त करने पर विवश होता जाता है, इनका पूर्ण और सच्चा निर्वाह उसके लिए कठिन होता जाता है और इस प्रकार उसके जीवन का स्वाद निकलता जाता है। वन, नदी, पर्वत आदि को देख आनंदित होने के लिए अब उसके हृदय में उतनी जगह नहीं। दुराचार पर उसे क्रोध वा घृणा होती है पर झूठे शिष्टाचार के अनुसार उसे दुराचारी की भी मुँह पर प्रशंसा करनी पड़ती है। जीवन-निर्वाह की कठिनता से उत्पन्न स्वार्थ के कारण उसे दूसरे के दुःख की ओर ध्यान देने, उस

पर दया करने और उसके दुःख की निवृत्ति का सुख प्राप्त करने की .फ़ुरसत नहीं। इस प्रकार मनुष्य हृदय को दबा कर केवल क्रूर आवश्यकता और कृत्रिम नियमों के अनुसार ही चलने पर विवश और कठपुतली-सा जड़ होता जाता है—उसकी भावुकता का नाश होता जाता है। पाखंडी लोग मनोवेगों का सच्चा निर्वाह न देख, हताश हो मुँह बना बना कर, कहने लगे हैं—"करुणा छोड़ो, प्रेम छोड़ो, क्रोध छोड़ो, आनंद छोड़ो। बस, हाथ-पैर हिलाओ, काम करो।"

यह ठीक है कि मनोवेग उत्पन्न होना और बात है और मनोवेग के अनुसार क्रिया करना और बात; पर अनुसारी परिणाम के निरंतर अभाव से मनोवेगों का अभ्यास भी घटने लगता है। यदि कोई मनुष्य आवश्यकतावश कोई निष्ठुर कार्य अपने ऊपर ले ले तो पहले दो-चार बार उसे दया उत्पन्न होगी पर जब बार-बार दया का कोई अनुसारी परिणाम वह उपस्थित न कर सकेगा तब धीरे-धीरे उसकी दया का अभ्यास कम होने लगेगा।

बहुत-से ऐसे अवसर आ पड़ते हैं जिनमें करुणा आदि मनोवेगों के अनुसार काम नहीं किया जा सकता पर ऐसे अवसरों की संख्या का बहुत बढ़ना ठीक नहीं है। जीवन में मनोवेगों के अनुसारी परिणामों का विरोध प्रायः तीन वस्तुओं से होता है—(१) आवश्यकता, (२) नियम और (३) न्याय। हमारा कोई नौकर बहुत बुड्ढा और कार्य करने में अशक्त

हो गया है जिससे हमारे काम में हर्ज होता है। हमें उसकी अवस्था पर दया तो आती है पर आवश्यकता के अनुरोध से उसे अलग करना पड़ता है। किसी दुष्ट अफ़सर के कुवाक्य पर क्रोध तो आता है पर मातहत लोग आवश्यकता के वश उस क्रोध के अनुसार कार्य करने की कौन कहे, उसका चिह्न तक नहीं प्रकट होने देते। अब नियम को लीजिए—यदि कहीं पर यह नियम है कि इतना रुपया देकर लोग कोई कार्य करने पाएँ तो जो व्यक्ति रुपया वसूल करने पर नियुक्त होगा वह किसी ऐसे अकिंचन को देख, जिसके पास एक पैसा भी न होगा, दया तो करेगा पर नियम के वशीभूत हो उसे वह उस कार्य को करने से रोकेगा। राजा हरिश्चंद्र ने अपनी रानी शैव्या से अपने ही मृत पुत्र के कफ़न का टुकड़ा फड़वा नियम का अद्भुत पालन किया था। पर यह समझ रखना चाहिए कि यदि शैव्या के स्थान पर कोई दूसरी दुखिया स्त्री होती तो राजा हरिश्चंद्र के उस नियम-पालन का उतना महत्त्व न दिखाई पड़ता; करुणा ही लोगों की श्रद्धा को अपनी ओर अधिक खींचती है। करुणा का विषय दूसरे का दुःख है, अपना दुःख नहीं। आत्मीय जनों का दुःख एक प्रकार से अपना ही दुःख है। इससे राजा हरिश्चंद्र के नियम-पालन का जितना स्वार्थ से विरोध था उतना करुणा से नहीं।

न्याय और करुणा का विरोध प्रायः सुनने में आता है। न्याय से उपयुक्त प्रतीकार का भाव समझा जाता है। यदि

किसी ने हमसे १०००) उधार लिये तो न्याय यह है कि वह १०००) लौटा दे। यदि किसी ने कोई अपराध किया तो न्याय यह है कि उसको दंड मिले। यदि १०००) लेने के उपरांत उस व्यक्ति पर कोई आपत्ति पड़ी और उसकी दशा अत्यंत शोचनीय हो गई तो न्याय पालने के विचार का विरोध करुणा कर सकती है। इसी प्रकार यदि अपराधी मनुष्य बहुत रोता-गिड़गिड़ाता और कान पकड़ता है तथा पूर्ण दंड की अवस्था में अपने परिवार की घोर दुर्दशा का वर्णन करता है, तो न्याय के पूर्ण निर्वाह का विरोध करुणा कर सकती है। ऐसी अवस्थाओं में करुणा करने का सारा अधिकार विपक्षी अर्थात् जिसका रुपया चाहिए या जिसका अपराध किया गया है उसको है, न्यायकर्त्ता या तीसरे व्यक्ति को नहीं। जिसने अपनी कमाई के १०००) अलग किए, या अपराध द्वारा जो क्षति-ग्रस्त हुआ, विश्वात्मा उसी के साथ में करुणा ऐसी उच्च सद्-वृत्ति के पालन का शुभ अवसर देती है। करुणा सेंत का सौदा नहीं है। यदि न्याय-कर्त्ता को करुणा है तो वह उसकी शांति पृथक् रूप से कर सकता है, जैसे ऊपर लिखे मामलों में वह चाहे तो दुखिया ऋणी को हज़ार पाँच सौ अपने पास से दे दे या दंडित व्यक्ति तथा उसके परिवार की और प्रकार से सहायता कर दे। उसके लिए भी करुणा का द्वार खुला है।

राष्ट्र-भाषा हिंदी का भविष्य

[श्री गणेशशंकर विद्यार्थी]

राजनीतिक पराधीनता पराधीन देश की भाषा पर अत्यंत विषम प्रहार करती है। विजयी लोगों की विजय-गति विजितों के जीवन के प्रत्येक विभाग पर अपनी श्रेष्ठता की छाप लगाने का सतत प्रयत्न करती है। स्वाभाविक ढंग से विजितों की भाषा पर उनका सब से पहले वार होता है। भाषा जातीय जीवन और उसकी संस्कृति की सर्व-प्रधान रक्षिका है, वह उसके शील का दर्पण है, वह उसके विकास का वैभव है। भाषा जीती, और सब जीत लिया। फिर कुछ भी जीतने के लिए शेष नहीं रह जाता। विजितों का अस्तित्व मिट चलता है। विजितों के मुँह से निकली हुई विजयी जनों की भाषा उनकी दासता की सबसे बड़ी निशानी है। पराई भाषा चरित्र की दृढ़ता का अपहरण कर लेती है, मौलिकता का विनाश कर देती है, और नक़ल करने का

स्वभाव बना कर के उत्कृष्ट गुणों और प्रतिभा से नमस्कार करा देती है। इसीलिए जो देश दुर्भाग्य से पराधीन हो जाते हैं, वे उस समय तक, जब तक कि वे अपना कुछ नहीं खो देते, अपनी भाषा की रक्षा के लिए सदा लोहा लेते रहना अपना कर्तव्य समझते हैं। अनेक यूरोपीय देशों के इतिहास भाषा संग्राम की घटनाओं से भरे पड़े हैं। प्राचीन रोम-साम्राज्य से लेकर अब तक के रूस, जर्मन, इटैलियन, आस्ट्रियन, फ्रेंच और ब्रिटिश सभी साम्राज्यों ने अपने अधीन देशों की भाषा पर अपनी विजय-वैजयंती फहराई। भाषा-विजय का यह काम सहज में नहीं हो गया। भाषा-समर-स्थली के एक-एक इंच स्थान के लिए बड़ी-बड़ी लड़ाइयाँ हुईं। देश की स्वाधीनता के लिए मर मिटने वाले अनेक वीर-पुंगवों के समयों में इस विचार का स्थान सदा ऊँचा रहा है कि देश की भौगोलिक सीमा की अपेक्षा मातृ-भाषा की सीमा की रक्षा की अधिक आवश्यकता है। वे अनुभव करते थे कि भाषा बची रहेगी तो देश का अस्तित्व और उसकी आत्मा बची रहेगी, अन्यथा, फिर कहीं उसका कुछ भी पता न लगेगा। —

भाषा-संबंधी सब से आधुनिक लड़ाई आयरलैंड को लड़नी पड़ी थी। पराधीनता ने गैलिक भाषा का सर्वथा नाश कर दिया था। दुर्दशा यहाँ तक हुई कि इने-गिने मनुष्यों को छोड़ कर किसी को भी गैलिक का ज्ञान न रहा था,

आयरलैंड के समस्त लोग यह समझने लगे थे कि अंग्रेज़ी ही उनकी मातृ-भाषा है, और जिन्हें गैलिक आती भी थी, वे उसे बोलते लजाते थे और कभी किसी व्यक्ति के सामने उसके एक शब्द का भी उच्चारण नहीं करते थे। आत्म-विस्मृति के इस युग के पश्चात्, जब आयरलैंड की सोती हुई आत्मा जागी, तब उसने अनुभव किया कि उसने स्वाधीनता तो खो ही दी, किंतु उससे भी अधिक बहु-मूल्य वस्तु उसने अपनी भाषा भी खो दी। गैलिक भाषा के पुनरुत्थान की कथा अत्यंत चमत्कार-पूर्ण और उत्साह-वर्द्धक है। उससे अपने भाव और भाषा को विसरा देने वाले समस्त देशों को प्रोत्साहन और आत्मोद्धार का संदेश मिलता है। इस शताब्दी के आरंभ हो जाने के बहुत पीछे, गैलिक भाषा के पुनरुद्धार का प्रयत्न आरंभ हुआ। देखते-देखते वह आयरलैंड भर पर छा गई। देश की उन्नति चाहने वाला प्रत्येक व्यक्ति गैलिक पढ़ना और पढ़ाना अपना कर्त्तव्य समझने लगा। सौ वर्ष बूढ़े एक मोची से डी-वलेरा ने युवावस्था में गैलिक पढ़ी, और इसलिए पढ़ी कि उनका स्पष्ट मत था कि यदि मेरे सामने एक ओर देश की स्वाधीनता रक्खी जाय और दूसरी ओर मातृ-भाषा, और मुझसे पूछा जाय कि इन दोनों में एक कौन-सी लोगे, तो, एक क्षण के विलंब बिना मैं मातृ-भाषा को लूँगा, क्योंकि इसके बल से मैं देश की स्वाधीनता भी प्राप्त कर लूँगा।

राजनीतिक पराधीनता ने भारतवर्ष में भी उसी प्रकार, जिस प्रकार उसने अन्य देशों में किया, भाषा-विकास के मार्ग में रोड़े अटकाने में कोई कमी नहीं की। इस समय भी हिंदी को पूरा खुला हुआ मार्ग नहीं मिल रहा है। उसके निज के क्षेत्र पर केवल उसी का आधिपत्य नहीं है। अभी तक इस देश के करोड़ों बालक जिनकी मातृ-भाषा हिंदी थी, कच्ची उम्र ही में साधारण से साधारण विषयों तक की ज्ञान-प्राप्ति के लिए विदेशी भाषा के भार से दाब दिये जाते थे। अब भी उच्च शिक्षा के लिए बालक ही क्या, बालिकायें तक उसी भार के नीचे दबती हैं। उनकी मौलिक बुद्धि व्यर्थ के भार के नीचे दब कर हत-प्रभ हो जाती है, और देश और जाति को उसके लाभ से सदा के लिए वंचित हो जाना पड़ता है। शिक्षित जन अपनी संस्कृति, अपनी भूतकालिक महत्ता, अपने पूर्वजों की कृतियों से दूर तो पड़ ही जाते हैं, वे अपने और अपनों के भी पराये हो जाते हैं। बाल्य-काल से अंग्रेज़ी की छाया में पढ़ने के लिए विवश होने के कारण हमारे अधिकांश सुशिक्षित जनों के चित्त पर अंग्रेज़ी इतनी छा जाती है कि वे बहुधा मन में जो कुछ विचार करते हैं, उसे भी अंग्रेज़ी में ही करते है और अपने निकटस्थ जनों से अपनी बात कहते या लिखते हैं तो अंग्रेज़ी ही में। हिंदी में लिखे हुए अनेक सुशिक्षित सज्जनों की भाषा-शैली से इस बात का पता चल सकता है। उनका शब्द-विन्यास,

उनके वाक्यों की रचना और उनका व्याकरण, सभी अंग्रेज़ी के ढंग का प्रतिबिंब है। हमारे सुशिक्षितों ही में ऐसे लोग मिल सकते हैं, जो आपस में, यहाँ तक कि पिता-पुत्र और पति-पत्नी तक, अकारण, हिंदी में पत्र-व्यवहार करने की अपेक्षा अंग्रेज़ी में उसे करना अधिक अच्छा मानते हैं। यदि आप उनका ध्यान मातृ-भाषा की ओर आकर्षित करें, तो बहुधा यह उत्तर सुनने को मिले कि हिंदी में अभी शब्दों और मुहावरों का उतना सुंदर भांडार नहीं है। हिंदी की इसी दरिद्रता की दुहाई देकर, उच्च शिक्षा में अंग्रेज़ी का समावेश भी अनिवार्य सिद्ध किया जाता है। किंतु इस दरिद्रता का दोष जितना हमारे सुशिक्षितों पर है, उतना दूसरों पर नहीं। वे अपनी आवश्यकता को विदेशी भाषा से पूरी कर लिया करते हैं। वे विदेशी भाषा बोलना सुगम समझते हैं। यदि हिंदी पर कृपा भी करते हैं, तो बहुधा देखने में यह आता है कि उनकी बातों में अंग्रेज़ी शब्दों की भरमार होती है, और कभी-कभी तो उनके वाक्यों की हिंदी का परिचय केवल उनकी हिंदी-क्रियाओं ही से लगता है। यदि हमारे सुशिक्षित इस प्रकार भाषा की अनावश्यक और अपावन वर्ण-संकरता न करें, अपने भावों को उसमें व्यक्त करना आवश्यक समझें, तो कुछ ही समय में, हमारी भाषा की उपरि-कथित दरिद्रता दूर हो जाय,

और हिंदी भाषा-भाषियों की शिक्षा और ज्ञान का माप-दंड भी ऊँचा हो जाय।

संक्षेप में जो लोग हिंदी को मातृ-भाषा मानते हैं, उनके सामने स्पष्ट ढंग से यह बात सदा रहनी चाहिए कि हिंदी की जो इधर उन्नति हुई, वह उसकी आगामी बाढ़ के लिए कदापि ऐसी नहीं है कि हम समझ लें कि अब गाड़ी चलती जायगी, वह रुकेगी नही, अब हमें चिंता करने की आवश्यकता नहीं है। हिंदी की स्वाभाविक गति के लिए तो अनेक बाधाओं के हटाने की आवश्यकता है, किंतु उन सब के दूर होने में, तो, अभी बहुत समय लगेगा, इस बीच में कम से कम हम अवहेलना की बाधा को उपस्थित न होने दें और अचेत न हो जायँ। साहित्यिक ढंग से मातृ-भाषा के प्रचार और पुष्टि के लिए जहाँ और जिस प्रकार जो कुछ हो सके, उसका करना हम सब के लिए नितांत आवश्यक है।

हिंदी भाषा-भाषियों के उद्योग से हिंदी को राष्ट्र-भाषा का पद प्राप्त नहीं हुआ। जैसी परिस्थिति थी, उसको देखते हुए बाबू हरिश्चंद्र और उनके समकालीन हिंदी विद्वान् तो कभी इस बात को व्यवहारिक वात भी नहीं मान सकते थे कि देश के अन्य भाषा-भाषी लगभग सभी समुदाय हिंदी को इतना गौरवांवित स्थान देने के लिए तैयार हो जायँगे। किंतु सार्वदेशिक आवश्यकतायें बढती गईं, और देश भर के लिए काम करने वालों के सामने प्रकट और अप्रकट दोनों

प्रकार से यह प्रश्न उपस्थित होता गया कि वह किस प्रकार अपनी बात को देश के दूर से दूर कोने के झोंपड़े-झोंपड़े तक पहुँचावें। भगवान बुद्ध ने धर्म के प्रचार के लिए पाली को अपनाया था, देश के वर्तमान कार्य-कर्ताओं ने युग-धर्म के प्रचार और ज्ञान के लिए अनेक गुणों के कारण हिंदी को अपनाना आवश्यक समझा। नानक और कबीर, सूर और तुलसी, राष्ट्र-भाषा के लिए पहले ही क्षेत्र तैयार कर गये थे। उनकी वाणी और पद देश के कोने-कोने में उन असंख्यों श्रद्धालु नर-नारियों के कंठों से आज कई शताब्दियों से प्रतिध्वनित हो रहे हैं, जिनकी मातृ-भाषा हिंदी नहीं है। हिंदी के फ़ारसी-मिश्रित रूप उर्दू ने भी एक विशेष दिशा में एक बहुत बड़ा काम किया था। देश भर में जहाँ भी मुसलमान बसते हैं, वहाँ की भाषा चाहे कोई भी क्यों न हो, वे उर्दू के रूप में हिंदी समझते हैं, और हिंदी बोलते हैं। अंग्रेज़ी शासन-काल में फ़ारसी के स्थान पर आसीन होने पर उर्दू हिंदी के मार्ग में किसी अंश में कुछ बाधा डालने वाली अवश्य सिद्ध हुई, किंतु, अब ऐसी कदापि नहीं है, और उसका जन्म हिंदी के विरोध के लिए नहीं, हिंदी की वृद्धि के लिए हुआ। मेरी धारणा तो यह है कि उर्दू के रूप में मुसलमान भारतीयों ने हिंदी की और भारतवर्ष की अर्चना की। उर्दू वह वाणी-पुष्प है जिसे मुसलमानों ने इस देश के हो जाने के पश्चात्, भक्ति-भाव से माता का अरदास

करते हुए उसके चरणों में चढ़ाया। आज नहीं, जब यह राष्ट्र पूर्ण राष्ट्र हो जाने के योग्य होगा, जब संसार के अन्य बड़े राष्ट्रों के समकक्ष खड़े होने में यह समर्थ होगा, उस समय राष्ट्र-भाषा के निर्माण में उर्दू और उसके द्वारा देश की जो सेवा मुसलमान भारतीयों से बन पड़ी, उसका वर्णन इतिहास में स्वर्णांकित अक्षरों में होगा। स्वामी दयानंद, आर्यसमाज और गुरुकुलों ने हिंदी को राष्ट्र-भाषा बनाने में बड़ा काम किया। राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक आंदोलनों से राष्ट्र-भाषा के आंदोलन को बहुत बल मिला। सुदूर प्रांतों तक में राष्ट्र-भाषा और राष्ट्र-लिपि की आवश्यकता अनुभव होने लगी। कृष्णस्वामी अय्यर, जस्टिस शारदा-चरण मित्र, महाराज सयाजीराव गायकवाड़, जस्टिस आशुतोष मुखर्जी आदि ने आज से बहुत पहले इस दिशा में बहुत उद्योग किया था। अन्य भाषा-भाषियों ने देश-भक्त और राष्ट्र-निर्माण के विचार से हिंदी को अपनाना आरंभ किया। मराठी और गुजराती की साहित्य-परिषदों ने हिंदी को राष्ट्र-भाषा स्वीकार किया। महात्मा गांधी के इस प्रश्न के अपने हाथ में लेने के पश्चात् तो राष्ट्र-भाषा हिंदी का प्रचार विधिवत् अन्य प्रांतों में होने लगा, और दक्षिण में जहाँ सबसे अधिक कठिनाई थी, बहुत संतोष-जनक काम हुआ है। राष्ट्रीय महासभा कांग्रेस ने भी हिंदी को राष्ट्र-भाषा स्वीकार कर लिया है, और अब, देश के विविध भागों से आये हुए उसके

प्रतिनिधि उसका अधिकांश कार्य हिंदी में करते हैं। राष्ट्र-भाषा के रूप में हिंदी का स्थान निर्विवाद-रूपेण सुरक्षित है। उर्दू वालों को पहले चाहे जो आपत्ति रही हो, किंतु अब वे भी इसे मानने लगे हैं कि उर्दू हिंदी ही का फ़ारसी-मिश्रित रूप है, और कई मुसलमान नेता तक हिंदी को राष्ट्र-भाषा के नाम से पुकारना आवश्यक और गौरव की बात समझते हैं। इस द्रुत गति से, बहुत ही थोड़े समय में हिंदी का इस स्थान को प्राप्त कर लेना देश में नये जीवन के उदय का विशेष चिह्न है।

राष्ट्र-भाषा का काम अभी तक केवल भारत ही में हुआ है, बृहत्तर भारत अभी तक उससे कोरा है। लाखों भारतवासी विदेशों में पड़े हुए हैं, वे अपनी वेश-भूषा और भाषा भूलते जाते हैं। अभी तक वे इस देश के हैं, और देश के नाम पर विदेशों में टूटे-फूटे रूप में हिंदी को अपनाते हैं। किंतु धीरे-धीरे भारतीय संस्कृति का अधिकार उन पर से कम होता जाता है, और संभव है कि कुछ समय पश्चात् वे नाम-मात्र ही के लिए भारतीय रह जायँ। उनको अपने बनाये रखने, और हिंदी का संदेश संसार के अनेक स्थलों में पहुँचाने का यही सब से सुगम उपाय है कि उन तक राष्ट्र-भाषा हिंदी का संदेश पहुँचाया जाय। इस महा-यज्ञ में सब की और सब प्रकार की शक्तियों का संयोजित होना आवश्यक है। कुछ कर सकने योग्य कोई भी भारतीय ऐसा न बचे, जो

अपनी शक्ति भर भारतवर्ष की राष्ट्र-भाषा की भीतरी और बाहरी वृद्धि के काम में हाथ बटाने के लिए आगे न बढ़े।

मनुष्य के भाग्य का नक्षत्र उसे अपने जीवन के लक्ष्य की ओर प्रेरित किया करता है। मनुष्य के समूह, जातियाँ और राष्ट्रों के रूप धारण करके दैवी बल की प्रेरणा से अपने हिस्से के विश्व-वृत्त की पूर्ति करते हैं। भाषा और उसके साहित्य के जन्म और विकास की रेखायें भी किसी विशेष ध्येय से शून्य नहीं हुआ करतीं। हिंदी भाषा और हिंदी साहित्य का भविष्यत् भी बहुत बड़ा है। उसके गर्भ में निहित भवितव्यतायें इस देश और उसकी भाषा द्वारा संसार भर के रंग-मंच पर एक विशेष अभिनय कराने वाली हैं। मुझे तो ऐसा भासित होता है कि संसार की कोई भी भाषा मनुष्य जाति को उतना ऊँचा उठाने, मनुष्य को यथार्थ में मनुष्य बनाने और संसार को सुसभ्य और सद्भावनाओं से युक्त बनाने में उतनी सफल नहीं हुई जितनी कि आगे चल कर हिंदी भाषा होने वाली है। हिंदी को अपने पूर्व-संचित पुण्य का बल है। संसार के बहुत बड़े विशाल खंड में जिस समय सर्वथा अंधकार था, लोग अज्ञान और अधर्म में डूबे हुए थे, विश्व-बंधुत्व और लोक-कल्याण का भाव भी उनके मन में उदय नहीं हुआ था, उस समय इस देश से सुदूर देश-देशांतरों में फैल कर बौद्ध भिक्षुओं ने बड़े-बड़े देशों से लेकर अनेकानेक उपत्यकाओं, पठारों और तत्कालीन

पहुँच से बाहर गिरि-गुहाओं और समुद्र-तटों तक जिस प्रकार धर्म और अहिंसा का संदेश पहुँचाया था उसी प्रकार अदूर भविष्यत् में उन पुनीत संदेश-वाहकों की संतति संस्कृत और पाली की अग्रजा हिंदी द्वारा भारतवर्ष और उसकी संस्कृति के गौरव का संदेश एशिया महाखंड के प्रत्येक रंग-मंच पर सुनावेगी। मुझे तो वह दिन दूर नहीं दिखाई देता जब हिंदी साहित्य, अपने सौष्ठव के कारण जगत्-साहित्य में अपना विशेष स्थान प्राप्त करेगा और हिंदी, भारतवर्ष ऐसे विशाल देश की राष्ट्र-भाषा की हैसियत से, न केवल एशिया महाद्वीप के राष्ट्रों की पंचायत में, किंतु संसार भर के देशों की पंचायत में, एक साधारण भाषा के समान न केवल बोली भर जायगी, किंतु अपने बल से, संसार की बड़ी-बड़ी समस्याओं पर भरपूर प्रभाव डालेगी, और उसके कारण अनेक अंतर्राष्ट्रीय प्रश्न बिगड़ा और बना करेंगे। संसार की अनेक भाषाओं के इतिहास, धमनियों में बहने वाले ठंडे रक्त को उष्ण कर देने वाली उन मार्मिक घटनाओं से भरे पड़े हैं, जो उनके अस्तित्व की रक्षा के लिए घटित हुईं। फ्रांस की किरचों की नोक छाती पर गड़ी हुई होने पर भी रूर प्रांत के जर्मनों ने अपनी मातृ-भाषा के न छोड़ने की दृढ़ प्रतिज्ञा की और उसका अक्षर-अक्षर पालन किया। कनाडा के फ्राँसीसियों का अपनी मातृ-भाषा के लिए प्रयत्न करना किसी समय अपराध था, किंतु घमंडी

मनुष्यों के बनाये हुए इस क़ानून का मातृ-भाषा के भक्तों ने सदा उल्लंघन किया। इटली आस्ट्रिया के छीने हुए भू-प्रदेशों के लोगों के गले के नीचे ज़बर्दस्ती अपनी भाषा उतारना चाहता था, किंतु वह अपनी समस्त शक्ति से भी मातृ-भाषा के प्रेमियों को न दबा सका। आस्ट्रिया ने हंगरी को पद-दलित करके उसकी भाषा का भी नाश करना चाहा, किंतु आस्ट्रिया-निर्मित राज-सभा में बैठ कर हंगरी वालों ने अपनी भाषा के अतिरिक्त दूसरी भाषा में बोलने से इन्कार कर दिया था। दक्षिण अफ्रीका के जेनरल बोथा ने केवल इस बात के सिद्ध करने के लिए कि न उनका देश विजित हुआ और न उनकी आत्मा ही, बहुत अच्छी अंग्रेज़ी जानते हुए भी, बादशाह जार्ज से साक्षात् होने पर अपनी मातृ-भाषा डच में बोलना ही आवश्यक समझा और एक दो-भाषिया उनके तथा बादशाह के बीच में काम करता था।

यद्यपि हिंदी के अस्तित्व पर अब इस प्रकार के खुले प्रहार नहीं होते, किंतु ढँके मुँदे प्रहारों की कमी भी नहीं है, जो उस पर और इस प्रकार, देश की सु-संस्कृति पर विजय प्राप्त करना चाहते हैं। साहस के साथ और उस अगाध विश्वास के साथ जो हमें हिंदी भाषा और उसके साहित्य के परमोज्ज्वल भविष्यत् पर है, हमें इस प्रकार के प्रहारों का सामना करना चाहिए, और जितने बल और क्रिया-शीलता के साथ हम ऐसा करेंगे, जितनी द्रुत-गति के साथ हम अपनी

भाषा की त्रुटियों को पूरा करेंगे और उसे ३२ करोड़ व्यक्तियों की राष्ट्र-भाषा के समान बलशाली और गौरव-युक्त बनावेंगे उतना ही शीघ्र हमारे साहित्य-सूर्य की रश्मियाँ दूर-दूर तक समस्त देशों में पड़ कर भारतीय संस्कृति, ज्ञान और कला का संदेश पहुँचावेंगी, उतने ही शीघ्र हमारी भाषा में दिये गये भाषण संसार की विविध रंगस्थलियों में गुंजरित होने लगेंगे और उनसे मनुष्य जाति-मात्र की गति-मति पर प्रभाव पड़ता हुआ दिखाई देगा, और उतने ही शीघ्र एक दिन और उदय होगा और वह होगा तब, जब इस देश के प्रतिनिधि उसी प्रकार, जिस प्रकार आयरलैंड के प्रतिनिधियों ने इंगलैंड से अंतिम संधि करते और स्वाधीनता प्राप्त करते समय, अपनी विस्मृत भाषा गैलिक में संधि पत्र पर हस्ताक्षर किये थे, भारतीय स्वाधीनता के किसी स्वाधीनता पत्र पर हिंदी भाषा में और नागरी अक्षरों में अपने हस्ताक्षर करते हुए दिखाई देंगे।

कहानी

[मुंशी प्रेमचंद]

एक आलोचक ने लिखा है कि इतिहास में सब-कुछ यथार्थ होते हुए भी वह असत्य है, और कथा-साहित्य में सब-कुछ काल्पनिक होते हुए भी वह सत्य है।

इस कथन का आशय इसके सिवा और क्या हो सकता है कि इतिहास आदि से अंत तक हत्या, संग्राम और धोखे का ही प्रदर्शन है, जो असुंदर है इसलिए असत्य है। लोभ की क्रूर से क्रूर, अहंकार की नीच से नीच, ईर्ष्या की अधम से अधम घटनाएँ आपको वहाँ मिलेंगी, और आप सोचने लगेंगे, 'मनुष्य इतना अमानुष है! थोड़े-से स्वार्थ के लिए भाई भाई की हत्या कर डालता है, बेटा बाप की हत्या कर डालता है और राजा असंख्य प्रजाओं की हत्या कर डालता है!' उसे पढ़ कर मन में ग्लानि होती है आनंद नहीं, और जो वस्तु आनंद नहीं प्रदान कर सकती, वह सुंदर नहीं हो

सकती, और जो सुंदर नहीं हो सकती वह सत्य भी नहीं हो सकती। जहाँ आनंद है वहीं सत्य है। साहित्य काल्पनिक वस्तु है पर उसका प्रधान गुण है आनंद प्रदान करना, और, इसलिए वह सत्य है।

मनुष्य ने जगत् में जो कुछ सत्य और सुंदर पाया है और पा रहा है उसी को साहित्य कहते हैं, और कहानी भी साहित्य का एक भाग है।

मनुष्य-जाति के लिए मनुष्य ही सब से विकट पहेली है। वह खुद अपनी समझ में नहीं आता। किसी न किसी रूप में वह अपनी ही आलोचना किया करता है—अपने ही मनोरहस्य खोला करता है। मानव-संस्कृति का विकास ही इसलिए हुआ है कि मनुष्य अपने को समझे। अध्यात्म और दर्शन की भाँति साहित्य भी इसी सत्य की खोज में लगा हुआ है—अंतर इतना ही है कि वह इस उद्योग में रस का मिश्रण करके उसे आनंद-प्रद बना देता है, इसीलिए अध्यात्म और दर्शन केवल ज्ञानियों के लिए हैं, साहित्य मनुष्य-मात्र के लिए।

जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, कहानी या आख्यायिका साहित्य का एक प्रधान अंग है। आज से नहीं, आदि काल से ही। हाँ, आज-कल की आख्यायिका और प्राचीन काल की आख्यायिका में, समय की गति और रुचि के परिवर्तन से, बहुत कुछ अंतर हो गया है। प्राचीन आख्यायिका

कुतूहल-प्रधान होती थी या अध्यात्म-विषयक। उपनिषद् और महाभारत में आध्यात्मिक रहस्यों को समझाने के लिए आख्यायिकाओं का आश्रय लिया गया है। बौद्ध जातक भी आख्यायिक के सिवा और क्या हैं? बाइबिल में भी दृष्टांतों और आख्यायिकाओं के द्वारा ही धर्म के तत्त्व समझाये गये हैं।—सत्य इस रूप में आकर साकार हो जाता है और तभी जनता उसे समझती है और उसका व्यवहार करती है।

वर्तमान आख्यायिका मनोविज्ञानिक विश्लेषण और जीवन के यथार्थ और स्वाभाविक चित्रण को अपना ध्येय समझती है। उसमें कल्पना की मात्रा कम, अनुभूतियों की मात्रा अधिक होती है, इतना ही नहीं बल्कि, अनुभूतियाँ ही रचनाशील भावना से अनुरंजित होकर कहानी बन जाती हैं।

मगर यह समझना भूल होगी कि कहानी जीवन का यथार्थ चित्र है। यथार्थ-जीवन का चित्र तो मनुष्य स्वयं हो सकता है; मगर कहानी के पात्रों के सुख-दुःख से हम जितना प्रभावित होते हैं उतना यथार्थ जीवन से नहीं होते—जब तक वह निजत्व की परिधि में न आ जाय। कहानियों में पात्रों से हमें एक ही दो मिनट के परिचय में निजत्व हो जाता है और हम उनके साथ हँसने और रोने लगते हैं। उनका हर्ष और विषाद हमारा अपना हर्ष और विषाद हो जाता है, इतना ही नहीं, बल्कि कहानी पढ़ कर वह लोग भी रोते या हँसते देखे जाते हैं जिन पर

साधारणतः सुख-दुःख का कोई असर नहीं पड़ता। जिनकी आँखे श्मशान में या क़ब्रिस्तान में भी सजल नहीं होतीं वे लोग भी उपन्यास के मर्म-स्पर्शी स्थलों पर पहुँच कर रोने लगते हैं।

शायद, इसका यह कारण भी हो कि स्थूल प्राणी सूक्ष्म मन के उतने समीप नहीं पहुँच सकते जितने कि कथा के सूक्ष्म चरित्र। कथा के चरित्रों और मन के बीच में जड़ता का वह पर्दा नहीं होता जो एक मनुष्य के हृदय को दूसरे मनुष्य के हृदय से दूर रखता है। और अगर हम यथार्थ को हूबहू खींच कर रख दें, तो उसमें कला कहाँ है? कला केवल यथार्थ की नक़ल का नाम नहीं है।

कला दीखती तो यथार्थ है, पर यथार्थ होती नहीं। उसकी खूबी यही है कि वह यथार्थ न होते हुए भी यथार्थ मालूम हो। उसका माप-दंड भी जीवन के माप-दंड से अलग है। जीवन में बहुधा हमारा अंत उस समय हो जाता है जब यह वांछनीय नहीं होता। जीवन किसी का दायी नहीं है; उसके सुख-दुःख, हानि-लाभ, जीवन-मरण में कोई क्रम, कोई संबंध, नहीं ज्ञात होता, कम से कम मनुष्य के लिए वह अज्ञेय है। लेकिन कथा-साहित्य मनुष्य का रचा हुआ जगत् है और परिमित होने के कारण संपूर्णतः हमारे सामने आ जाता है, और जहाँ वह हमारी मानवी न्याय-बुद्धि या अनुभूति का अतिक्रमण करता हुआ पाया जाता है, हम

उसे दंड देने के लिए तैयार हो जाते हैं। कथा में अगर किसी को सुख प्राप्त होता है तो इसका कारण बताना होगा, दुःख भी मिलता है तो उसका कारण बताना होगा। यहाँ कोई चरित्र मर नहीं सकता जब तक कि मानव-न्याय-बुद्धि उसकी मौत न माँगे। स्रष्टा को जनता की अदालत में अपनी हर एक कृति के लिए जवाब देना पड़ेगा। कला का रहस्य भ्रांति है, पर वह भ्रांति जिस पर यथार्थ का आवरण पड़ा हो।

हमें यह स्वीकार कर लेने में संकोच न होना चाहिए कि उपन्यासों ही की तरह आख्यायिका की कला भी हमने पच्छिम से ली है—कम से कम इसका आज का विकसित रूप तो पच्छिम का है ही। अनेक कारणों से जीवन की अन्य धाराओं की तरह ही साहित्य में भी हमारी प्रगति रुक गई और हमने प्राचीन से जौ-भर इधर-उधर हटना भी निषिद्ध समझ लिया। साहित्य के लिए प्राचीनों ने जो मर्यादाएँ बाँध दी थीं उनका उल्लंघन करना वर्जित था, अतएव काव्य, नाटक, कथा, किसी में भी हम आगे क़दम न बढ़ा सके। कोई वस्तु बहुत सुंदर होने पर भी अरुचिकर हो जाती है जब तक उसमें कुछ नवीनता न लाई जाय। एक ही तरह के नाटक, एक ही तरह के काव्य, पढ़ते-पढ़ते आदमी ऊब जाता है और वह कोई नई चीज़ चाहता है—चाहे वह उतनी सुंदर और उत्कृष्ट न हो। हमारे यहाँ

या तो यह इच्छा उठी ही नहीं, या हमने उसे इतना कुचला कि वह जड़ीभूत हो गई। पश्चिम प्रगति करता रहा—उसे नवीनता की भूख थी, मर्यादाओं की बेड़ियों से चिढ़। जीवन के हर एक विभाग में उसकी इस अस्थिरता की, असंतोष की बेड़ियों से मुक्त हो जाने की,छाप लगी हुई है। साहित्य में भी उसने क्रांति मचा दी।

शेक्सपियर के नाटक अनुपम हैं; पर आज उन नाटकों का जनता के जीवन से कोई संबंध नहीं। आज के नाटक का उद्देश कुछ और है, आदर्श कुछ और है, विषय कुछ और है, शैली कुछ और है। कथा-साहित्य में भी विकास हुआ और उसके विषय में चाहे उतना बड़ा परिवर्तन न हुआ हो पर शैली तो बिलकुल ही बदल गई। अलिफ़-लैला उस वक्त का आदर्श था—उसमें बहुरूपता थी, वैचित्र्य था, कुतूहल था, रोमांस था—पर उसमें जीवन की समस्यायें न थीं, मनोविज्ञान के रहस्य न थे, अनुभूतियों की इतनी प्रचुरता न थी, जीवन अपने सत्य रूप में इतना स्पष्ट न था। उसका रूपांतर हुआ और उपन्यास का उदय हुआ जो कथा और नाटक के बीच की वस्तु है। पुराने दृष्टांत भी रूपांतरित होकर कहानी बन गये।

मगर सौ बरस पहले यूरोप भी इस कला से अनभिज्ञ था। बड़े-बड़े उच्च कोटि के दार्शनिक, ऐतिहासिक तथा सामाजिक उपन्यास लिखे जाते थे, लेकिन छोटी-छोटी

कहानियों की ओर किसी का ध्यान न जाता था। हाँ, परियों और भूतों की कहानियाँ लिखी जाती थीं; किंतु इसी एक शताब्दी के अंदर, या उससे भी कम में समझिए, छोटी कहानियों ने साहित्य के और सभी अंगों पर विजय प्राप्त कर ली है, और यह कहना ग़लत न होगा कि जैसे किसी ज़माने में काव्य ही साहित्यिक अभिव्यक्ति का व्यापक रूप था, वैसे ही आज कहानी है। और उसे यह गौरव प्राप्त हुआ है यूरोप के कितने ही महान् कलाकारों की प्रतिभा से, जिनमें बालज़क, मोपाँसाँ, चेख़ाफ़, टालस्टाय, मैक्सिम गोर्की आदि मुख्य हैं। हिंदी में पच्चीस-तीस साल पहले तक कहानी का जन्म न हुआ था। परंतु आज तो कोई ऐसी पत्रिका नहीं जिसमें दो-चार कहानियाँ न हों,—यहाँ तक कि कई पत्रिकाओं में केवल कहानियाँ ही दी जाती हैं।

कहानियों के इस प्रावल्य का मुख्य कारण आज-कल का जीवन-संग्राम और समयाभाव है। अब वह ज़माना नहीं रहा कि हम 'बोस्ताने-ख़याल' लेकर बैठ जायँ और सारे दिन उसी की कुंजों में विचरते रहें। अब तो हम जीवन-संग्राम में इतने तन्मय हो गये हैं कि हमें मनोरंजन के लिए समय ही नहीं मिलता; अगर कुछ मनोरंजन स्वास्थ्य के लिए अनिवार्य न होता, और हम विक्षिप्त हुए बिना नित्य अट्ठारह घंटे काम कर सकते तो शायद हम मनोरंजन का नाम भी न लेते। लेकिन प्रकृति ने हमें विवश कर दिया है;

हम चाहते हैं कि थोड़े से थोड़े समय में अधिक से अधिक मनोरंजन हो जाय—इसीलिए सिनेमा-गृहों की संख्या दिन-दिन बढ़ती जाती है। जिस उपन्यास के पढ़ने में महीनों लगते, उसका आनंद हम दो घंटों में उठा लेते हैं। कहानी के लिए पंद्रह-बीस मिनट ही काफ़ी हैं; अतएव हम कहानी ऐसी चाहते हैं कि वह थोड़े से थोड़े शब्दों में कही जाय, उसमें एक वाक्य, एक शब्द भी अनावश्यक न आने पावे; उसका पहला ही वाक्य मन को आकर्षित कर ले और अंत तक उसे मुग्ध किये रहे, और उसमें कुछ चटपटापन हो, कुछ ताज़गी हो, कुछ विकास हो, और इसके साथ ही कुछ तत्त्व भी हो। तत्त्व-हीन कहानी से चाहे मनोरंजन भले हो जाय, मानसिक तृप्ति नहीं होती। यह सच है कि हम कहानियों में उपदेश नहीं चाहते, लेकिन विचारों को उत्तेजित करने के लिए, मन के सुंदर भावों को जाग्रत् करने के लिए, कुछ न कुछ अवश्य चाहते हैं। वही कहानी सफल होती है जिसमें इन दोनों में से—मनोरंजन और मानसिक तृप्ति में से—एक अवश्य उपलब्ध हो।

सब से उत्तम कहानी वह होती है, जिसका आधार किसी मनोविज्ञानिक सत्य पर हो। साधु पिता का अपने कुव्यसनी पुत्र की दशा से दुखी होना मनोविज्ञानिक सत्य है। इस आवेग में पिता के मनोवेगों को चित्रित करना और तदनुकूल उसके व्यवहारों को प्रदर्शित करना,

कहानी को आकर्षक बना सकता है। बुरा आदमी भी बिलकुल बुरा नहीं होता, उसमें कहीं न कहीं देवता अवश्य छिपा होता है—यह मनोविज्ञानिक सत्य है। उस देवता को खोलकर दिखा देना सफल आख्यायिका-लेखक का काम है। विपत्ति पर विपत्ति पड़ने से मनुष्य कितना दिलेर हो जाता है—यहाँ तक कि वह बड़े से बड़े संकट का सामना करने के लिए ताल ठोंक तैयार हो जाता है, उसकी सारी दुर्वासना भाग जाती है, उसके हृदय के किसी गुप्त स्थान में छिपे हुए जौहर निकल आते हैं और हमें चकित कर देते हैं—यह मनोविज्ञानिक सत्य है। एक ही घटना या दुर्घटना भिन्न-भिन्न प्रकृति के मनुष्यों को भिन्न-भिन्न रूप से प्रभावित करती है—हम कहानी में इसको सफलता के साथ दिखा सकें, तो कहानी अवश्य आकर्षक होगी। किसी समस्या का समावेश कहानी को आकर्षक बनाने का सब से उत्तम साधन है। जीवन में ऐसी समस्याएँ नित्य ही उपस्थित होती रहती हैं और उनसे पैदा होने वाला द्वंद्व आख्यायिका को चमका देता है। सत्यवादी पिता को मालूम होता है कि उसके पुत्र ने हत्या की है। वह उसे न्याय की वेदी पर बलिदान कर दे, या अपने जीवन सिद्धांतों की हत्या कर डाले? कितना भीषण द्वंद्व है! पश्चात्ताप ऐसे द्वंद्वों का अखंड स्रोत है। एक भाई ने अपने दूसरे भाई की संपत्ति छल-कपट से अपहरण कर ली है, उसे भिक्षा माँगते देख कर क्या छली

भाई को ज़रा पश्चात्ताप न होगा? अगर ऐसा न हो, तो वह मनुष्य नहीं है।

उपन्यासों की भाँति कहानियाँ भी कुछ घटना-प्रधान होती है, कुछ चरित्र-प्रधान। चरित्र-प्रधान कहानी का पद ऊँचा समझा जाता है, मगर कहानी मे बहुत विस्तृत विश्लेषण की गुंजायश नहीं होती। यहाँ हमारा उद्देश संपूर्ण मनुष्य को चित्रित करना नहीं, वरन् उसके चरित्र का एक अंग दिखाना है। यह परमावश्यक है कि हमारी कहानी से जो परिणाम या तत्त्व निकले वह सर्व-मान्य हो और उसमें कुछ बारीकी हो। यह एक साधारण नियम है कि हमें उसी बात में आनंद आता है जिससे हमारा कुछ संबंध हो। जुआ खेलने वालों को जो उन्माद और उल्लास होता है वह दर्शक को कदापि नही हो सकता। जब हमारे चरित्र इतने सजीव और आकर्षक होते हैं कि पाठक अपने को उनके स्थान पर समझ लेता है, तभी उस कहानी में आनंद प्राप्त होता है। अगर लेखक ने अपने पात्रों के प्रति पाठक मे यह सहानुभूति नहीं उत्पन्न कर दी, तो वह अपने उद्देश में असफल है।

पाठकों से यह कहने की ज़रूरत नहीं है कि इन थोड़े ही दिनों में हिंदी-कहानी-कला ने कितनी प्रौढ़ता प्राप्त कर ली है। पहले हमारे सामने केवल बंगला कहानियों का नमूना था। अब हम संसार के सभी प्रमुख कहानी-लेखकों की

रचनाएँ पढ़ते हैं, उन पर विचार और बहस करते हैं, उनके गुण-दोष निकालते हैं, और उनसे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते। अब हिंदी-कहानी-लेखकों में विषय और दृष्टि-कोण और शैली का अलग-अलग विकास होने लगा है—कहानी जीवन से बहुत निकट आ गई है। उसकी ज़मीन अब उतनी लंबी-चौड़ी नहीं है। उसमें कई रसों, कई चरित्रों और कई घटनाओं के लिए स्थान नहीं रहा। वह अब केवल एक प्रसंग का, आत्मा की एक झलक का, सजीव हृदय-स्पर्शी चित्रण है। इस एक-तथ्यता ने उसमें प्रभाव, आकस्मिकता और तीव्रता भर दी है। अब उसमें व्याख्या का अंश कम, संवेदना का अंश अधिक रहता है। उस की शैली भी अब प्रवाहमयी हो गई है। लेखक को जो कुछ कहना है, वह कम से कम शब्दों में कह डालना चाहता है। वह अपने चरित्रों के मनोभावों की व्याख्या करने नहीं बैठता, केवल उसकी तरफ़ इशारा कर देता है; कभी-कभी तो संभाषणों में एक-दो शब्दों से ही काम निकाल देता है। ऐसे कितने ही अवसर होते हैं जब पात्र के मुँह से एक शब्द सुन कर हम उसके मनोभावों का पूरा अनुमान कर लेते हैं—पूरे वाक्य की ज़रूरत ही नहीं रहती। अब हम कहानी का मूल्य उसके घटना-विन्यास से नहीं लगाते—हम चाहते हैं, पात्रों की मनोगति स्वयं घटनाओं की सृष्टि करे। घटनाओं का स्वतंत्र कोई महत्त्व

ही नहीं रहा। उनका महत्त्व केवल पात्रों के मनोभावों को व्यक्त करने की दृष्टि से ही है—उसी तरह जैसे शालिग्राम स्वतंत्र रूप से केवल पत्थर का एक गोल टुकड़ा है, लेकिन उपासक की श्रद्धा से प्रतिष्ठित होकर देवता बन जाता है।—खुलासा यह कि कहानी का आधार अब घटना नहीं, अनुभूति है। आज लेखक केवल कोई रोचक दृश्य देख कर कहानी लिखने नहीं बैठ जाता। उसका उद्देश स्थूल सौंदर्य नहीं है। वह तो कोई ऐसी प्रेरणा चाहता है जिसमें सौंदर्य की झलक हो, और इसके द्वारा वह पाठक की सुंदर भावनाओं को स्पर्श कर सके।

स्वास्थ्य

[बाबू रामचंद्र वर्मा]

जब तक मनुष्य का स्वास्थ्य अच्छा न हो तब तक उसकी सारी संपत्ति प्रायः व्यर्थ-सी होती है। प्रत्येक मनुष्य को अपने स्वास्थ्य का अधिक ध्यान रहता है। अस्वस्थ मनुष्य का जीवन सदा दुःख-पूर्ण हुआ करता है। शरीर को स्वस्थ और सुखी रखने के लिए प्रत्येक अंग से सदा काम लेते रहना चाहिए। प्रकृति का यही नियम है और जो इसका पालन करता है वह सुखी रहता है। यदि हम बीमार हो जायं तो समझ लेना चाहिए कि हमने किसी नियम का अतिक्रमण किया है। रोग मानों हमें प्रकृति के नियमों से परिचित कराता है और भविष्य में उनका पालन करने के लिए सचेत करता है। जो मनुष्य प्रकृति के नियमों का पालन नहीं करता वह अनेक प्रकार के दुःख भोगता है।

बड़े-बड़े नगरों में बहुत ही घनी बस्ती हुआ करती है।

यहाँ छोटे, तंग, अँधेरे और गंदे स्थानों में बहुत-से लोग मिल कर रहते हैं। फल यह होता है कि वहाँ की वायु दूषित हो जाती है और उससे ज्वर, हैजा और प्लेग आदि अनेक रोग उत्पन्न होते हैं। अधिक मनुष्यों के बहुत पास-पास रहने के कारण इन रोगों को बढ़ते और भयंकर रूप धारण करते अधिक विलंब नहीं लगता और शीघ्र ही बहुत से प्राणों का बलिदान हो जाता है, इसलिए मनुष्य को स्वच्छ वायु की बहुत बड़ी आवश्यकता है। ऐसा प्रायः देखा गया है कि जो लोग दूषित वायु में रहने के कारण रोगी हो गए हों, वे स्वच्छ वायु में रहने से शीघ्र ही नीरोग हो जाते हैं। यही कारण है कि नगर में रहनेवालों की अपेक्षा देहात मे रहनेवालों का स्वास्थ्य अधिक अच्छा होता है।

मनुष्य को पशु की स्थिति से उन्नत बनाने के लिए उसके वास्ते स्वच्छ घर का प्रबंध करना बहुत आवश्यक है। बालकों की उत्पत्ति घर में ही होती है और वहीं वे संसार के भले-बुरे और कर्त्तव्याकर्त्तव्य का ज्ञान प्राप्त करते हैं। जो घर खुला हुआ है और साफ़-सुथरा होता है उसमें रहनेवालों का शारीरिक और नैतिक जीवन दूसरों की अपेक्षा अच्छा होता है। बालकों के चरित्र सुधारने में पाठशालाओं के शिक्षकों की अपेक्षा उनके माता-पिता और भाई-बहनों की सहायता की अधिक आवश्यकता होती है। घर का प्रभाव मनुष्य के जीवन पर बहुत अधिक पड़ता है और इसी लिए

अच्छे और साफ़-सुथरे घरों में रहनेवाले लोगों के विचार और कार्य अधिक उत्तम होते हैं।

घर को केवल खाने-पीने और सोने का ही स्थान न समझ लेना चाहिए; मनुष्य के सब प्रकार के गार्हस्थ्य सुखों का स्थान घर ही है। घर की सुंदरता और स्वच्छता स्त्री पर निर्भर होती है। इसलिए स्त्रियों को ऐसी शिक्षा देनी चाहिए जिसमें वे घर का सुप्रबंध करके उसे सुख-जनक बना सकें। प्रत्येक बालिका को इस बात का ध्यान रख कर शिक्षा देनी चाहिए कि आगे चल कर वह गृह-स्वामिनी और अनेक संतानों की माता बनेगी और अनेकों का सुख-दुःख उसकी योग्यता पर निर्भर होगा। जो स्त्रियाँ गृहस्थी के सब काम उत्तमता-पूर्वक करना नहीं जानतीं उनके संबंधी प्रायः दुखी रहते हैं। पुरुष ऐसे कामों से प्रायः उदासीन रहते हैं और स्त्रियों का ध्यान भी उस ओर दिलाने की चेष्टा नहीं करते। इसी लिए पहले गृहस्थी के सुख का और पीछे गृहस्थी का भी नाश हो जाता है।

बहुत लोग मित-व्यय के विचार से छोटे, गंदे और तंग घरों में रहते हैं और अपनी शारीरिक दशा बहुत बिगाड़ लेते हैं। ऐसा मित-व्यय, वास्तविक मित-व्यय नहीं बल्कि सर्व-नाश का कारण है! गंदे घरों में रहने के कारण मनुष्य रोगी हो जाता है और महीनों अपना काम-धंधा नहीं कर सकता। इन सब कामों में किफ़ायत करके मनुष्य को अपने लिए

स्वच्छ और खुले मकान का प्रबंध करना चाहिए। जो लोग मकान बनवाते हों उन्हें भी सदा इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि उनके सब कमरे खुले और हवादार हों। दोनों दशाओं में धन और स्थान उतना ही लगता है, पर थोड़ी बुद्धिमत्ता और दूरदर्शिता से वह अनेक प्रकार से लाभदायक बन सकता है। यदि घर सदा साफ़-सुथरा रहे और गृह-स्वामिनी बुद्धिमती और मित-व्ययी हो तो उस गृहस्थी के स्वर्ग-तुल्य होने में कोई संदेह नहीं रह जाता।

स्वास्थ्य और स्वच्छता के लिए स्वच्छ जल और स्वच्छ वायु की बहुत बड़ी आवश्यकता होती है। जहाँ कोई चीज़ या जगह ज़रा गंदी हो तुरंत उसे साफ़ कर डालो। कुछ लोग सफ़ाई को बिलकुल अनावश्यक समझते हैं और प्रायः इससे बहुत हानि उठाते हैं। जिस स्थान पर किसी प्रकार की बीमारी हो उसे स्वच्छ और शुद्ध करते ही वहाँ से बीमारी दूर हो जाती है। बंगाल प्रांत को लीजिए। वहाँ मलेरिया की बहुत अधिकता इसी लिए है कि वहाँ स्वच्छता का बहुत अभाव है। वहाँ प्रत्येक गाँव में एक छोटा ताल होता है जिसमें सारे गाँव के मनुष्य और पशु नहाते हैं, वहीं सब घरों के बर्तन माँजे और धोए जाते हैं और अधिकांश लोग उसी के किनारे पेशाब करते और स्त्रियाँ उसी में आबदस्त लेती हैं। यदि गाँव में कुओं की अधिकता न हुई तो उसी ताल का जल पीने के काम में भी आता है।

भला ऐसे स्थानों में रहनेवालों के स्वास्थ्य सुधारने की क्या आशा की जा सकती है?

शारीरिक और नैतिक जीवन तथा गार्हस्थ्य और सार्व-जनिक सुख में बहुत बड़ा संबंध है। गंदे स्थानों में रहने से मनुष्य के विचार विकसित नही हो सकते और उसमें मानसिक दुर्बलता आ जाती है। ऐसा मनुष्य उन्नति करने में असमर्थ हो जाता है और उसे अनेक प्रकार के कष्ट आ घेरते हैं। जो लोग गंदगी से बचने की चेष्टा नहीं करते उनकी आर्थिक हानियाँ भी कम नहीं होती। एक ओर तो वे काम न कर सकने के कारण धनोपार्जन में असमर्थ रहते हैं और दूसरी ओर उन्हें औषधि आदि में रुपए खर्च करने पड़ते हैं। यदि निर्धन लोग ऐसे संकट में पड़ जायँ तो उनकी और भी अधिक दुर्दशा होती है और उनकी सारी गृहस्थी चौपट हो जाती है।

प्रत्येक नगर की म्युनिसिपैलिटी स्वास्थ्य-सुधार के लिए नल, कल और सफ़ाई आदि का प्रबंध करती है; पर जब तक प्रत्येक नगर-निवासी अपना-अपना घर स्वच्छ रखने का प्रबंध न करे तब तक म्युनिसिपैलिटी के उद्योगों का कोई अच्छा फल नहीं होता। स्वच्छता और स्वास्थ्य के लिए किसी प्रकार का राज-नियम उतना अधिक उपयोगी नहीं होता जितना कि व्यक्ति-गत उद्योग होता है। सरकार न तो हमारे मकानों को हवादार बना सकती है और न उन्हे स्वच्छ रखने

का कोई प्रबंध कर सकती है। यह काम स्वयं हमारा है। हमें अपना और अपने बाल-बच्चों का स्वास्थ्य उत्तम बनाए रखने के लिए अपने घरों को साफ़ और हवादार रखना बहुत आवश्यक है।

किराए के मकानों में रहनेवालों को इस संबंध में बहुत कठिनता होती है। जो लोग अपना मकान किराए पर चलाने के लिए बनवाते हैं, वे प्रायः रहनेवालों के सुभीते का बहुत ही कम ध्यान रखते हैं। अभी हाल में बंबई में किराए के मकानों के संबंध में एक आदर्श कार्य हुआ है। वहाँ के स्वर्गीय सेठ भगवानदास नरोत्तमदास की धर्मपत्नी ने अपने पति के स्मारक में प्रायः डेढ़ लाख रुपए लगा कर एक मकान बनवाया है। उस मकान में ६६ कुटुंबों के रहने के लिए बहुत ही उत्तम और स्वास्थ्य-वर्द्धक स्थान बने हैं। यह मकान किराए पर चलाया जाता है। निर्धन मनुष्यों को, जो रहने के लिए अपना मकान नहीं बनवा सकते, इस प्रकार की सहायता की बहुत बड़ी आवश्यकता है। जो महाजन और धनवान् थोड़े सूद पर अपना रुपया लगाने के साथ परोप-कार भी किया चाहते हों, उन्हें ऐसे कार्यों में यथाशक्ति सहायता दे कर पुण्य का भागी बनना चाहिए। इँगलैंड में इस प्रकार के बहुत से मकान बने हुए हैं जिनसे बहुत से लोगों को अच्छा लाभ पहुँचता है।

किराए के मकानों में रहनेवालों को परस्पर मिल कर भी

मकान की सफ़ाई आदि का प्रबंध करना चाहिए। दालान और चौक आदि नित्य धोए जाने चाहिएँ और स्वच्छ वायु आने के लिए दरवाज़े और खिड़कियाँ प्रायः खुली रहनी चाहिएँ। स्वच्छता आदि का प्रबंध स्त्रियों के ज़िम्मे रहना चाहिए। सरकार या म्युनिसिपैलिटी इसका कोई उद्योग नहीं कर सकती, उसके लिए केवल व्यक्ति-गत उद्योग की ही आवश्यकता है। मनुष्य के आचार व्यवहार आदि प्रायः वैसे ही हो जाते हैं जैसे मकानों में वे रहते हैं। जो मनुष्य गंदे, अँधेरे और बदबूदार मकानों में रहते हों वे प्रायः किसी प्रकार की उन्नति नहीं कर सकते। इसलिए जब तक रहने के मकानों का सुधार न हो, तब तक समाज या जाति की उन्नति की आशा करना भी व्यर्थ ही है।

यदि मकान साफ़-सुथरे और हवादार भी हों, पर उनमें रहनेवाले गंदे ही हों, तो भी किसी प्रकार का लाभ नहीं हो सकता। ऐसे मनुष्य मकानों को भी चौपट कर देते हैं। इसलिए लोगों को स्वच्छता-पूर्वक रहने के लाभ बतलाने की बहुत बड़ी आवश्यकता है। जो लोग कुछ पढ़े-लिखे और समझदार हों उन्हें स्वच्छता के लाभ समझाने में अधिक कठिनता नहीं होती। जो लोग कुछ दिनों तक सफ़ाई से रहें, वे आप ही आप उसके लाभ समझ सकते हैं और भविष्य में स्वच्छता-पूर्वक रह सकते हैं। सभ्यता, शिक्षा और जाति या समाज की उन्नति के मुख्य लक्षण ये ही हैं।

धूल और गर्द से हमारी अनेक प्रकार की हानियाँ होती हैं। जिस चीज़ पर धूल और गर्द पड़ जाती है उसका सौंदर्य और मूल्य घट जाता है। सुंदरी स्त्रियाँ भी यदि मैली-कुचैली रहें तो उन्हें देख कर घृणा होने लगती है। बालकों के विचार और आचार, गंदे रहने से, खराब हो जाते हैं। जिस व्यक्ति का शरीर स्वच्छ नहीं रहता उसका हृदय शुद्ध होने की बहुत कम संभावना रहती है। आत्मा रूपी देवता का मंदिर शरीर है; इसलिए मंदिर की शुद्धि और स्वच्छता भी देवता की योग्यता के अनुसार ही होनी चाहिए। गंदे मनुष्य अनेक प्रकार के नाश करनेवाले मादक द्रव्यों के भी अभ्यस्त हो जाते हैं। शराबी, अफ़ीमची, गँजेड़ी और चंडूबाज सभी गंदे होते हैं। जो लोग स्वच्छता से रहना सीख जायँगे, वे इस प्रकार के नष्ट नशों के बहुत ही कम अभ्यस्त होंगे। यह निश्चित सिद्धांत है कि स्वच्छता-पूर्वक रहनेवालों की आत्मा भी प्रायः स्वच्छ ही रहती है क्योंकि शरीर की ऊपरी दशा का बहुत बड़ा प्रभाव उसकी भीतरी अवस्था पर होता है।

स्वच्छता हिंदू धर्म का एक प्रधान अंग समझा जाता है। हमारे सभी धार्मिक बंधन हमें स्वच्छ रहने के लिए विवश करते हैं। हमारे यहाँ बिना स्नानादि किए पूजा और भोजन का विधान ही नहीं है। स्वच्छ रहना केवल पुण्य का कारण ही नहीं बल्कि स्वयं पुण्य है। शारारिक और

आत्मिक स्वच्छता का बड़ा भारी संबंध है। हिंदू स्वयं नित्य स्नान करते हैं, अपने देवताओं को स्नान कराते हैं और मंदिरों को धोते और स्वच्छ रखते हैं। प्रातःकाल उठते ही हमें अपनी शारीरिक स्वच्छता के लिए अनेक कार्य करने पड़ते हैं। कुओं या तालाबों में नहाने की अपेक्षा नदियों में नहाना हमारे यहाँ अधिक पुण्य का कार्य समझा जाता है पर अपने धर्म और देश से घृणा करनेवाले कुछ नवीन शिक्षित ऐसे कार्यों को बिलकुल निरर्थक और अनावश्यक समझते हैं। ऐसे लोगों को इन बातों से शिक्षा प्राप्त करनी चाहिए।

जीव मात्र का सुख और कल्याण प्रायः ऐसी बातों पर ही निर्भर है जो आरंभ में देखने में बहुत ही तुच्छ मालूम होती हैं। जब तक ऐसी छोटी छोटी बातों पर ध्यान न दिया जाय तब तक वास्तविक शारीरिक और आत्मिक सुख नहीं होता। जिन बालकों को नित्य स्नान कराया जाता, स्वच्छ भोजन कराया जाता और अच्छा कपड़ा पहनाया जाता है, उनका स्वास्थ्य भी अच्छा रहता है और उनकी बुद्धि भी प्रखर होती है। पर यदि इन सब बातों का ठीक प्रबंध न किया जाय तो परिणाम विपरीत और दुःखदायी होता है। ये ही बालक आगे चल कर बड़े और समझदार होते हैं। यदि आरंभ में ही उन्हें स्वच्छता का अभ्यास न डाला जाय तो भविष्य जीवन में उन्हें बहुत कम सुख मिलता है।

भोजन आदि बनाने, बालकों का पालन-पोषण करने और गृहस्थी के अन्य प्रबंध के लिए स्त्रियों को स्वच्छता की शिक्षा देना परम आवश्यक है। इसके सिवा उन्हें मित-व्यय भी सिखाना चाहिए। घर का अधिकांश व्यय उन्हीं के हाथों में होता है। जो स्त्रियाँ घर का सुप्रबंध नहीं कर सकतीं और न घर का हिसाब-किताब रख सकती हैं वे अपने कुटुंबियों को विपत्ति में डाल देती हैं। फूहड़ स्त्रियाँ घर को चौपट कर देती हैं। ऐसी स्त्रियों के हाथ के बने हुए भोजन स्वास्थ्य के लिए बहुत हानिकारक होते हैं। नासमझ स्त्रियाँ धनवानों के घर जाकर उन्हें सब प्रकार से दुखी कर देती हैं और समझदार स्त्रियाँ गरीबों के घर जाकर भी उन्हें सब तरह से सुखी बना देती हैं। तात्पर्य यह कि स्त्रियों के अशिक्षित और नासमझ होने के कारण पुरुषों को बहुत बड़ी-बड़ी हानियाँ उठानी पड़ती हैं। समाज या जाति का कल्याण और नाश बहुधा सुघर और फूहड़ स्त्रियों पर ही निर्भर होता है; इसलिए स्त्री-शिक्षा उन्नति का बहुत आवश्यक कारण ही नहीं बल्कि अंग भी है।

मृत्यु

[श्री चतुरसेन शास्त्री]

तू आगई ? अभी से ? पहले से कुछ भी सूचना नहीं दी ? बिना बुलाये ? बिना ज़रूरत ? ना, तू लौट जा। अब मैं नहीं मरना चाहता।

एकदम सिर पर क्यों खड़ी है ? थोड़ा पीछे हट कर खड़ी हो। ठहर, ज़रा मुझे एक साँस और लेने दे। गला क्यों घोटे डालती है ?

वह तू ही थी ? एक बार आँख भर कर तो देख लेने दे, कैसा तेरा रूप है। तुझे तो कितनी बार पुकारा। मन ने कहा था, सब दुःखों की शांति तेरे पास है। तू सब कष्टों की दवा है। तब तू न आई थी। कष्ट मिट गये। अब क्या काम है ? ना। अब मैं तुझे नहीं चाहता। जा। वे दिन कट गये हैं। कितना लंबा जीवन-पथ काटा है ! रास्ते भर चाहना ने उकसाया और आशा ने झांसे दिये, सिद्धि के नाम

सदा दो धक्के मिले। मैंने सोचा, जब चल ही दिया हूँ, तो मंजिल तो तै करनी ही होगी। मैंने झूठ देखा न सच, पाप देखा न पुण्य, सिद्धि की आराधना की। जैसा बना, धर्म की हत्या की, आत्म-संमान को जूते लगाये, स्वास्थ्य को संखिया दिया, सुख और शांति तक को दुर्वचन कहे। अंत में सिद्धि मिली है—मिली कहाँ मिलने को सिर्फ़ राज़ी हुई है। अब तू कहती है-"चलो, अभी चलो!" ना, अभी नहीं। अभी तो थाल परस कर सामने आया है। तेरा कसूर नहीं। सारा समय तैयारी में बीत गया। रसोई बनी ही बहुत देर से, इतनी देर से कि बनते बनते भूख ही मर गई, जठरा जठर को खा कर बुझ गई, मन थक कर सोने लगा। पर जब बन ही गई है, तो खा लूँ—ज़रा चख ही लूँ। इतनी साधना की वस्तु कहीं छोड़ी जाती है? तू थोड़ी और कृपा कर, अभी जा। मेरी इच्छा होगी तो मैं फिर तुझे पुकार लूँगा। पहले भी तो पुकारा था। अनेक बार पुकारा था। तुझे शपथ है, बिना बुलाये मत आना। दुःख के दिन तो बीत गये, अब किसे मरने की चाह है?

लौट नहीं सकती? किसी तरह नहीं? यह तो बड़ा अत्याचार है। अच्छा, किसी तरह भी नहीं? हाय! मैंने तो कुछ तैयारी भी नहीं की। यात्रा क्या छोटी है? यात्रा में ही जीवन गया, अब फिर महा-यात्रा? हे भगवान्! यह कैसा संसार है? शास्त्र कहते हैं—"यह चक्र है।" अच्छी बात

है—चक्र है तो घूमा करे। किसी का क्या हर्ज है? पर यह दूसरों को घुमाता क्यों है? किस मतलब से? किस अधिकार से? यह तो ख़ासी धींगा-मुश्ती है। बड़ा अत्याचार है। जब तक जीओ तब तक संसार-यात्रा, और जीने के योग्य न रहो तो परलोक-यात्रा! अभागा जीव केवल नित्य यात्री है, जिसे विश्राम का अधिकार ही नहीं। हाय! पहले यह मालूम होता तो यह महल, यह सुख-साज, ये ठाठ-बाट, यह मोह मैत्री-व्यवहार क्यों बढ़ाता? इस महल की सफ़ेदी के पीछे कितने दीनों का खून है? इस मेरे बिछौने के नीचे कितनों की रोटी का सत्त्व है? तब यह बात मालूम हो जाती, तो यह सब क्यों करता? तब तो सोचा था। एक दिन की बात तो है नहीं, जो दुःखम सुखम काट लें। मरने वाले मरें। घर आई लक्ष्मी को क्यों छोड़ें? हाय! अब उन्हें कहाँ पाऊँ। उनका व्यर्थ शाप लिया। मृत्यु! थोड़ा ठहर! अब यह संपदा तो व्यर्थ ही है। ठहर! इसे उन्हें बाँट जाऊँ जिनके कंठ से निकाली गई है। पर उनमें कितने बचे हैं? कितने भूखे तड़प कर मरे, कितने जेल में मिट्टी काटते मरे। उनकी स्त्रियों ने जंवानी में विधवा होकर मुझे कोसा। यह माना कि उन पर मेरा ऋण था। पर यदि उन पर नहीं था—सचमुच नहीं था, तो क्या मुझे उन्हें जेल में डलवा देना चाहिए था? पिटवाना चाहिए था? बर्तन कपड़े नीलाम करा लेने चाहिए थे? मुझे कमी क्या

थी ? बुरा किया, ग़ज़ब किया। हे भाइयो, क्षमा करना। अकेला जा रहा हूँ। मृत्यु! मृत्यु ! क्या इसमें से थोड़ी भी नहीं ले जा सकता हूँ ? थोड़ी-सी सिर्फ़ तसल्ली के लिए। क्या किसी तरह नहीं ? हाय ! हाय ! अच्छा मृत्यु ! ले, आधा ले ले। इस समय टल जा। सब ही ले जा, पर मुझे छोड़ दे।

हरे राम ! तुझे दया नहीं है। कैसी निष्ठुर है, मूर्तिमती हत्यारी है। ऊपर क्यों चढ़ी आती है ? ना—ना—छूना मत। हाथ मत लगाना। छूते ही मर जाऊँगा ! हाय! हाय! सब यहीं रहे ? मैं अकेला चला। कुछ भी पहले से मालूम होता, तो तैयारी कर लेता। भगवान् का नाम जपता, पुण्य-धर्म करता। कुछ भी न कर पाया ! विश्राम के स्थल पर पहुँच कर एक साँस भी अघा कर न ली कि डायन आगई। हे भगवान्! हे विश्वंभर! हे दीनबंधु! हे स्वामी! हा—नाथ! हे नाथ! तुम्हीं हो—तुम्हीं हो—तुम्हीं हो।

हीरा और कोयला

[श्री राय कृष्णदास]

हीरा—मेरे पास तू कैसे ?

कोयला—क्यों ? तेरा और मेरा तो जनम का साथ है।

हीरा—'जनम का साथ है' चल हट, दूर हो यहाँ से।

कोयला—क्या तू मेरी बात झूठ मानता है ? अरे, हम सगे भाई हैं।

हीरा—क्या कहना है, चोरी और सीनाज़ोरी। अभी तक जनम का साथी बनता था, अब भाई बनने लगा। मैं गोरा-चिट्टा, तू काला-कलूटा। भला, कौन कहेगा, तू मेरा भाई है।

कोयला—अरे, मैं तेरा सगा ही नहीं, सगा बड़ा भाई हूँ। एक ही पेट से पहले मेरा जनम होता है, तब तेरा।

हीरा—तभी न हम दोनों एक-से हैं !

कोयला—यह तो ईश्वरीय देन है। क्या देव और दानव भाई नहीं?

हीरा—सोलहो आने सच। लेकिन दानव तू ही हुआ, क्योंकि तू मेरा वड़ा बनता है।

कोयला—कौन दानव है और कौन देव, यह तो कर्म से विदित होगा। अपने मुँह से कहने की क्या आवश्यकता? फिर देवता के अनुयायी ही असुरों की इतनी निंदा करते आए हैं। यदि देखा जाय, तो बेचारे असुर सदा ही देवताओं से छले गए हैं।

हीरा—अच्छा, रहने दे अपने पास अपनी दार्शनिकता। आ, हम अपनी-अपनी करनी तो देख लें कि तू मेरा बड़ा भाई होने योग्य है या नहीं।

कोयला—बहुत ठीक, बहुत ठीक, तुझे ही अपनी बड़ाई का बड़ा घमंड है; तू ही अपने गुण कह चल।

हीरा—बनता तो है मेरा सहोदर, पर तुझे मेरे गुण तक विदित नहीं। न सही, पर क्या तेरी आँखें भी फूट गई हैं? पहले तो मेरा रूप ही देख। यदि मुझमें और गुण न भी हों, तो इतना ही मेरी बड़ाई के लिए बहुत है—मैं जहाँ रहता हूँ सूरज की तरह चमकता हूँ, रंग-बिरंगी किरनें मुझमें से निकला करती हैं। देखनेवालों की आँखें खुल जाती हैं, तबियत हरी हो जाती है।

कोयला—क्या कहना है, तू तो एक कंकड़-जैसा खान

के बाहर आता है; वह तो हीरा-तराश तुझे यह कृत्रिम रूप देता है। तेरा अपना प्रकाश कहाँ? तू तो समस्त वर्णों और प्रकाशों से शून्य है। तुझमें जैसी छाया और आभा पड़ी, वैसा ही बन जाता है—गंगा गए, गंगादास; जमुना गए, जमुनादास। यदि तू कहीं अँधेरे में पड़ा रहे, तो लोगों की ठोकरें......।

हीरा—ज़रा ही में गरम हो गया। पूरी बात तो सुन लेता। सुन—मैं राज-राजेश्वरों के सिर पर बैठता हूँ। देवताओं का मुकुट सुशोभित करता हूँ; सुंदरियों का आभूषण बनता हूँ।

कोयला—हाँ, तू अपने कारण सम्राटों का सिर कटाता है। बड़े-बड़े राज्य तहस-नहस करा डालता है। मनुष्य को इस धोखे में डालता है कि तुझे देव-मुकुट में लगा कर वह देवता को अपने वश कर सकता है। सुंदरियों की सहज रमणीयता पर भी अपनी कृत्रिमता से पानी फेरता है।

हीरा—मैं बड़े-बड़े राजकोषों में कितनी रक्षा से रक्खा जाता हूँ! मेरे लिए पहरा-चौकी लगती है। तेरे जैसा गलियों में मारा-मारा नहीं फिरता। बड़ी-बड़ी निधियों से मेरा विनिमय होता है। मैं टके सेर नहीं बिकता।

कोयला—क्या ख़ूब! नित्य बंदी बन कर, सौ-सौ तालों में बंद होकर, सोने की काँटेदार बेड़ियों में जकड़ा जाकर तू अपने को बड़ा समझे, तो समझ, तेरी बुद्धि की बलिहारी

है। मैं तो स्वतंत्रता-पूर्वक दर-दर घूमना ही जीवन की धन्यता समझता हूँ। और, तेरा मूल्य, तुझे याद है या मैं बता दूँ, तेरा सच्चा मोल पंजाब-केसरी रणजीतसिंह ने आँका था—पाँच जूतियाँ। सुना तूने?

हीरा—रहने दे छोटे मुँह बड़ी बात। तू सदा जलनेवाला-दूसरे का उत्कर्ष कब देख सकता है?

कोयला—हाँ, मैं जलता हूँ, किंतु दूसरों के लिए—मैं अपने कारण दूसरों को तो नहीं जलाता। मैं जल कर ग़रीबों की भी ज़रूरतें पूरी करता हूँ—लोगों को विभूति देता हूँ।

हीरा—हाँ, मेरे ही विनिमय के लिए तू उन्हें धनिक करता है।

कोयला—क्योंकि मैं तो छोटा भाई समझ कर तेरी प्रतिष्ठा ही चाहता हूँ। पर तू ठहरा वज्र। तुझे इसका ध्यान कहाँ!

हीरा—रहने दे अपनी उदारता। मैं इन बातों में आकर अपना मार्ग नहीं छोड़ने का।

कोयला—मैं तुझे यही तो चेताना चाहता हूँ—तेरे दिन अब पूरे हो चले। संसार शीघ्र ही वह दिन देखनेवाला है जब तेरी पूछ न रह जायगी। वह शीघ्र ही कृत्रिम आभूषणों के बदले सच्चे आभूषण अपनावेगा। वह ग़रीबी अमीरी का ऊबड़-खाबड़ और टेढ़ा-मेढ़ा मार्ग छोड़ कर एक सरल, सम-तल, सीधे मार्ग से चलनेवाला है।

हीरा—देखना है कि मनुष्यता कब सच्चे आभूषण अपनाती है। देखना है कि लोक-यात्रा का वह सीधा मार्ग कब बनता है। यदि वैसा सीधा मार्ग बन भी गया, तो उसके सीधेपन के कारण उसकी लंबाई देकर ही मानवता हार बैठेगी। जो हो।

कोयला—नहीं, वह सीधापन उसका उत्साह दूना कर देगा, क्योंकि यात्रा का निर्दिष्ट स्थान उसे सामने ही देख पड़ने लगेगा।

हीरा—जब वह समय आएगा, तब देखा जायगा। मैं बीच ही में अपना पद-त्याग क्यों करूँ? क्या सहज ही मैंने उसे पाया है? तब तक के लिए तुझे इस बिना माँगी सलाह के लिए हृदय से धन्यवाद!

कोयला—अच्छा, मेरे अनुज! मैं जी से तुझे आशीर्वाद देता हूँ कि ईश्वर तुझे सुबुद्धि दे।

हीरा—आह! क्या दैव-गति ऐसी ही है कि मैं तेरा अनुज होऊँ. और तू—कोयला—मेरा अग्रज!

कोयला—हाँ, यह एक घटना है, जिसे हम मिटा नहीं सकते।

हीरा—तो क्या मनुष्य के पूर्वज बंदर नहीं?

कोयला—यह तो तेरे जैसे पारदर्शी ही जानें, मैं अंध-हृदय इन गूढ़ विषयों को क्या समझ सकूँ!

हीरा—चाहे जैसे भी हो, तूने अपने हृदय का कालापन तो स्वीकार किया। तेरी इस हार के आगे मैं अपना सिर झुकाता हूँ।

कोयला—और मैं भी अपने उसी आंतरिक अंधकार से, जो आलोक का कारण है, तुझे फिर असीसता हूँ कि ईश्वर तुझे सुबुद्धि दे।
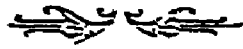
न्याय-मंत्री

[श्री सुदर्शन]

यह घटना आज से, पच्चीस सौ वर्ष पहले की है। एक दिन संध्या समय जब आकाश में बादल लहरा रहे थे, बुद्ध-गया नामक गाँव में एक परदेशी शिशुपाल ब्राह्मण के द्वार पर आया और नम्रता से बोला—'क्या मुझे रात काटने के लिए स्थान मिल जायगा ?'

शिशुपाल अपने गाँव में सब से अधिक निर्धन थे। घोर दारिद्र्य ने, भूखे बैल की नाईं, उनकी हड्डियों का पंजर निकाल रक्खा था। उनकी आजीविका थोड़ी-सी भूमि पर चलती थी। परंतु फिर भी परदेशी को द्वार पर देख कर उनका मुख खिल गया, जैसे सूर्य के उदय होने पर कमल खिल उठता है। उन्होंने मुस्कराते हुए कहा—यह मेरा सौभाग्य है, आइए पधारिए, अतिथि के चरणों से चौका पवित्र हो जायगा—

परदेशी और ब्राह्मण, दोनों अंदर गये। भारतवर्ष में

अतिथि-सत्कार की रीति बहुत प्रचलित थी। शिशुपाल के पुत्र ने अतिथि का सत्कार किया। परदेशी मुग्ध हो गया। उसने ब्राह्मण से कहा—'आपका पुत्र बड़े काम का है, उसकी सेवा से मैं बहुत प्रसन्न हुआ हूँ।'

शिशुपाल ने इस प्रकार सिर उठाया, जैसे किसी ने सर्प को छेड़ दिया हो और नाक-भौं चढ़ा कर उत्तर दिया—'आप हमारे अतिथि हैं, अन्यथा ब्राह्मण ऐसे शब्द नहीं सुन सकते।'

परदेशी ने अपनी भूल पर लज्जित होकर कहा '—क्षमा कीजिए, मेरा यह अभिप्राय न था, परंतु आज-कल वे ब्राह्मण कहाँ हैं, अब तो आँखें उनके लिए तरसती हैं।'

शिशुपाल ने उत्तर दिया—'ब्राह्मण तो अब भी हैं, कमी केवल क्षत्रियों की है।'

'मैं आपका अभिप्राय नहीं समझा।'

शिशुपाल ने एक लंबी-चौड़ी वक्तृता आरंभ कर दी जिसको सुन कर परदेशी चकित हो गया। उसकी बातें ऐसी युक्ति-युक्त और प्रभावशाली थीं कि परदेशी उन पर मुग्ध हो गया। इस छोटे-से गाँव में ऐसा विद्वान्, ऐसा तत्त्व-दर्शी पंडित हो सकता है, इसकी उसे कल्पना भी न थी। उसने शिशुपाल का युक्ति-युक्त तर्क और शासन-पद्धति का इतना विशाल ज्ञान देख कर कहा—'मुझे ख़याल न था कि गोबर में फूल खिला हुआ है। महाराज अशोक को पता लग जाय तो आपको किसी ऊँची पदवी पर नियुक्त कर दें।'

शिशुपाल के शुष्क होठों पर मुस्कराहट आ गई। जिसका अंतःकरण कुढ़ रहा हो, जिसके नेत्र आँसू बरसा रहे हों, जिसका मस्तिष्क अपने आपे में न हो, उसके होठों पर हँसी ऐसी भयानक प्रतीत होती है, जैसे श्मशान में चाँदनी वरन् उससे भी अधिक। शिशुपाल की आँखें नीचे झुक गईं। उन्होंने थोड़ी देर बाद सिर उठाया और कहा—'आज-कल बड़ा अन्याय हो रहा है। जब देखता हूँ, मेरा रक्त उबलने लग जाता है।'

परदेशी ने पैंतरा बदल कर उत्तर दिया—'शेर-बकरी एक घाट पानी पी रहे हैं।'

'रहने दो, मैं सब जानता हूँ।'

'दोष निकालना सुगम है, परंतु कुछ करके दिखाना कठिन है।'

शिशुपाल ने अग्नि पर पड़े हुए पत्ते की नाईं झुलस कर उत्तर दिया—'अवसर मिले तो दिखा दूँ कि न्याय किसे कहते हैं।'

'तो आप अवसर चाहते हैं?'

'हाँ, अवसर चाहता हूँ।'

'फिर तो कोई अन्याय न होगा?'

'सर्वथा न होगा।'

'कोई अपराधी दंड से न बचेगा?'

'कदापि नहीं बचेगा।'

परदेशी ने सहज भाव से कहा—'यह बहुत कठिन है।'

'ब्राह्मण के लिए कोई कठिन नहीं। मैं न्याय का डंका बजा कर दिखा दूँगा।'

परदेशी के मुख पर मुस्कराहट थी, नेत्रों में ज्योति। उसने हँस कर उत्तर दिया—'यदि मैं अशोक होता, तो आपकी इच्छा पूरी कर देता।'

सहसा ब्राह्मण के हृदय में एक संदेह उठा; परंतु दूसरे क्षण में वह दूर होगया, जिस तरह वायु के प्रबल झोंके अभ्र-खंड को उड़ा ले जाते हैं।

(२)

दूसरे दिन महाराज अशोक के दरबार में शिशुपाल बुलाया गया। इस समाचार से गाँव-भर में आग-सी लग गई। यह वह समय था, जब महाराज अशोक का राज्य आरंभ हुआ था, और दमन-नीति का प्रारंभ था। उस समय महाराज ऐसे निर्दय और निष्ठुर थे कि ब्राह्मणों और स्त्रियों को भी फाँसी पर चढ़ा दिया करते थे। उनकी निष्ठुर दृष्टि से बड़े-बड़े वीरों के भी प्राण सूख जाते थे। लोगों ने समझ लिया कि शिशुपाल के लिए यह बुलावा मृत्यु का संदेश है। उनको पूरा-पूरा विश्वास था कि अब शिशुपाल जीवित न लौटेंगे। परिणाम यह हुआ कि शिशुपाल के संबंधियों पर दुःख का पहाड़ टूट पड़ा और वे फूट-फूट कर रोने लगे। लोगों ने धीरज बँधाना आरंभ किया, परंतु

शिशुपाल के माथे पर बल न था। वे कहते थे—जब मैंने कोई अपराध नहीं किया, राज्य के किसी क़ानून का प्रतिरोध नहीं किया, तब कोई मुझे क्यों फांसी देने लगा ? निस्संदेह राजा ऐसा अन्यायी और अंधा नहीं हो सकता कि निर्दोष ब्राह्मणों को दुःख देने लगे। दुःख और कष्टों की लहरों के मध्य में वे इस प्रकार मौन खड़े थे, जिस प्रकार समुद्र की शिला। उन्होंने पुत्र और स्त्री को समझाया और पाटलीपुत्र की ओर चले।

साँझ होगई थी जब शिशुपाल पाटलीपुत्र पहुँचे और जब राजमहल में पहुँचाये गये उस समय तक उनको किसी बात का भय न था, परंतु राजमहल की चमक-दमक का उन पर भय छा गया, जिस प्रकार मनुष्य थोड़े जल में निर्भय रहता है, परंतु गहराई में पहुँच कर घबरा जाता है। उनके हृदय में कई प्रकार के विचार उठने लगे। कभी सोचते—किसी ने कोई शिकायत न कर दी हो। जो जी में आता है, बेधड़क हो कर कह दिया करता हूँ, कहीं इसका फल न भुगतना पड़े, कई शत्रु हैं।' कभी सोचते—'वह परदेशी, पता नहीं कौन था ? हो सकता है कोई गुप्तचर ही हो और यह आग उसी की लगाई हो। तब तो उसने सब कुछ कह दिया होगा। कैसी मूर्खता की, जो एक अपरिचित से घुल-मिल कर बातें करता रहा, अब पछता रहा हूँ।' कभी सोचते—'कदाचित् मेरी दरिद्रता की कहानी

यहाँ तक पहुँच गई हो, और महाराज ने मुझे कुछ देने को बुला भेजा हो, यह भी तो हो सकता है।' इस विचार से हृदय-कमल खिल जाता, परंतु दूसरे विचार से मुर्झा जाता। इतने में प्रतिहारी ने कहा—'महाराज आ रहे हैं।

शिशुपाल का कलेजा धड़कने लगा। उनको ऐसा प्रतीत हुआ मानो प्राण होठों तक आगये हैं। राजा का कितना प्रताप होता है, इसका पहली बार अनुभव हुआ। दृष्टि द्वार की ओर जम गई। महाराज अशोक राजकीय ठाठ से कमरे में आये और मुस्कराते हुए बोले—'ब्राह्मण देवता! मुझे तो आपने पहचान ही लिया होगा?'

शिशुपाल घबरा कर खड़े हो गये। इस समय उनका रोम-रोम काँप रहा था। ये वही थे।

(३)

हाँ, ये वही थे। शिशुपाल काँप कर रह गये। कौन जानता था कि शीत-काल की रात को एक ब्राह्मण के यहाँ आश्रय लेने वाला परदेशी भारत का सम्राट हो सकता है। शिशुपाल ने तुरंत ही अपने हृदय का स्थिर कर लिया और कहा—'मुझे पता न था कि आप ही महाराज हैं, अन्यथा उतनी स्वतंत्रा से बात-चीत न करता।

महराज अशोक बोले—'हूँ!'

'परंतु मैंने कोई बात बढ़ा कर नहीं कही थी?'

'हूँ!'

'मैं प्रमाण दे सकता हूँ ?'

महाराज ने कहा—'मैं नहीं चाहता।'

'तो मुझे क्या आज्ञा होती है ?'

'मैं आपकी परीक्षा करना चाहता हूँ।'

शिशुपाल के हृदय में सहसा एक विचार उठा, क्या वह सच हो जायगा ?

महाराज ने कहा—'आपने कहा था कि यदि मुझे अवसर दिया जाय तो मैं न्याय का डंका बजा दूँगा। मैं आपकी इस विषय में परीक्षा करना चाहता हूँ। आप तैयार हैं ?'

शिशुपाल ने हंस की तरह गर्दन ऊँची की और कहा—'हाँ, यदि महाराज की यही इच्छा है तो मैं तैयार हूँ।'

'कल प्रातःकाल से तुम न्याय-मंत्री नियत किये जाते हो। सारे नगर पर तुम्हारा अधिकार होगा।'

'बहुत अच्छा।'

'पाटलिपुत्र की पुलिस का प्रत्येक अधिकारी तुम्हारे अधीन होगा और शांति रखने का उत्तरदायित्व केवल तुम्हीं पर होगा।'

'बहुत अच्छा !'

'यदि कोई घटना हो गई, अथवा कोई हत्या हो गई, तो इसका उत्तरदायित्व भी तुम पर होगा।'

'बहुत अच्छा !'

महाराज थोड़ी देर चुप रहे और फिर हाथ स अँगूठी

उतार कर बोले—यह राज-मुद्रा है, तुम कल प्रातःकाल की पहली किरण के साथ न्याय-मंत्री समझे जाओगे। मैं देखूँगा, तुम अपने आपको किस प्रकार सफल शासक सिद्ध कर सकते हो।

(४)

एक मास व्यतीत होगया। न्याय-मंत्री के न्याय और सुप्रबंध की चारों ओर धूम मच गई। शिशुपाल ने नगर पर जादू डाल दिया है, ऐसा प्रतीत होता था। उन्होंने चोर डाकुओं को इस प्रकार वश में कर लिया था जिस प्रकार सर्प को बीन बजा कर सँपेरा वश में कर लेता है। उन दिनों यह अवस्था थी कि लोग दरवाज़े तक खुले छोड़ जाते थे; किंतु किसी की हानि नहीं होती थी। शिशुपाल का न्याय अंधा और बहरा था, जो न सूरत देखता था न सिफ़ारिश सुनता। वह केवल दंड देना जानता था और दंड भी शिक्षा-प्रद। नगर की दशा में आकाश-पाताल का अंतर पड़ गया।

रात्रि का समय था। आकाश में तारे खेलते थे। एक अमीर ने एक विशाल भवन के द्वार पर खटखटाया। झरोखे से किसी स्त्री ने सिर निकाल कर पूछा—'कौन है?'

'मैं हूँ, दरवाज़ा खोल दो।'

'परंतु वे यहाँ नहीं हैं।'

'परवाह नहीं, तुम दरवाज़ा खोल दो।

स्त्री ने कुछ सोच कर उत्तर दिया—'मैं नहीं खोलूँगी; तुम इस समय जाओ।'

अमीर ने क्रोध से कहा—'दरवाज़ा खोल दो, नहीं तो मैं तोड़ डालूँगा।'

स्त्री ने उत्तर दिया—'जानते नहीं हो, नगर में शिशुपाल का राज्य है। अब कोई इस प्रकार बलात्कार नहीं कर सकता।

अमीर ने तलवार निकाल कर दरवाज़े पर आक्रमण किया। सहसा एक पहरेदार ने आकर उसका हाथ थाम लिया और कहा—'यह तुम क्या कर रहे हो?'

अमीर ने उसकी ओर इस तरह देखा जैसे भेड़िया भेड़ को देखता है और क्रोध से बोला—'तुम कौन हो?'

'मैं पहरेदार हूँ।'

'तुमको किसने नियत किया है?'

'न्याय-मंत्री ने।'

'मूर्खता न करो। मैं उसे भी मिट्टी में मिला सकता हूँ।'

पहरेदार ने साहस से उत्तर दिया—'परंतु इस समय महाराज अशोक भी आ जायँ तो भी नहीं टलूँगा।'

'क्यों मृत्यु को बुला रहे हो?'

'मैंने जो प्रण किया है, उसे पूरा करूँगा।'

'किससे प्रण किया है?'

'न्याय-मंत्री से।'

'क्या?'

'यही कि जब तक तन में प्राण है और जब तक रुधिर का अंतिम बिंदु भी मेरे शरीर में शेष है, अपने कर्त्तव्य से कभी पीछे न हटूँगा।'

अमीर ने तलवार खींच ली। पहरेदार ने पीछे हट कर कहा—'आप ग़लती कर रहे हैं, मैं नौकरी पर हूँ।'

परंतु अमीर ने सुना अनसुना कर दिया और तलवार लेकर झपटा। पहरेदार ने भी तलवार खींच ली, परंतु अभी वह नया था, पहले ही वार में गिर गया और मारा गया। अमीर का लहू सूख गया। उसके हाथों के तोते उड़ गये। उसकी यह इच्छा न थी कि पहरेदार को मार दिया जाय। वह उसे केवल डराना चाहता था, परंतु घाव मर्म स्थान पर लगा। अमीर ने उसकी लाश को एक ओर कर दिया और आप भाग निकला।

प्रातःकाल इस घटना की घर-घर में चर्चा थी। लोग हैरान थे कि इतना साहस किसे हो गया कि पुलिस के कर्मचारी को मार डाले और फिर शिशुपाल के शासन में। राजधानी में आतंक छा गया। पुलिस के आदमी चारों ओर दौड़ते फिरते थे, मानो यह उनके जीवन और मरण का प्रश्न हो। न्याय-मंत्री ने भी मामले की खोज में दिन-रात एक कर दी। यह घटना उनके शासन-काल में पहली थी। उनको खाना-पीना भूल गया, आँखों से नींद उड़ गई।

घातक की खोज में उन्होंने कोई कसर न उठा रक्खी, परंतु कुछ पता न लगा।

असफलता का प्रत्येक दिन अशोक की क्रोधाग्नि को अधिकाधिक प्रज्वलित कर रहा था। वे कहते—'तुमने कितने ज़ोर से न्याय का दावा किया था, अब क्या हो गया?' न्याय-मंत्री लज्जा से सिर झुका लेते। महाराज कहते—'घातक कब तक पकड़ा जायगा?' न्याय-मंत्री उत्तर देते - 'यत्न कर रहा हूँ, जल्दी ही पकड़ लूँगा।' महाराज कुछ दिन ठहर कर फिर पूछते—'हत्यारा पकड़ा गया?' न्याय-मंत्री कहते—'नहीं।' महाराज का क्रोध भड़क उठता, उनकी आँखों से आग की चिनगारियाँ निकलने लगतीं, बादल की नाईं गर्ज कर बोलते—'मैं यह 'नही' सुनते-सुनते तंग आ गया हूँ।'

इसी प्रकार एक सप्ताह बीत गया, परंतु हत्यारे का पता न लगा। अंत में महाराज अशोक ने शिशुपाल को बुला कर कहा—'तुम्हें तीन दिन की अवधि दी जाती है, यदि इस बीच में घातक न पकड़ा गया, तो तुम्हें फाँसी दे दी जायगी।'

इस समाचार से नगर में हलचल-सी मच गई। एक ही मास के अंदर-अंदर शिशुपाल लोक-प्रिय हो चुके थे। उनके न्याय की चारों ओर धाक बँध गई थी। लोग महाराज को गालियाँ देने लगे। जहाँ चार मनुष्य इकट्ठे होते, इसी विषय पर बातचीत करते। वे चाहते थे कि चाहे कुछ भी होजाय, परंतु शिशुपाल का वाल बाँका न हो। शिशुपाल स्वयं

बड़ी उत्सुकता के साथ घातक की खोज में लीन थे, परंतु व्यर्थ। यहाँ तक कि तीसरा दिन आ गया। अब कुछ ही घंटे बाक़ी थे।

रात्रि का समय था, परंतु शिशुपाल की आँखों में नींद न थी। वे नगर के एक घने बाज़ार के अंदर घूम रहे थे। सहसा एक मकान की खिड़की खुली और एक स्त्री ने झाँक कर बाहर देखा। चारों ओर निस्तब्धता छाई हुई थी। स्त्री ने धीरे से कहा—'तुम कौन हो? पहरेदार?'

निराशा के अंधकार में आशा की एक किरण चमक गई। शिशुपाल ने उत्तर दिया—'नहीं, मैं न्याय-मंत्री हूँ।'

'ज़रा यहीं ठहरो।'

स्त्री खिड़की से पीछे हट गई और दीपक लेकर दरवाज़े पर आई। न्याय-मंत्री को साथ लेकर वह अपने कमरे में गई और बोली—'आज अंतिम रात्रि है?'

न्याय-मंत्री ने चुभती हुई दृष्टि से स्त्री की ओर देखा और उत्तर दिया—'हाँ, अंतिम!'

शब्द साधारण थे परंतु इनका अर्थ साधारण न था। स्त्री तलमला कर खड़ी हो गई और बोली—'मैं इस घटना को अच्छी तरह जानती हूँ।'

शिशुपाल की मृत-प्राय देह में प्राण आ गये, वह धैर्य धर कर बोले—'कहो।'

स्त्री ने कहा—'रात्रि का समय था। घातक ने इस मकान

का दरवाज़ा खट-खटाया। वह यहाँ प्रायः आया करता है।'

'परंतु क्यों?'

'यह मैं नहीं जानती।'

'फिर आगे?'

'मैंने उत्तर दिया—जिसके पास तुम आये हो, वह यहाँ नहीं है, परंतु उसने उसे झूठ समझा और दरवाज़ा तोड़ने को उद्यत हुआ। पहरेदार ने उसे रोका, और वह उसके हाथ से मारा गया।'

न्याय-मंत्री ने पूछा--'परंतु घातक कौन है?

स्त्री ने उनके कान में कुछ कहा और सहमी कबूतरी की नाईं चारों ओर देखा।

(६)

दूसरे दिन दरबार में तिल धरने को स्थान न था। आज न्याय-मंत्री का भाग्य-निर्णय होने को था। अशोक ने सिंहासन पर पैर रखते ही कहा—'न्याय-मंत्री!'

शिशुपाल सामने आये। इस समय उनके मुख पर कोई चिंता, कोई अशांति न थी।

महाराज ने पूछा--'घातक का पता लगा?'

न्याय-मंत्री ने साहस-पूर्वक उत्तर दिया—'हाँ, लग गया।'

'पेश करो।'

न्याय-मंत्री ने सिर झुका कर सोचा। इस समय उनके हृदय में दो विरोधी शक्तियों का संग्राम हो रहा था। यह

भाव उनके मुख से स्पष्ट प्रतीत होता था। सहसा उन्होंने दृढ़ संकल्प से सिर उठाया और अपने एक उच्च अधिकारी को लक्ष्य करते हुए कहा—धनवीर!

'श्रीमान्!'

'गिरफ़्तार कर लो, मैं आज्ञा देता हूँ।'

इशारा महाराज की ओर था। दरबार में निःस्तब्धता छा गई।

अशोक का चेहरा लाल हो गया, मानो वह तपा हुआ ताँबा हो। नेत्रों से अग्नि-कण निकालने लगे, महाराज तलमला कर खड़े हो गये और बोले—'अरे ब्राह्मण! तुझे यहाँ तक साहस हो गया?'

न्याय-मंत्री ने ऐसा प्रकट किया मानो कुछ सुना ही नहीं, और अपने शब्दों को फिर दोहराया—'मैं आज्ञा देता हूँ, गिरफ़्तार कर लो।' धनवीर पुतली की नाईं आगे बढ़ा। दरबारियों की साँस रुक गई। महाराज सिंहासन से नीचे उतर आये। न्याय-मंत्री ने कहा—'यह घातक है। मेरी अदालत में पेश करो।'

धनवीर ने अशोक को हथकड़ी लगा ली और शिशुपाल की कचहरी की ओर ले चला। वहाँ सारा नगर उपस्थित था। शिशुपाल ने आज्ञा दी—'अपराधी राज-कुल से हैं, अतएव अकेला पेश किया जाय।'

महाराज अशोक ने संकेत किया, मंत्री-गण पीछे हट

गये। महाराज उस जंगले में खड़े हो गये, जो अपराधी के लिए नियत किया गया था। छत्र-पति नरेश का, अपने राज्य में, स्वयं उसके नौकर के हाथ, यह संमान हो सकता है, इसकी किसी को आशंका न थी, परंतु शिशुपाल दृढ़ संकल्प के साथ न्यायासन पर विराजमान थे। उन्होंने आँख से महाराज को प्रणाम किया। हाथ को न्याय-रज्जु ने बाँध रक्खा था। वे धीरे से बोले—'तुम पर पहरेदार की हत्या का अपराध है। तुम इसका क्या उत्तर देते हो?'

महाराज अशोक ने होंठ काट कर उत्तर दिया—'वह उद्दंड था।'

'तो तुम अपराध स्वीकार करते हो?'

'हाँ, मैंने उसको मारा है, परंतु मैंने जान-बूझ कर नहीं मारा।'

'वह उद्दंड नहीं था, मैं उसे चिरकाल से जानता हूँ।'

'वह उद्दंड था।'

'तुम झूठ बोलते हो। मैं तुम्हारे वध की आज्ञा देता हूँ।

अशोक के नेत्र लाल हो गये। मंत्रियों ने तलवारें निकाल ली। कई आदमी शिशुपाल को गालियाँ देने लगे। कई एक ने यहाँ तक कह दिया--'न्याय-मंत्री पागल हो गया है।' एक आवाज़ आई—'तुम अपना सिर बचाओ।' अशोक ने हाथ उठा कर मौन रहने का संकेत किया। चारों ओर फिर वही निःस्तब्धता छा गई। न्याय-मंत्री ने कड़क कर कहा—'आप

का क्रोध करना सर्वथा अनुचित है। मैं इस समय न्याय-मंत्री के आसन पर हूँ, और न्याय करने बैठा हूँ। महाराज अशोक की दी हुई मुद्रा मेरे हाथ में है। यदि किसी ने शोर-शार किया, तो मैं उसको अदालत के अपमान के अपराध में गिरफ्तार कर लूँगा।'

'अशोक! तुमने एक राज-कर्मचारी का वध किया है। मैं तुम्हारे वध की आज्ञा देता हूँ।'

महाराज ने सिर झुका दिया। इस समय उनके हृदय में ब्रह्मानंद का समुद्र लहरें मार रहा था। वह सोचते थे—'यह मनुष्य स्वर्ण है, जो अग्नि में पड़ कर कुंदन हो गया है। कहता था—मेरा न्याय अपनी धूम मचा देगा, वह वचन झूठा न था। इसने अपने कहने की लाज रख ली है। ऐसे ही मनुष्य होते हैं, जिन पर जातियाँ अभिमान करती हैं, और जिन पर अपना तन-मन निछावर करने को उद्यत हो जाती हैं।' उन्होंने एक विचित्र भाव से सिर ऊँचा किया और उपेक्षा-पूर्वक कहा—'मैं इस आज्ञा के विरुद्ध कुछ नहीं बोल सकता।'

न्याय-मंत्री ने एक मनुष्य को हुक्म दिया। वह एक स्वर्ण-मूर्त्ति लेकर उपस्थित हुआ। न्याय-मंत्री ने खड़े होकर कहा—'महाशयो! यह सच है कि मैं न्याय-मंत्री हूँ। यह भी सच है कि मेरा काम न्याय करना है। यह भी सच है कि एक कर्मचारी की हत्या की गई है। उसका दंड अवश्यं-

भावी है, परंतु शास्त्रों में राजा को ईश्वर का रूप माना गया है। उसे ईश्वर ही दंड दे सकता है। यह काम न्याय-मंत्री की शक्ति से बाहर है, अतएव मैं आज्ञा देता हूँ कि महाराज चेतावनी देकर छोड़ दिये जायँ, और उनकी यह मूर्ति फाँसी पर लटकाई जाय, जिससे लोगों को शिक्षा मिले।'

न्याय-मंत्री का जय-जयकार हुआ, लोग इस न्याय पर मुग्ध हो गये। वे कहते थे--'यह मनुष्य नहीं, देवता है, जो न किसी व्यक्ति से डरता है और न किसी शक्ति के आगे सिर झुकाता है। अंतःकरण की आवाज़ सुनता है और उस पर निर्भयता से बढ़ा चला जाता है। और कोई होता तो महाराज के सामने हाथ बाँध कर खड़ा हो जाता, परंतु इसने उन्हें 'तुम' कह कर संबोधन किया मानो कोई साधारण अपराधी हो।' उनके शरीर में रोमांच हो गया। सहस्रों नेत्रों ने आनंद के आँसू बहाये और सहस्रों जिह्वाओं ने ज़ोर-ज़ोर से कहा—'न्याय-मंत्री की जय!'

रात हो गई थी, न्याय-मंत्री राज-महल में पहुँचे और अशोक के संमुख अँगूठी और मुद्रा रख कर बोले—'महाराज! बे अपनी वस्तुएँ सँभालें। मैं अपने गाँव वापस जाऊँगा।'

अशोक ने संमान-भरी दृष्टि से उनकी तरफ़ देख कर कहा—'आज आपने मेरी आँखें खोल दी हैं। अब यह कैसे हो सकता है?'

'परंतु श्रीमान्............'

अशोक ने बात काट कर कहा--'आपका साहस मैं कभी न भूलूँगा। यह बोझ आप ही उठा सकते हैं। मुझे कोई दूसरा इस पद के योग्य दिखाई नहीं देता।'

न्याय-मंत्री निरुत्तर हो गये।

अशोक शोक में

[श्रीयुत पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र']

और कलिंग-देश-वासियों ने यह संदेश धीरज से सुना, कि महती मागधी सेना के साथ, युवक सम्राट् अशोक ने उन पर चढ़ाई कर दी है।

क्यों चढ़ाई की—? शांत देश पर बेकसूर आदमियों पर सम्राट् अशोक ने आग और गर्म लोहा बरसाने का विचार क्यों किया ?

साम्राज्यवाद के लिए। आदमी कुछ ऐसा लोभी या पागल प्राणी है कि शांति या संतोष तो उसके पास भी नहीं फटकने पाते।

हरएक नर, नरेश होना चाहता है और एक-एक नगण्य नरेश भी अपने को परमेश्वर मानना—दूसरों से मनवाना चाहता है।

मनुष्य-जीवन में ही कुछ नशा है। नशे में ही झूठ या

सच है। झूठ या सच में ही संसारी माया-मोह के रंग-विरंगे झगड़े हैं!

इस मनुष्यता यानी नशा, झूठ, सच, माया और रंग से कोई अछूता वच नहीं सकता।

संसार मिथ्या—झूठी दुनिया के एक हिस्से कलिंग को सच मान महान् सम्राट् अशोक ने उस पर चढ़ाई वोल दी...।

उसी मिथ्या को संकट में देख कलिंग-वासियों ने सत्य की तरह उसको कलेजे से चिपका लिया, वंदरी के मरे वच्चे की तरह...!

वे परम वलवान् सम्राट् की काल-वाहिनी से लोहा लेने और मातृ-भूमि की मर्यादा प्राण देकर भी वचाने के लिए वद्ध-परिकर हो गये।

कलिंग देश के कोने-कोने से युद्ध-युद्ध की पुकार आने लगी। देश के वूढ़े, जवान, वच्चे और महिलाएँ युद्ध-निमंत्रण में भाग लेने को तैयार हो गयीं।

जो ज़रा इतस्ततः कर रहे थे या प्राणों का मोह जिन्हें पीछे खींच रहा था—उनको कलिंग देश के दार्शनिक कवियों ने वीर मंत्रों और छंदों के तेज से रण-रंगी छैला वना दिया—!

दानिशमंदों ने नासमझों को समझाया—"यह शरीर क्षण-भंगुर है."

"डर में शैतान और निडरता में भगवान् रहते हैं। और शैतान माया तथा भगवान् प्रकाश हैं। विना प्रकाश के

जैसे छाया छिप जाती है, वैसे ही, भगवान् की इच्छा से शैतान बेजान किया जा सकता है।

"ले! हथियार उठा ले! कलिंगी जवान! तेरे देश पर विदेशी राज करने को आ रहा है। विदेशी है अशोक वैसे ही, जैसे हूण; क्योंकि जो भले आदमी की आज़ादी छीनना चाहे वह स्वदेशी आर्य हो नहीं सकता।

"कलिंगीय जवानों! धनुष पर बान तानो! और बेईमानों, मागधी नादानों को बतला दो कि तुम गाजर-मूली और साग-पात नहीं हो—जिसे कोई भी पशु खा-पचा सके।

"वीरो! जो तुमको गुलाम रखना चाहे, उसके पितरों और देवों को बिना मारे न छोड़ना! गुलामी नरक है, आज़ादी स्वर्ग। गुलामी महानीच मौत है, और आज़ादी है—स्वर्गीय अमरता।

"वीरो! बोलो, जननी जन्म-भूमि की जय! और दुश्मनों को रक्त से नहला कर बतला दो कि तुमने ऐसी माँ की छाती से, ऐसा तेजस्वी दूध पीया है जिससे तुम्हारी हड्डियाँ और नसें फ़ौलादी बन गयी हैं।"

अब क्या था? सारा कलिंग देश एक हो गया। चारों कोनों पर मागधी सेना से लड़ाई छिड़ गयी...

उन दिनों भारतवर्ष? उसका एक-एक प्रदेश स्वतंत्रता की क़ीमत जानता था। युद्ध में मरने वाले 'वीर' तो आज

भी माने जाते हैं, लेकिन वीर-गति की इज़्ज़त इस देश में अब उतनी नहीं, जितनी उस ज़माने में थी—जिसका गुण-गान आज भी होता है। जो हो.

अशोक के मागधी वीर कलिंगियों पर टिड्डियों की तरह टूट पड़े। मगर फ़ौलादी दीवार की तरह कलिंगी वीर दृढ़ता से डटे रहे।

अशोक ने आग बरसायी, लौह-बाणों की बीहड़ बरसात भी कलिंगियों के माथे पर मागधियों ने लगायी—मगर कलिंगी अचल थे—हिमालय!

कई लाख कलिंगीय देश-भक्त अपने इष्ट देवों और मातृ-भूमि के नाम पर सदा के लिए संसार से विदा हो, अमर समर-सेज पर सो गये!

कई हज़ार आततायी मागधी वीर भी वीर-गति को पा गये!

फिर भी युद्ध का ऊँट किस करवट बैठेगा, यह सम्राट् अशोक की समझ में न आ सका।

कई महीनों तक घनघोर, धुआँधार युद्ध होने पर भी कलिंग देश पर मागधी सेना अपना झंडा न फहरा सकी।

"इस युद्ध में विजय पाने की सख़्त ज़रूरत है।" सम्राट् ने मंत्रि-मंडल के सामने सलाह की बात की।

"सख़्त मुश्किल है—धर्मावतार!" एक मंत्री बोला—

"पचास हज़ार कालिंगी सिपाहियों के खेत रहने पर भी उनके पाँव उखड़ते नहीं हैं।"

"इस देश के लोग वीर हैं, मंत्रीजी!" अशोक ने सत्य की रक्षा की—"ऐसों से लड़ने में भी मज़ा आता है।"

"बेशक महाप्रभो!" युद्ध-मंत्री मस्ती से मुस्कराता हुआ बोला—"वीरों से ही लड़ने में अबीरी रंग जमता है। तलवारों के कुमकुमे, खून की पिचकारी—मुंडों का भैरव गान और रुंडों का तांडव-ताल—अहा हा!..."

"कालिंगियों से लड़ कर मेरी भुजाएँ संतुष्ट हो गयीं।"

"मगर यह—यह तो शत्रु के गुण की प्रशंसा हुई—अब अपने दुर्गुण की निंदा भी होनी चाहिए। इतने दिनों से मौर्य-महा-साम्राज्य की सेनाएँ एक क्षुद्र देश को न हरा सकीं—यह डूब मरने की बात है!" सम्राट् बोले...

"अब हम ज़्यादा डट कर—सिमिट कर लड़ेंगे।"

"सिमिट कर या फैल कर—डट कर या हट कर—जैसे भी हो, इन कालिंगियों को हराना होगा।"

"नहीं तो, संसार हमारी इज़्ज़त पर थूकेगा—हुँ हुँ! सम्राट् अशोक की मागधी महासेना एक मामूली मुल्क के मुट्ठी भर मनुष्यों से हार खा गयी...

"ऐसी हार से मौत हज़ार बार बेहतर है, आर्य वीरो!"

"जय महा-सम्राट्!" सारे वीर दहाड़ उठे!!

दूसरे दिन मागधी सेना विद्युत्तेज से कलिंगियों पर चमकी...तड़पी !

लोहे से बजे और लहू की लहरें मैदाने-जंग में छहरने-लहरने लगीं !

"कालिंगीय महावीर लड़े और लड़े ! दादा गिरा तो बाप लड़ा और बाप के बाद सुकुमार बेटों ने मागधी फौजियों के हाथों से लोहे के चने चबाये... !

कलिंग देश की वामांगनाएँ भी रणांगण में रोष-रक्त आँखें तानें—अशोक साम्राज्यवादी की बर्बादी के लिए—हज़ार-हज़ार की क़तारों में जूझने—मरने लगीं।

मगर अफ़सोस की बात है कि कलिंग देश को वीरता का पुरस्कार—पराजय के रूप में मिला। वह भी तब—जब वह देश लड़ते-लड़ते निर्धन—निर्जन-सा हो गया था।

तभी तो ! श्मशानवत् कलिंग में प्रेतों की तरह प्रवेश करते हुए पाटलिपुत्र-पति सम्राट् अशोक के मन में न जाने कैसी विचित्र चुटकी लेने वाला कोई शोक समा गया ! अशोक—शोक !!

पहले तो कलिंग-विजयी सम्राट् अशोक ने मैदानों और खेतों में मुर्दों के ढेर के ढेर देखे।

किसान जैसे खलिहान में भुस-धान की अटाल उठा दे वैसे ही, काल किसान ने भी रण-खेत में पुरुषार्थ की फ़स्ल को काट कर जमा कर दिया था।

जैसे शराबी नशा न मिलने में देर देख, क्रुद्ध हो बक-झक करने लगता है, मगर नशे में आते ही वह उसी व्यक्ति के पाँव चाटने लगता है, फिर चाहे वह घर का नौकर ही क्यों न हो, वैसे ही कलिंग को जीतने तक तो सम्राट् अशोक सर्व-नाश के प्रलयंकर रुद्र बने रहे; मगर, प्रलयोपरांत, रुद्रता की महिमा कितनी मँहगी पड़ती है, यह आँखों देख कर आर्य अशोक का उदार हृदय पिघल उठा—दहल उठा !

उन्होंने यह कोई नया युद्ध नहीं रोपा था ! मागधी महा-साम्राज्य का गरुड़-ध्वज हाथ में—प्राणों की तरह—लेकर अशोक ने एकाधिक बार, हाहाकार-पूर्ण रण-क्षेत्र में, वीर-विहार किया था। अनेक बार अपने अचूक शस्त्र-प्रहारों से उन्होंने शत्रु के मस्त मस्तक भी धड़ से अलग किये थे। मगर कलिंग-वासियों की वीरता की छाप अशोक के दिल पर वज्र-दृढ़ता से छप गयी।

विजयी अशोक ने देखा—जो कलिंग स्वर्ग की तरह हरा-भरा और सुंदर था, वही अब उजाड़ और मसान का प्रतिद्वंदी बन रहा है।

विजयी अशोक ने देखा—कलिंग देश के पंगु प्राणियों को छोड़ कर बाक़ी सभी वीर-गति लाभ कर चुके थे, बूढ़े मैदान में मरे पड़े थे। जवानों पर जवान, तह से किये हुए, समर-सेज पर सजे थे। यहाँ तक कि "रेखिया उठान"

नादान सुकुमार बालक भी हाथों में लोहा लिये लोहू की सेज पर सोये पड़े थे।

विजयी अशोक को विजित कलिंग में क्या मिला? धन-धान्य? नहीं। सुंदरियों का झुंड वीर अशोक के हाथों लगा होगा? नहीं-नहीं! तो कलिंगी क़ैदी कई लाख हुए होंगे? अजी नहीं—वीर लोग बंदी होने के पूर्व ही बंधन में डालने वाले को साथ लिये, मुक्त हो जाते हैं। विजयी अशोक को कलिंग-विजय से अपयश के सिवा और कुछ भी न मिला।

विजयी अशोक को कलिंग देश में अगर कुछ मिला—हाँ,—तो मुर्दों का ढेर! निर्मम अंधेर!! प्राणियों में बूढ़ी माताएँ, विकल विधवाएँ, अबलाएँ और हज़ारों लँगड़े-लूले, अँधे-कोढ़ी!

विजयी अशोक का कलेजा काँप उठा! उनकी एक झक के लिए भगवान् की दुनिया का एक भाग साफ़ हो गया—झक!

विजयी अशोक को समाचार मिला कि युद्ध के बाद भी—काल का पेट अभी भरपूर नहीं हुआ है। अनेक रोग फैल कर बचे-बचाये बेचारों को चारों ओर से चोरों की तरह घेर-घेर कर मार रहे हैं।

"विजयी अशोक!" अशोक "आदमी" सोचने लगा—"यह विजय है या क़साई-कांड?...

विजय असल वह, जिससे पराया बदन भी चमकता नज़र आये।

विजयी हैं वे, जो समर-क्षेत्र में मुस्कराते हुए लापर्वाह सो रहे हैं।

विजयी हैं वे—जिन्होंने जान दे दी, मगर आन-बान पर तान न आने दिया।

अशोक—! अरे हत्यारे! तू विजयी नही पागल है..! ईश्वर-द्रोही है—हृदयहीन है!

हृदय उन्हें था, जो अपने देश के लिए चौरोज़े चोले की चिंदी-चिंदी उड़वा कर, मराल-चाल से नाके ऊँची किये नाकों तक उड़ गये !

वे देश-भक्त शहीद, संन्यासियों से बढ़े-चढ़े थे। उनको न तो धन का मोह था और न जन-तन का। वे मुक्त थे, संसार में वे ही धन्य हैं जो मुक्त हैं।

और वे आततायी, पापी और नाशमान हैं जो औरों की गुलामी से अपना पेट पालते हैं।

"अशोक! अशोक!!" सम्राट् का माथा विविध विचारों से टकराता रहा—"तू इस युद्ध में हार गया! जहाँ विजयोत्सव देखने के लिए अभिमानी शत्रु जीवित न हो, वहाँ विजय नही, पराजय नाचती है।"

"महाप्रभो!" न्याय-मंत्री ने निवेदन किया— "आप बहुत उत्तेजित न हों—इस विजय से!"

"अशोक—निस्संदेह !" अशोक बोले—"यह विजय है। आज अशोक ने समझ लिया कि मृत्यु से प्रेम बड़ा है।"

"महादेव ! आप महान् हैं।" ज्योतिषी ने कहा !

"महान् यहाँ कुछ भी नहीं है" भरे कंठ से सम्राट् अशोक ने कहा—"महान् है यहाँ दुःख, महान् है यहाँ अंधकार—महान् है यहाँ मायाडंबर !"

"यही बात दीन-बंधु !" मंत्री बोला—"तथागत ने भी कही है।"

"महान् है यहाँ वह, जो, महानता से बचे—महानता को भी रोग ही समझो—फ़ीलपाँव, कंठमालादि। इस युद्ध से मैंने शांति का रहस्य समझा है, मंत्रीजी !"

"आज्ञा, देव !"

"आज से अशोक परोपकार-व्रती 'भिक्षु' बन कर प्रेम से विश्व-विजय की साधना करेगा।"

"इस अष्टघाती घंटे से धर्मावतार !" ज्योतिषी बोला—"आप स्वर्ग पर भी कब्ज़ा कर सकते हैं।"

"दूर करो इस घंटे को ! इस पर, पाली भाषा में, युद्ध से बचने का आदेश लिख कर, कहीं दूर देश में, समुद्र के किनारे या पहाड़ के पास इसको गुप्त ढंग से रखवा दो।"

"मगर, धर्मावतार !" ज्योतिषी बोला—"घंटे से मंत्र-बल अब अलग हो नही सकता, जब कभी और जो कोई

इसकी मदद युद्ध में लेगा—ज़रूर विजयी होगा—"बशर्ते कि किसी पाप से यह अपवित्र न हो जाय।"

"इसीलिए इसको तुम दूर देश में, जंगली लोगों में रख आओ। वहाँ, जहाँ इसके जानकार जा भी न सकें।"

"ऐसा ही होगा धर्मावतार!" नम्र ज्योतिषी बोला।

"और!" अशोक सतेज बोले—"मंत्रीजी! आज से साम्राज्य की सारी सेनाएँ भंग कर दी जायँ। युद्ध-कर्म और शिकार-धर्म बंद कर दिया जाय। आज से अज्ञानी अशोक ज्ञानोज्ज्वल प्रेम से संसार को प्रकाशित करेगा।

"युद्ध शैतानी है और प्रेम आसमानी!

"हे तथागत! हे मायेय! हे गौतम! दया कर मुझको भी शुद्ध बुद्ध बनाओ, देव!"

भावों से भरे मगधाधिपति, महा सम्राट् अशोक ने अपने और 'अपनों' में अनेक अभावों को चमकते हुए देखा..! वह सिहर उठे!!

चरित्र-संगठन

[श्री गुलाबराय]

मनुष्य की विशेषता उसके चरित्र में है। यदि एक मनुष्य दूसरे से अधिक आदरणीय समझा जाता है तो वह उसके चरित्र के कारण। मनुष्य का आदर उसके पद, धन वा विचार के कारण होता है, परंतु यह सब एक प्रकार से वाह्य हैं। पद स्थायी नहीं। यदि स्थायी भी हो तो उसके लिए जो आदर होता है, वह भय के कारण। धन का आदर वही करेगा जिसको धनी से कुछ लाभ उठाने की इच्छा हो। विद्या का मान सज्जन अवश्य करते हैं। वह भी जब विद्या-विनय एवं चरित्र से युक्त हो। रावण में विद्या, धन, बल तथा पद होते हुए भी वह अपने राक्षसी कर्म के कारण निंदनीय था। राक्षस साक्षर होकर वंदनीय नहीं बन जाते।

मनुष्य का मूल्य उसके चरित्र में है। चरित्र में ही उसके आत्म-बल का प्रकाश होता है और यह पता लगता है कि

उसकी आत्मा कितनी बलवान् है। मनुष्य का चरित्र ही बतलाता है कि वह कितने पानी का है।

यह चरित्र क्या है जो इतना महत्त्व रखता है? यह चरित्र उन गुणों का समूह है जो हमारे व्यवहार से संबंध रखता है। दार्शनिक बुद्धि, वैज्ञानिक कौशल, काव्य की प्रतिभा, ये सब वांछनीय हैं, परंतु ये हमारे चरित्र से संबंध नहीं रखते। फिर, चरित्र में क्या बात आती है? विनय, उदारता, लालच में न पड़ना, धैर्य, सत्य-भाषण और वचन का प्रतिपालन करना एवं कर्त्तव्य-परायणता, ये सब गुण चरित्र में आते हैं। चरित्र में इन सब बातों के अतिरिक्त और भी बहुत सी बातें है, परंतु ये मुख्य हैं। ये सब गुण प्रायः स्वाभाविक होते हैं, परंतु अभ्यास से ये बढ़ाये एवं पुष्ट किये जाते हैं। अभ्यास में सत्संग से बहुत सहायता मिलती है। अभ्यास के लिए बाल्य-काल ही विशेष उपयुक्त है। वह काल बनाव का है। बनते समय जैसा मनुष्य बन जावे वैसा ही वह जीवन पर्यंत रहता है। बाल्य-काल में स्नायु-संस्थान कोमल रहता है तथा वह अन्य संस्कारों से दूषित नहीं होता, इस कारण जो उस काल में अभ्यास डाला जाता है, वह सहज ही में सिद्ध हो जाता है। प्रौढ़ावस्था में अन्य संस्कारों के दृढ़ हो जाने के कारण नये संस्कार कठिनाई से जमते हैं।

मनुष्य-जीवन का प्रभात, जिसमें सब प्रकार की शक्तियों के विकास की संभावना होती है, विद्यार्थी-जीवन में व्यतीत

होता है। जो लोग इस विद्यार्थी-जीवन में हमारे पथ-प्रदर्शक हैं, उनका परम उत्तरदायित्व है कि यह काल केवल ज्ञान-संग्रह में ही न चला जावे। बाल्यावस्था फिर लौट कर नहीं आती। भावी चरित्र निर्माण करने का यही सुअवसर है। विद्यार्थी और शिक्षक अपने-अपने उत्तरदायित्व को समझ निम्न-लिखित सिद्धांतों पर ध्यान दें और इनसे विद्यार्थियों के चरित्र-संगठन में सहायता लें। यद्यपि ये सिद्धांत प्राचीन काल से बतलाये जा रहे हैं और इसीलिए इन पर कुछ लिखना नीरस पिष्ट-पेषण समझा जाता है, तथापि इनके प्रचार की आज भी इतनी ही आवश्यकता है जितनी कि प्राचीन काल में थी, और चरित्र-संगठन की आवश्यकता देखते हुए इन पर विवेचना करना समय का दुरुपयोग नहीं समझा जावेगा।

विनय

विनय विद्या का भूषण है। बिना विनय के विद्या शोभा नहीं देती। श्रीमद्भगवद्गीता में ब्राह्मण का विशेषण "विद्या-विनयसम्पन्न" कहा है। जिस विद्या के साथ विनय नहीं है उससे कोई लाभ भी नहीं उठा सकता। विनय केवल विद्या को ही नहीं वरन् धन और बल दोनों को ही शोभा देती है। भृगुजी ने कृष्ण भगवान् के वक्षःस्थल पर लात मारी तथा भगवान् पूछने लगे कि महाराज! आपके पैर में चोट तो नहीं आई? विनय का क्या ही उत्तम आदर्श है! विनय केवल

शिष्टाचार के लिए ही आवश्यक नहीं है, वरन् इससे आत्मा की शुद्धि होती है। विनय-शील मनुष्य अभिमान के दोष से बचा रहता है। नम्र-भाव दूसरों में प्रेम-भाव उत्पन्न करता है और अपने में अपूर्व शांति अनुभव कराता है। धन, बल और विद्या के होते हुए भी जो विनय करता है उसको कोई कायर नहीं कह सकता। भय-वश विनय आत्मा को गिराती है किंतु प्रेम और निरभिमानता का विनय आत्मा का उत्थान करती है। विनय का अभाव एक प्रकार का खोखलापन प्रकट करता है। जिन लोगों में कोई श्लाघनीय गुण नहीं होता है वे अपनी ऐंठ तथा डाँट-फटकार से लोगों पर प्रभाव जमाते है, किंतु गुणवानों को इसकी आवश्यकता नहीं, उनका प्रभाव स्वतःसिद्ध है। यदि विनय-शील मनुष्य का समाज में प्रभाव थोड़ा हो तो विनय-शील मनुष्य का दोष नहीं। यह समाज का ही दोष है; और इसके अतिरिक्त प्रेम का प्रभाव चाहे थोड़ा हो, दबाव के प्रभाव की अपेक्षा, चिरस्थायी होता है। यद्यपि थोड़ी देर के लिए मान भी लिया जाय कि विनय सब स्थानों में काम नहीं देती—जैसे, शत्रु के संमुख—तथापि हमको यह कहना पड़ेगा कि विनय-शील पुरुष को ऐसे अवसर कम आवेंगे कि उसको अपनी विनय के कारण गौरव-हानि का दुःखद अनुभव करना पड़े। इसके अतिरिक्त जीवन में अधिकांश ऐसे अवसर हैं जिनमें विनय से सगौरव कार्य-

साधन हो सकता है। खेद तो इस बात का है कि हम लोग मित्र और गुरु-जनों के साथ भी विनय का व्यवहार नहीं करते। विनय के साथ निरभिमानता, मनुष्य जाति का आदर, सहन-शीलता इत्यादि अनेक सद्गुण लगे हुए हैं। इसके अभ्यास में इन सब गुणों का अभ्यास हो जाता है।

उदारता

उदारता का अभिप्राय केवल निस्संकोच भाव से किसी को धन दे डालना ही नहीं, वरन् दूसरों के प्रति उदार भाव रखना भी है। उदार पुरुष सदा दूसरों के विचारों का आदर करता है और समाज में सेवक-भाव से रहता है। "उदार-चरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्" में जो आदेश दिया गया है, वह केवल धन की उदारता नहीं, वरन् उसमें प्रेम और सेवा की भी उदारता संमिलित है। बहुत-से लोग आपकी धन-संबंधिनी उदारता की अपेक्षा नहीं करते। बहुत-से निर्धन भी इस बात को अपनी निर्धनता के गौरव के विरुद्ध समझते हैं कि वे आपकी आर्थिक सहायता लें, किंतु वे आपके उदारता-पूर्ण शब्दों के सदा भूखे रहते हैं। यह न समझो कि केवल धन से ही उदारता हो सकती है। सच्ची उदारता इस बात में है कि मनुष्य को मनुष्य समझा जावे। उसके भावों का उतना ही आदर किया जावे जितना कि अपने का। ऐसा आदर उदारता नहीं है वरन् कर्तव्य है। प्रत्येक मनुष्य में आदरणीय गुण

होते हैं। यह न समझना चाहिए कि धन, विद्या अथवा पद ही आदर का विषय है। ग़रीब आदमी यदि ईमानदार है तो वह बेईमान धनाढ्य की अपेक्षा कहीं आदरणीय है, क्योंकि ग़रीबी में ईमानदार रहना और भी कठिन है। ग़रीब ही हमारे आदर का विषय है। मेहनत करने वालों में एक दैवी प्रभा रहती है जो सदा पूजा-योग्य है। जिनको लोग नीच एवं दलित समझते हैं उनके प्रति आदर-भाव रखना मनुष्य की आत्मा को सुख तथा शांति देना है। जो लोग अपने साथियों के साथ आदर-भाव रखते हैं, उनकी भूलों को, उनके हठ तथा वैर को स्वयं उपेक्षा-पूर्वक क्षमा कर देते हैं, ऐसे लोग परम उदार हैं। यह उदारता धन की उदारता की अपेक्षा कठिनतर है, तथा उसी अनुपात में अधिक श्लाघनीय है। धन की उदारता के साथ सब से बड़ी एक और उदारता की आवश्यकता है। वह यह कि उपकृत के प्रति किसी प्रकार का अहसान न जताया जावे। अहसान दिखाना उपकृत को नीचा दिखाना है। अहसान जता कर उपकार करना अनुपकार है। इसीलिए अपने यहाँ गुप्त दान का बड़ा महत्त्व रक्खा गया है।

लालच में न पड़ना

मनुष्य जितना ही बलवान् माना गया है उतना ही कमज़ोर है। ज़रा से अविचार में मनुष्य का पतन हो जाता है, और वर्षों का तप धूल में मिल जाता है। लालच

केवल धन का ही लालच नहीं, वरन् हर एक प्रकार का लालच होता है। लालच इसलिए दिया जाता है कि मनुष्य स्वकर्त्तव्य से च्युत हो जाय। किंतु मनुष्य की श्रेष्ठता इसी में है कि वह न्याय-पथ से न हटे। महाराजा दिलीप को हर प्रकार का लालच दिया गया, किंतु वे कर्त्तव्य से न हटे। प्राप्त वस्तु के त्याग से, अप्राप्त परंतु प्राप्य वस्तु का त्याग अधिक कठिन है। यद्यपि लालच के सुलभ प्रसंग होते हुए लालच के ऊपर विजय करने में बहादुरी है, तथापि विज्ञ पुरुष को यही चाहिए कि वह लालच से दूर ही रहे। ईसाई लोग ईश्वर से प्रार्थना करते हैं—"या खुदा! मुझे इम्तिहान में मत डाल"। बहुत से लोग जान-बूझ कर लालच के स्थान मे जाते हैं और कहते हैं कि "विकार-हेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीरा."—यह ठीक नहीं। जहाँ तक हो, थोड़े से भी लालच से बचने का प्रयत्न किया जावे। जो लोग थोड़े-से लालच पर विजय नहीं पा सकते, वे बड़े लालच से किस प्रकार बच सकते हैं? हमारे यहाँ भगवान् श्री रामचंद्रजी का ज्वलंत उदाहरण मौजूद है। उन्होंने साम्राज्य का लालच छोड़ा और कर्त्तव्य से विमुख न हुए। यदि वह ज़रा ढील डालते तो महाराज दशरथ तुरंत अपने वचन से फिर जाते। यद्यपि विषय-भोग-संबंधी लालच में पड़ जाने के उदाहरण विश्वामित्र आदि है तथापि उनके साथ भीष्म पितामह, अर्जुन और उर्वशी, रंभा, शुकादि

के उपाख्यान हमारे आदर्श मौजूद हैं। महेश शक्ति के पति हैं, इसीलिए कि वह काम को भस्म करने में समर्थ रहे। जो लोग लालच से बच सकते हैं, अपनी इच्छाओं को रोक सकते हैं, वही शक्ति-संपन्न और प्रभावशाली बनने में समर्थ होते हैं।

धैर्य

कठिनाइयों में चित्त को स्थिर रखना धैर्य कहलाता है। मनुष्य का जीवन-पथ कंटकाकीर्ण है। मनुष्य-जीवन में कठिनाइयाँ ही कठिनाइयाँ हैं; किंतु उनका सामना ज्ञानी लोग ज्ञान से करते हैं, एवं मूर्ख लोग रोकर करते है। कठिन से कठिन स्थिति में प्रसन्न रहना आत्मा की उच्चता का सूचक है। हमको अपनी आध्यात्मिकता का गौरव होना चाहिए। कठिनाइयाँ प्रायः बाह्य होती है। यदि हम उन पर विजय पा लें तो अच्छा ही है, और विजय न पा सकें तो उनसे दब कर दुखी होना कायरता है। कठिनाइयों में दुखी होने से वह बढ़ती ही हैं, घटती नहीं। हमको अपनी शक्तियो से निराश न होना चाहिए। कठिनाइयों से दुखित न होना ही उन पर विजय पाना है। कठिनाइयों में दुखित होना अपने विपक्षियों की जीत स्वीकार करना है। राजा हरिश्चंद्र धैर्य के एक ज्वलंत उदाहरण हैं। श्री रामचंद्रजी के लिए कहा जाता है कि राज्याभिषेक के कारण उनको हर्ष नहीं

हुआ; और वनवास से म्लान-मुख नहीं हुए। इसीसे वह जगद्-वंदनीय हो रहे हैं।

सहकारिता

यद्यपि सहकारिता के लाभ प्रत्यक्ष हैं, तथापि कुछ लोग असहकारिता में ही अपना गौरव मानते हैं। लोगों का यह भ्रम है कि सहकारिता में हम अपनी न्यूनता स्वीकार करते हैं। मनुष्य सामाजिक जीव है, उसका अकेले काम चलना अत्यंत कठिन हो जावेगा। हम नहीं जानते कि हम भी दूसरों की सहकारिता से कितना लाभ उठाते हैं। स्वयं अपनी सहकारिता से दूसरों को वंचित रखना कृतघ्नता है। सहकारिता में मनुष्य की एकता एवं समाज की स्थिति का मूल है। सहकारिता को चरित्र के भीतर इसीलिए रक्खा है कि उसमें एक प्रकार का वृथाभिमान त्यागना पड़ता है।

सत्य बोलना और वचन का पालन करना

यद्यपि सत्य बोलना सब से सहज बात है, क्योंकि उसमें नमक-मिर्च के लिए बुद्धि का प्रयोग नहीं करना पड़ता है, तथापि सत्य बोलने के लिए बड़े आध्यात्मिक बल की आवश्यकता है। जहाँ तक हो अप्रिय सत्य न बोला जावे, किंतु जहाँ अप्रिय सत्य न बोलने से समाज के हित की हानि होती है, वहाँ उसको प्रियता के लिए दबाना पाप है। चरित्रवान् पुरुष को अपनी आत्मा में इतना बल रखना चाहिए कि निर्भयता के साथ कह सके। सत्य मनसा, वाचा, कर्मणा

होना चाहिए। जो कहे वही करे, और जो कर सके वही कहे; तथा कह कर न हटे। "प्राण जायँ पर वचन न जाईं" का आदर्श सामने रक्खे। इसका अर्थ यह नहीं है कि हठवाद करे, किंतु जब तक वह एक बात को सत्य समझे, उस पर दृढ़ रहे।

कर्त्तव्य-परायण

सत्य के अतिरिक्त कर्त्तव्य में और बहुत-सी बातें आती हैं। अतः शेष में एक व्यापक बात रख दी गई। यद्यपि यह कहना कठिन है कि कर्त्तव्य क्या है, तथापि मोटी रीति से सब लोग अपना-अपना कर्त्तव्य जानते हैं। जो बातें बचने की हैं उनसे बचना चाहिए, और जो करने की है उनको सौ हानि उठा कर भी करना चाहिए। बस, यही कर्त्तव्य-परायणता है। अपने कर्त्तव्य में शैथिल्य न डालना चाहिए। जहाँ ज़रा-सा छिद्र हुआ वहाँ समझना चाहिए कि पतन का द्वार खुल गया। कर्त्तव्य वह नहीं जो कि केवल काग़ज़ पर लिखा हो। प्रत्येक स्थिति के अनुकूल अपना कर्त्तव्य निश्चित कर हमको उसके संपादन में आरूढ़ रहना चाहिए। हमको केवल कर्त्तव्य ही नहीं वरन् अपने कर्त्तव्य से भी अधिक करने के लिए तैयार रहना चाहिए। अपना सबक़ याद करना हमारा कर्त्तव्य है, किंतु सामने के घर में आग लगी हो तो सबक़ याद करने की अपेक्षा आग बुझाना ही हमारा कर्त्तव्य है। वास्तव में जो कुछ हमें करना चाहिए वही कर्त्तव्य है। जिस काम को

तुम कर सकते हो—फिर चाहे वह दूसरे के करने का ही हो—और यदि तुम देखो कि तुम्हारे न करने से दूसरे के हित की हानि होती है तो, उसको करना अपना परम कर्त्तव्य समझो। जो तुम्हारा कर्त्तव्य है उससे कदापि न हटो। उसमें चाहे लोग निंदा करें, चाहे स्तुति। कर्त्तव्य के पालन करने में ही हमारा आत्म-गौरव रह सकता है। आलस्यवश या लोभवश कर्त्तव्य से च्युत होना ही हमारा पतन है। कर्त्तव्य-पालन के लिए प्रतिक्षण अभ्यास का अवसर है, इस अभ्यास को करते रहने से हमारी आत्मा शुद्ध एवं पवित्र बन कर उन्नत हो जावेगी। हम अपनी उन्नति आप ही कर सकते हैं। आत्मा का उद्धार आत्मा से ही होता है।

———

बंजो

[श्री जयशंकर 'प्रसाद']

क्यों बेटी ! मधुवा आज कितने पैसे ले आया ?

नौ आने, बापू ?

कुल नौ आने ! और कुछ नहीं ?

पाँच सेर आटा भी दे गया है। कहता था, एक रुपये का इतना ही मिला।

'वाह रे समय' कह कर बुड्ढा एक बार चित हो कर साँस लेने लगा।

कुतूहल से लड़की ने पूछा—कैसा समय बापू ?

बुड्ढा चुप रहा।

यौवन के व्यंजन दिखाई देने से क्या हुआ, अब भी उसका मन दूध का धोया है। उसे लड़की कहना ही अधिक संगत होगा।

उसने फिर पूछा—कैसा समय बापू ?

चिथड़ों से लिपटा हुआ, लंबा चौड़ा, अस्थि-पंजर झनझना उठा। खाँस कर उसने कहा—जिस भयानक अकाल का स्मरण करके आज भी रोंगटे खड़े हो जाते हैं, जिस पिशाच की अग्नि-क्रीड़ा में खेलती हुई तुझको मैंने पाया था, वही संवत् ५५ का अकाल आज के सुकाल से भी सदय था—कोमल था। तब भी आठ सेर का अन्न बिकता था। अब पाँच सेर की बिक्री में भी कहीं जूँ नहीं रेंगती जैसे—सब धीरे-धीरे दम तोड़ रहे हैं! कोई अकाल कह कर चिल्लाता नहीं! ओह! मैं भूल रहा हूँ! कितने ही मनुष्य तभी से एक बार भोजन करने के अभ्यासी हो गए हैं। जाने दो, होगा कुछ, बंजो! जो सामने आवे उसे झेलना चाहिए।

बंजो, मटकी में डेढ़-पाव दूध, चार कंडों पर गरम कर रही थी। उफनाते हुए दूध को उतार कर उसने कुतूहल से पूछा—बापू! उस अकाल में तुमने मुझे पाया था। लो, दूध पीकर मुझे वह पूरी कथा सुनाओ!

बुड्ढे ने करवट बदल कर दूध लेते हुए, बंजो की आँखों में खेलते हुए आश्चर्य को देखा। वह कुछ सोचता हुआ दूध पीने लगा।

थोड़ा-सा पीकर उसने पूछा—अरे तूने दूध अपने लिए रख लिया है?

बंजो चुप रही। बुड्ढा खड़खड़ा उठा—तू बड़ी मूर्ख है, रोटी किससे खायगी रे?

सिर झुकाये हुए, बंजो ने कहा—नमक और तेल से मुझे रोटी अच्छी लगती है, बापू!

बचा हुआ दूध पीकर बुड्ढा फिर कहने लगा—यही समय है, देखती है न। गायें डेढ़-पाव दूध देती हैं। मुझे तो आश्चर्य होता है कि उन सूखी ठठरियों में से इतना दूध भी कैसे निकलता है!

मधुवा दबे पाँव आकर उसी झोंपड़ी के एक कोने में खड़ा हो गया। बुड्ढे ने उसकी ओर देख कर पूछा—मधुवा! आज तू क्या-क्या ले गया था?

डेढ़-सेर घुमची, एक बोझा महुआ का पत्ता और एक खाँचा कंडा, बाबाजी!—मधुवा ने हाथ जोड़ कर कहा।

इन सब का दाम एक रुपया नौ आना ही मिला?

चार पैसे बंधू को मजूरी में दिये थे।

अभी दो सेर घुमची और होगी, बापू! बहुत-सी फलियाँ बनबेरी के झुरमुट में हैं, झड़ ज़ाने पर उन्हें बटोर लूँगी।—बंजो ने कहा।

बुड्ढा मुस्कराया। फिर उसने कहा—मधुवा! तू गायों को अच्छी तरह चराता नहीं, बेटा! देख तो, धवली कितनी दुबली हो गई है!

कहाँ चरावें, कुछ ऊसर-परती कहीं चरने के लिए बची भी है ?—मधुवा ने कहा !

बंजो अपनी भूरी लटों को हटाते हुए बोली—मधुवा गंगा में घंटों नहाता है, बापू! गायें अपने मन से चरा करती हैं। यह जब बुलाता है, तभी सब चली आती हैं।

बंजो की बात न सुनते हुए बाबा जी ने कहा—तू ठीक कहता है, मधुवा ! पशुओं को खाते-खाते मनुष्य, पशुओं के भोजन की जगह भी खाने लगे। ओह ! कितना इनका पेट बढ़ गया है ! वाह रे समय !!

मधुवा बीच ही में बोल उठा—बंजो ! बनिया ने कहा है कि सरफोंका की पत्ती दे जाना, अब मैं जाता हूँ।

कह कर वह झोंपड़ी के बाहर चला गया। संध्या गाँव की सीमा में धीरे-धीरे आने लगी।

अंधकार के साथ ही ठंड बढ़ चली। गंगा की कछार की झाड़ियों में सन्नाटा भरने लगा। नालों के करारों में चरवाहों के गीत गूँज रहे थे।

बंजो दीप जलाने लगी। उस दरिद्र कुटीर के निर्मम अंधकार में दीपक की ज्योति तारा-सी चमकने लगी !

बुड्ढे ने पुकारा—बंजो !

'आई'—कहती हुई वह बुड्ढे की खाट के पास आ बैठी और उसका सिर सहलाने लगी। कुछ ठहर कर बोली—बापू ! उस अकाल का हाल न सुनाओगे ?

तू सुनेगी, बंजो ! क्या करेगी सुन कर, बेटी ? तू मेरी बेटी है और मैं तेरा बूढ़ा बाप ! तेरे लिए इतना जान लेना बहुत है ।

नहीं, बापू ! सुना दो मुझे वह अकाल की कहानी—बंजो ने मचलते हुए कहा ।

धाँय—धाँय—धाँय. !!!

गंगा-तट बंदूक के धड़ाके से मुखरित हो गया। बंजो कूतूहल से झोंपड़ी के बाहर चली आई ।

वहाँ एक घिरा हुआ मैदान था । कई बीघों की सम-तल भूमी—जिसके चारों ओर, दस लट्ठे की चौड़ी, झाड़ियों की दीवार थी—जिसमें कितने ही सिरिस, महुआ, नीम और जामुन के वृक्ष थे—जिन पर घुमची, सतावर और करंज इत्यादि की लतरें झूल रही थीं । नीचे की भूमि में भटेस के चौड़े-चौड़े पत्तों की हरियाली थी । बीच-बीच में बनबेर ने भी अपनी कँटीली डालों को इन्हीं सबों से उलझा लिया था ।

वह एक सघन झुरमुट था—जिसे बाहर से देख कर यह अनुमान करना कठिन था कि इसके भीतर इतना लंबा-चौड़ा सम-तल मैदान हो सकता है ।

देहात के मुक्त आकाश में अंधकार धीरे-धीरे फैल रहा था । अभी सूर्य की अस्त-कालीन लालिमा आकाश के उच्च प्रदेश में स्थित पतले बादलों में गुलाली आभा दे रही थी ।

बंजो, बंदूक का शब्द सुन कर, बाहर तो आई; परंतु

वह एक टक उसी गुलाबी आकाश को देखने लगी। काली रेखाओं-सी भय-भीत कराकुल पक्षियों की पंक्तियाँ 'कररर-कर्र' करती हुई संध्या की उस शांत चित्रपटी के अनुराग पर कालिमा फेरने लगी थीं।

हाय राम! इन काँटों में—कहाँ आ फँसा!

बंजो कान लगा कर सुनने लगी।

फिर किसी ने कहा—नीचे करारे की ओर उतरने में तो गिर जाने का डर है, इधर ये काँटेदार झाड़ियाँ! अब किधर जाऊँ?

बंजो समझ गई कि कोई शिकार खेलनेवालों में से इधर आ गया है। उसके हृदय में विरक्ति हुई—उँह, शिकारी पर दया दिखाने की आवश्यकता? भटकने दो।

वह घूम कर उसी मैदान में बैठी हुई एक श्यामा गौ को देखने लगी। बड़ा मधुर शब्द सुन पड़ा—चौबेजी! आप कहाँ हैं?

अब बंजो को बाध्य होकर उधर जाना पड़ा। पहले काँटों में फँसनेवाले व्यक्ति ने चिल्ला कर कहा—खड़ी रहिए; इधर नहीं—ऊँहूँ-ऊँ! उसी नीम के नीचे ठहरिए, मैं आता हूँ; इधर बड़ा ऊँचा-नीचा है।

चौबेजी! यहाँ तो मिट्टी काट कर बड़ी अच्छी सीढ़ियाँ बनी हैं; मैं तो उन्हीं से ऊपर आई हूँ।—रमणी के कोमल कंठ से यह सुन पड़ा।

बंजो को उसकी मिठास ने अपनी ओर आकृष्ट किया, जंगली हिरण के समान कान उठा कर वह सुनने लगी।

झाड़ियों के रौंदे जाने का शब्द हुआ। फिर वही पहला व्यक्ति बोल उठा—लीजिए, मैं तो किसी तरह आ पहुँचा; अब गिरा, तब गिरा, राम-राम! कैसी साँसत! सरकार से मैं कह रहा था कि मुझे न ले चलिए। मैं यहीं चूड़ा-मटर की खिचड़ी बनाऊँगा। पर आपने भी जब कहा, तब तो मुझे आना ही पड़ा। भला आप क्यों चली आईं?

इंद्रदेव ने कहा कि सुर्खाब इधर बहुत हैं, मैं उनके मुलायम परों के लिए आई। सच, चौबेजी! लालच में मैं चली आई। किंतु छर्रों से उनका मरना देखने में मुझे सुख तो न मिला। आह! कितना निधड़क वे गंगा के किनारे टहलते थे! उन पर विन्चैस्टर-रिपीटर के छर्रों की चोट! बिल्कुल ठीक नहीं। मैं आज ही इंद्रदेव को शिकार खेलने से रोकूँगी— आज ही।

अब किधर चला जाय?—उत्तर में किसी ने कहा।

चौबेजी ने डग बढ़ा कर कहा—मेरे पीछे-पीछे चली आइये।

किंतु मिट्टी बह जाने से जो मोटी जड़ नीम की उभड़ आई थी, उसने ऐसी करारी ठोकर लगाई कि चौबेजी मुँह के बल गिरे।

रमणी चिल्ला उठी। उस धमाके और चिल्लाहट ने बंजो को विचलित कर दिया। वह कँटीली झाड़ी को खींच कर

अँधेरे में भी ठीक-ठीक उसी सीढ़ी के पास जाकर खड़ी हो गई, जिसके पास नीम का वृक्ष था।

उसने देखा कि चौबेजी बेतरह गिरे हैं। उनके घुटने में चोट आ गई है, वह स्वयं नहीं उठ सकते।

सुकुमारी सुंदरी के बूते के बाहर की यह बात थी। बंजो ने भी हाथ लगा दिया। चौबेजी किसी तरह काँखते हुए उठे।

अंधकार के साथ-साथ सरदी बढ़ने लगी थी। बंजो की सहायता से सुंदरी, चौबेजी को, लिवा ले चली; पर कहाँ? यह तो बंजो ही जानती थी।

झोंपड़ी में बुड्ढा पुकार रहा था—बंजो! बंजो!! बड़ी पगली है। कहाँ घूम रही है? बंजो, चली आ!

झुरमुट में घुसते हुए चौबेजी तो कराहते थे; पर सुंदरी उस वन-विहंगिनी की ओर आँखें गड़ा कर देख रही थी और अभ्यास के अनुसार धन्यवाद भी दे रही थी।

दूर से किसी की पुकार सुन पड़ी—शैला! शैला!!

ये तीनों झाड़ियों की दीवार पार कर के, मैदान में आ गए थे। बंजो के सहारे चौबेजी को छोड़ कर शैला फिरहरी की तरह घूम पड़ी। वह नीम के नीचे खड़ी होकर कहने लगी—इसी सीढ़ी से इंद्रदेव—! बहुत ठीक सीढ़ी है। हाँ, सँभाल कर चले आओ। चौबेजी का तो घुटना ही टूट गया है! हाँ, ठीक है, चले आओ। कहीं-कहीं जड़ें बुरी तरह से निकल आई हैं, उन्हें बचा कर आना।

नीचे से इंद्रदेव ने कहा—सच कहना शैला। क्या चौबे का घुटना टूट गया? ओहो, तो कैसे वह इतनी दूर चलेगा! नहीं-नहीं, तुम हँसी करती हो!

ऊपर आकर देख लो, नहीं भी टूट सकता है!

नहीं भी टूट सकता है? वाह! यह एक ही रही। अच्छा, लो, मैं आ ही पहुँचा।

एक लंबा-सा युवक, कंधे पर बंदूक रखे, ऊपर चढ़ रहा था। शैला, नीम के नीचे खड़ी, गंगा के करारे की ओर झाँक रही थी—वह इंद्रदेव को सावधान करती थी—ठोकरों से और ठीक मार्ग से।

तब तक उस युवक ने हाथ बढ़ाया। दो हाथ मिले!

नीम के नीचे खड़े हो कर, इंद्रदेव ने शैला के कोमल हाथों को दबा कर कहा—करारे की मिट्टी काट कर देहातियों ने काम-चलाऊ सीढ़ियाँ अच्छी बना ली हैं। शैला! कितना सुंदर दृश्य है! नीचे धीरे-धीरे गंगा बह रही है, अंधकार से मिली हुई उस पार के वृक्षों की श्रेणी क्षितिज की कोर में गाढ़ी कालिमा की बेल बना रही है, और ऊपर......

पहले चल कर चौबेजी को देख लो, फिर दृश्य देखना। —बीच ही में रोक कर शैला ने कहा।

अरे हाँ, यह तो मैं भूल ही गया था! चलो, किधर चलूँ? यहाँ तो तुम्हीं पथ-प्रदर्शक हो।—कह कर इंद्रदेव हँस पड़े।

दोनों, झोंपड़ियों के भीतर घुसे। एक अपरिचित बालिका

के सहारे चौबेजी को कराहते देख कर इंद्रदेव ने कहा—तो क्या सचमुच मैं यह मान लूँ कि तुम्हारा घुटना टूट गया? मैं इस पर कभी विश्वास नहीं कर सकता। चौबे! तुम्हारे घुटने 'टूटनेवाली हड्डी' के बने ही नहीं।

सरकार! यही तो मैं भी सोचता हुआ चलने का प्रयत्न कर रहा हूँ। परंतु......आह! बड़ी पीड़ा है, मोच आ गई होगी; तो भी इस छोकरी के सहारे थोड़ी दूर चल सकूँगा। चलिये।—चौबेजी ने कहा।

अभी तक बंजो से किसी ने न पूछा था कि तू कौन है, कहाँ रहती है, या हम लोगों को कहाँ लिवा जा रही है!

बंजो ने स्वयं ही कहा—पास ही झोंपड़ी है। आप लोग वहाँ तक चलिए, फिर जैसी इच्छा।

सब बंजो के साथ मैदान के उस छोर पर जलनेवाले दीपक के संमुख चले, जहाँ से "बंजो! बंजो" कह कर कोई पुकार रहा था। बंजो ने कहा—आती हूँ।

झोंपड़ी के दूसरे भाग के पास पहुँच कर बंजो क्षण-भर के लिए रुकी। चौबेजी को छप्पर के नीचे पड़ी हुई एक खाट पर बैठने का संकेत करके वह घूमी ही थी कि बुड्ढे ने कहा—बंजो! कहाँ है रे? अकाल की कहानी और अपनी कथा न सुनेगी? मुझे नींद आ रही है।

'आ गई'—कहती हुई बंजो भीतर चली गई। बगल के छप्पर के नीचे इंद्रदेव और शैला खड़े रहे। चौबेजी खाट

पर बैठे थे, किंतु कराहने की व्याकुलता दबा कर। एक लड़की के आश्रय में आकर इंद्रदेव भी चकित सोच रहे थे—कहीं यह बुड्ढा हम लोगों के यहाँ आने से चिढ़ेगा तो नहीं ?

सब चुपचाप थे।

बुड्ढे ने कहा—कहाँ रही तू, बंजो ?

एक आदमी को चोट लगी थी, उसी

तो—तू क्या कर रही थी ?

वह चल नहीं सकता था, उसी को सहारा देकर...

मरा नहीं, बच गया। गोली चलाने का—शिकार खेलने का—आनंद नहीं मिला ! अच्छा, तो तू उनका उपकार करने गई थी। पगली ! यह मैं मानता हूँ कि मनुष्य को कभी-कभी अनिच्छा से भी कोई काम कर लेना ही पड़ता है; पर... नहीं...जान-बूझ कर किसी उपकार-अपकार के चक्र में न पड़ना ही अच्छा है। बंजो ! पल-भर की भावुकता मनुष्य के जीवन को कहाँ से कहाँ खींच ले जाती है, यह तू अभी नहीं जानती। बैठ, ऐसी ही भावुकता लेकर मुझे जो कुछ भोगना पड़ा है, वही सुनाने के लिए तो मैं तुझे खोज रहा था !

बापू ..

क्या है रे ! बैठती क्यों नहीं ?

वे लोग यहाँ आ गए हैं

ओहो ! तू बड़ी पुण्यात्मा है.. तो फिर लिवा ही आई है,

तो उन्हें बिठा दे छप्पर में—और दूसरी जगह ही कौन है? और बंजो! अतिथि को बैठा देने से ही काम नहीं चल जाता। दो चार टिक्कर सेंकने की भी .. समझी?

नहीं-नहीं, इसकी आवश्यकता नहीं—कहते हुए इंद्रदेव बुड्ढे के सामने आ गए। बुड्ढे ने धुँधले प्रकाश में देखा—पूरा साहबी ठाट! उसने कहा—आप साहब यहाँ ..

तुम घबराओ मत, हम लोगों को छावनी तक पहुँच जाने पर किसी बात की असुविधा न रहेगी। चौबेजी को चोट आ गई है, वह सवारी न मिलने पर रात-भर यहाँ पड़े रहेंगे। सबेरे देखा जायेगा। छावनी की पगडंडी पा जाने पर हम लोग स्वयं चले जायँगे। कोई ..

इंद्रदेव को रोक कर बुड्ढे ने कहा—आप धामपुर की छावनी पर जाना चाहते हैं? जमींदार के मेहमान हैं न? बंजो! मधुवा को बुला दे, नहीं तू ही इन लोगों को बंजरिया के बाहर उत्तर वाली पगडंडी पर पहुँचा दे। मधुवा!! ओ रे मधुवा!—चौबेजी को रहने दीजिए, कोई चिंता नहीं।

बंजो ने कहा—रहने दो बापू! मैं ही जाती हूँ।

शैला ने चौबेजी को कहा—तो आप यहीं रहिए, मैं जाकर सवारी भेजती हूँ।

रात को झंझट बढ़ाने की आवश्यकता नही, बटुए में जल-पान का सामान है, कंबल भी है। मैं इसी जगह रात

भर में इसे सेंक-साँक कर ठीक कर लूँगा। आप लोग जाइये—चौबे ने कहा।

इंद्रदेव ने पुकारा—शैला ! आओ, हम लोग चलें।

शैला उसी झोंपड़ी में आई। वहीं से बाहर निकलने का पथ था। बंजो के पीछे दोनों झोंपड़ी से निकले।

लेटे हुए बुड्ढे ने देखा—इतनी गोरी, इतनी सुंदर, लक्ष्मी-सी स्त्री इस जंगल-उजाड़ में कहाँ ! फिर सोचने लगी—चलो, दो तो गये। यदि वे भी यहीं रहते, तो खाट-कंबल और सब सामान कहाँ से जुटता। अच्छा, चौबेजी हैं तो ब्राह्मण, उनको कुछ अड़चन न होगी; पर इन साहबी ठाट के लोगों के लिए मेरी झोपड़ी में कहाँ...ऊँह ! गये, चलो, अच्छा हुआ। बंजो आ जाय, तो उसकी चोट को तेल लगा कर सेंक दें।

बुड्ढे को फिर खाँसी आने लगी। वह खाँसता हुआ इधर के विचारों से छुट्टी पाने की चेष्टा करने लगा।

उधर चौबेजी गोरसी में सुलगते हुए कंडों पर हाथ गरम करके घुटना सेंक रहे थे। इतने में बंजो मधुवा के साथ लौट आई।

बापू ! जो आए थे, जिन्हें मैं पहुँचाने गई थी, वही तो धामपुर के जमींदार हैं। लालटेन लेकर कई नौकर-चाकर उन्हें खोज रहे थे। पगडंडी पर ही उन लोगों से भेंट हुई। मधुवा के साथ मैं भी लौट आई।

एक साँस में बंजो कहने को तो कह गई, पर बुड्ढे की समझ में कुछ न आया। उसने कहा—मधुवा ! उस शीशी में

जो जड़ी का तेल है, उसे लगा कर ब्राह्मण का घुटना सेंक दे, उसे चोट आगई है।

मधुवा तेल लेकर घुटना सेंकने चला।

बंजो पुआल मे कंबल लेकर घुसी। कुछ पुआल और कुछ कंबल से गले तक शरीर ढँक कर वह सोने का अभिनय करने लगी। पलकों पर ठंड लगने से बीच-बीच में वह आँख खोलने-मूँदने का खिलवाड़ कर रही थी। जब आँखें बंद रहतीं, तब एक गोरा-गोरा मुँह —करुणा की मिठास से भरा हुआ गोल-मटोल नन्हा सा मुँह —उसके सामने हँसने लगता। उसमें ममता का आकर्षण था। आँख खुलने पर वही पुरानी झोंपड़ी की छाजन! अत्यंत विरोधी दृश्य!! दोनों ने उसके कुतूहल-पूर्ण हृदय के साथ छेड़-छाड़ की किंतु विजय हुई आँख बंद करने की। शैला के संगीत के समान सुंदर शब्द उसकी हृत्तंत्री में झनझना उठे! शैला के समीप होने की—उसके हृदय में स्थान पाने की—बलवती वासना बंजो के मन में जगी। वह सोते-सोते स्वप्न देखने लगी। स्वप्न देखते-देखते शैला के साथ खेलने लगी।

मधुवा से तेल मलवाते हुए चौबेजी ने पूछा—क्यों जी! तुम यहाँ कहाँ रहते हो? क्या काम करते हो? क्या तुम इस बुड्ढे के यहाँ नौकर हो? उसके लड़के तो नहीं मालूम पड़ते?

परंतु मधुवा चुप था।

चौबेजी ने घबरा कर कहा—बस करो, अब दर्द नहीं रहा। वाह-वाह! यह तेल है या जादू! जाओ भाई, तुम भी सो रहो। नहीं-नहीं, ठहरो तो, मुझे थोड़ा पानी पिला दो।

मधुवा चुपचाप उठा और पानी के लिए चला। तब चौबेजी ने धीरे से बटुआ खोल कर मिठाई निकाली, और खाने लगे। मधुवा इतने में न जाने कब लोटे में जल रखकर चला गया था।

और बंजो सो गई थी। आज उसने नमक और तेल से अपनी रोटी भी नहीं खाई। आज पेट के बदले उसके हृदय में भूख लगी थी। शैला से मित्रता—शैला से मधुर परिचय—के लिए न जाने कहाँ की साध उमड़ पड़ी थी। सपने पर सपने देख रही थी। उस स्वप्न की-मिठास में उसके मुख पर एक प्रसन्नता की रेखा उस दरिद्र-कुटीर में नाच रही थी।
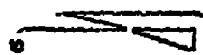
मुंडमाल

[श्री शिवपूजन सहाय]

१

आज उदयपुर के चौक में चारों ओर बड़ी चहल-पहल है। नव-युवकों में नवीन उत्साह उमड़ रहा है। मालूम होता है कि किसी ने यहाँ के कुओं में उमँग की भँग घोल दी है। नव-युवकों की मूँछों में ऐंठ भरी हुई है, आँखों में ललाई छा गई है। सबकी पगड़ी पर देशानुराग की कलँगी लगी हुई है। हर तरफ़ से वीरता की ललकार सुन पड़ती है। बाँके-लड़ाके वीरों के कलेजे रण-भेरी सुन कर चौगुने होते जा रहे हैं। नगाड़ों से तो नाकों में दम हो चला है। उदयपुर की धरती धौंसे की धुधुकार से डगमग कर रही है। रण-रोष से भरे हुए घोड़े डंके की चोट पर उड़ रहे हैं। मतवाले हाथी हर ओर से, काले मेघ की तरह, उमड़े चले आते हैं। घंटों की आवाज़ से, सारा नगर गूँज रहा है। शस्त्रों की झनकार

और शंखों के शब्द से दसों दिशाएँ सरस-शब्दमयी हो रही हैं। बड़े अभिमान से फहराती हुई विजय-पताका राजपूतों की कीर्त्ति-लता-सी लहराती है। स्वच्छ आकाश के दर्पन में अपने मनोहर मुखड़े निहारने वाले महलों की ऊँची-ऊँची अटारियों पर चारों ओर सुंदरी-सुहागिनियाँ और कुमारी कन्याएँ भर-भर अंचल-फूल लिए खड़ी हैं। सूरज की चमकीली किरणों की उज्ज्वल धारा से धोये हुए आकाश में चुभने वाले कलश, महलों के मुँडेरों पर, मुस्करा रहे हैं। बंदी-वृंद विशद विरुदावली बखानने में व्यस्त है।

२

महाराणा राजसिंह के समर्थ सरदार चूड़ावतजी आज औरंगज़ेब का दर्प-दलन करने और उसके अंधाधुंध अंधेर का उचित उत्तर देने जाने वाले हैं। यद्यपि उनकी अवस्था अभी अठारह वर्षों से अधिक नहीं है, तथापि जंगी जोश के मारे वे इतने फूल गये हैं कि कवच में नहीं अँटते। उनके हृदय में सामरिक उत्तेजना की लहर लहरा रही है। घोड़े पर सवार होने के लिए वे ज्योंही हाथ में लगाम थाम कर उचकना चाहते हैं, त्योंही अनायास उनकी दृष्टि सामने वाले महल की झँझरीदार खिड़की पर, जहाँ उनकी नवोढा पत्नी खड़ी है, जा पड़ती है।

३

हाड़ा-वंश की सुलक्षणा, सुशीला और सुंदरी सुकुमारी

कन्या से आपका ब्याह हुए दो-चार दिनों से अधिक नहीं हुआ होगा। अभी नवोढा रानी के हाथ का कंकण हाथ ही की शोभा बढ़ा रहा है। अभी कजरारी आँखें अपने ही रंग में रँगी हुई हैं। पीत-पुनीत चुनरी भी अभी धुमिल नहीं होने पाई है। सोहाग का सिंदूर दुहराया भी नहीं गया है। फूलों की सेज को छोड़ कर और कहीं गहनों की झनकार भी नहीं सुन पड़ी है। अभी पायल की रुन-झुन ने महल के एक कोने में ही बीन बजाई है। अभी घने पल्लवों की आड़ में ही कोयल कुहुकती है। अभी कमल-सरीखे कोमल हाथ पूजनीय चरणों पर चंदन ही भर चढ़ा पाये हैं। अभी संकोच के सुनहरे सींकड़ में बँधे हुए नेत्र लाज ही के लोभ में पड़े हुए हैं। अभी चाँद बादल ही के अंदर छिपा हुआ है। किंतु नहीं, आज तो उदयपुर की उदित-विदित शोभा देखने के लिए घन-पटल में से अभी-अभी वह प्रकट हुआ है।

४

चूड़ावतजी, हाथ में लगाम लिये ही, बादल के जाल से निकले हुए उस पूर्ण-चंद्र पर टकटकी लगाये खड़े हैं। जाली-दार खिड़की से छन-छन कर आने वाली चाँद की चटकीली चाँदनी ने चूड़ावत-चकोर को आपे से बाहर कर दिया है। हाथ की लगाम हाथ ही में है, मन की लगाम खिड़की में है! नये प्रेम-पाश का प्रबल बंधन प्रतिज्ञा-पालन के पुराने बंधन को ढीला कर रहा है! चूड़ावतजी का चित्त चंचल हो

चला। वे चटपट चंद्र-भवन की ओर चल पड़े। वे यद्यपि चिंता में चूर हैं; पर चंद्र-दर्शन की चोखी चाट लग रही है। वे संगमर्मरी सीढ़ियों के सहारे चंद्र-भवन पर चढ़ चुके; पर जीभ का जकड़ जाना जी को जला रहा है।

५

हृदय-हारिणी हाड़ी-रानी भी, हिम्मत की हद करके, हल्की आवाज़ से बोलीं—"प्राणनाथ ! मन मलिन क्यों है? मुखारविंद मुर्झाया क्यों है? न तन में तेज ही देखती हूँ, न शरीर में शांति ही! ऐसा क्यों? भला उत्साह की जगह उद्वेग का क्या काम है? उमंग में उदासीनता कहाँ से चू पड़ी? क्या कुछ शोक-संवाद सुना है? जब कि सभी सामंत-सूरमा, संग्राम के लिए, सज-धज कर आप ही की आज्ञा की आशा में अटके हुए हैं, तब क्या कारण है कि आप व्यर्थ व्याकुल हो उठे हैं? उदयपुर के बाजे-गाजे के तुमुल शब्द से दिग्दिगंत डोल रहा है! वीरों के हुंकार से कायरों के कलेजे भी कड़े हो रहे हैं। भला ऐसे अवसर पर आपका चेहरा क्यों उतरा हुआ है? लड़ाई की ललकार सुन कर लँगड़े-लूलों को भी लड़ने-भिड़ने की लालसा लग जाती है; फिर आप तो क्षात्र तेज से भरे हुए क्षत्रिय हैं। प्राणनाथ! शूरों को शिथिलता नही शोभती। क्षत्रिय का छोटा-मोटा छोकरा भी क्षण-भर में शत्रुओं को छील-छाल कर

छुट्टी कर देता है; परंतु आप प्रसिद्ध पराक्रमी होकर पस्त क्यों पड़ गये ?"

चूड़ावतजी चंद्रमा में चपला की-सी चमक-दमक देख चकित हो कर बोले—"प्राणप्यारी ! रूपनगर के राठौर-वंश की राजकुमारी को दिल्ली का बादशाह बलात्कार से ब्याहने आ रहा है। इसके पहले ही वह राज-कन्या हमारे माननीय राणा-बहादुर को वर चुकी है। कल पौ फूटते ही राणाजी रूपनगर की राह लेंगे। हम बीच ही में बादशाह की राह रोकने के लिए रण-यात्रा कर रहे हैं। शूर-सामंतों की सैंकड़ों सजीली सेनाएँ साथ में हैं सही; परंतु हम लड़ाई से अपने लौटने का लक्षण नहीं देख रहे हैं । फिर कभी भर-नज़र तुम्हारे चंद्र-वदन को देख पाने की आशा नहीं है। इस बार घनघोर युद्ध छिड़ेगा। हम लोग मन मना कर, जी-जान से, लड़ेंगे। हज़ारों हमले हड़प जायँगे। समुद्र-सी सेना भी मथ डालेंगे। हिम्मत हर्गिज़ न हारेंगे । फ़ौलाद-सी फ़ौज को भी फ़ौरन फाड़ डालेंगे । हिम्मत तो हज़ारगुनी है; मगर मुग़लों की मुठभेड़ में महज़ मुट्ठी-भर मेवाड़ी वीर क्या कर सकेंगे ? तो भी हमारे ढलैत, कमनैत और बानैत ढाढ़स बाँध कर डट जायँगे। हम सत्य की रक्षा के लिए पुर्जे-पुर्जे कट जायँगे, प्राणेश्वरी ! किंतु हमको केवल तुम्हारी ही चिंता बेढब सता रही है। अभी चार ही दिन हुए कि तुम-सी सुहागिन दुलहिन हमारे हृदय में उजेला करने आई है।

अभी किसी दिन तुम्हें इस तुच्छ संसार की क्षणिक छाया में विश्राम करने का भी अवसर नहीं मिला है! क़िस्मत की करामात है, एक ही गोटी में सारा खेल मात है! किसे मालूम था कि एक तुम-सी अनूप-रूपा कोमलांगी के भाग्य में ऐसा भयंकर लेख होगा! अचानक रंग में भंग होने की आशा कभी सपने में भी न थी! किंतु ऐसे ही अवसरों पर हम क्षत्रियों की परीक्षा हुआ करती है। संसार के सारे सुखों की तो बात ही क्या, प्राणों की भी आहुति दे कर क्षत्रियों को अपने कर्त्तव्य का पालन करना पड़ता है।"

हाड़ी-रानी, हृदय पर हाथ धर कर, बोली—"प्राणनाथ! सत्य और न्याय की रक्षा के लिए, लड़ने जाने के समय, सहज-सुलभ सांसारिक सुखों की बुरी वासना को मन में घर करने देना आपके समान प्रतापी क्षत्रिय-कुमार का काम नहीं है। आप आपात-मनोहर सुख के फंदे में फँस कर अपना जातीय कर्त्तव्य मत भूलिये। सब प्रकार की वासनाओं और व्यसनों से विरक्त हो कर इस समय केवल वीरत्व धारण कीजिये। मेरा मोह-छोह छोड़ दीजिये। भारत की महिलाएँ स्वार्थ के लिए सत्य का संहार करना नहीं चाहतीं। आर्य-महिलाओं के लिए समस्त संसार की सारी संपत्तियों से बढ़ कर—

'सतीत्व ही अमूल्य धन है!'

जिस दिन मेरे तुच्छ सांसारिक सुखों की भोग-लालसा

के कारण मेरी एक प्यारी बहन का सतीत्व-रत्न लुट जायगा, उसी दिन मेरा जातीय गौरव अरवली-शिखर के ऊँचे मस्तक से गिर कर चकनाचूर हो जायगा। यदि नव-विवाहिता उर्मिला देवी वीर शिरोमणि लक्ष्मण को सांसारिक सुखोप-भोग के लिए कर्त्तव्य-पालन से विमुख कर दिये होतीं, तो क्या कभी लखनलाल को अक्षय्य यश लूटने का अवसर मिलता? वीर-वधूटी उत्तरा देवी यदि अभिमन्यु को भोग-विलास के भयंकर बंधन में जकड़ दिये होतीं, तो क्या वे वीर-दुर्लभ गति को पाकर भारतीय क्षत्रिय-नंदनों में अग्र-गण्य होते? मैं समझती हूँ कि यदि तारा की बात मान कर बालि भी, घर के कोने में मुँह छिपा कर, डरपोक-जैसा छिपा हुआ रह गया होता, तो उसे वैसी पवित्र मृत्यु कदापि प्राप्त न होती। सती-शिरोमणि सीता देवी की सतीत्व-रक्षा के लिए जरा-जर्जर जटायु ने अपनी जान तक गँवाई ज़रूर; लेकिन उसने जो कीर्त्ति कमाई और बधाई पाई, सो आज तक किसी कवि की कल्पना में भी नहीं समाई। वीरों का यह रक्त-मांस का शरीर अमर नहीं होता, बल्कि उनका उज्ज्वल-यशोरूपी शरीर ही अमर होता है। विजय-कीर्त्ति ही उनकी अभीष्ट-दायिनी कल्प-लतिका है। दुष्ट शत्रु का रक्त ही उनके लिए शुद्ध गंगा-जल से भी बढ़ कर है। सतीत्व के अस्तित्व के लिए रण-भूमि में व्रज-मंडल की-सी होली मचाने वाली खड्ग-देवी ही उनकी सती सह-गामिनी

है। आप सच्चे राजपूत वीर हैं; इसलिए सोत्साह जाइये और जाकर एकाग्र मन से अपना कर्त्तव्य-पालन कीजिये। मैं भी यदि सच्ची राजपूत-कन्या हूँगी, तो शीघ्र ही आपसे स्वर्ग में जा मिलूँगी। अब विशेष विलंब करने का समय नहीं है।"

चूड़ावतजी का चित्त हाड़ी-रानी के हृदय-रूपी हीरे को परख कर पुलकित हो उठा। चूड़ावतजी आप से आप कह उठे—"धन्य देवि! तुम्हारे विराजने के लिए वस्तुतः हमारे हृदय में बहुत ही ऊँचा सिंहासन है। अच्छा, अब हम मर कर अमर होने जाते हैं। देखना, प्यारी! कही ऐसा न हो कि—" (कंठ गद्‌गद हो गया)

रानी ने कहा—"प्राणप्यारे! इतना अवश्य याद रखिये कि छोटा बच्चा चाहे आसमान छू ले, सीपी में संभवतः समुद्र समा जाय, हिमालय हिल जाय तो हिल जाय, पर भारत की सती देवियाँ अपने प्रण से तनिक भी नहीं डिग सकतीं।"

चूड़ावतजी प्रेम-भरी नज़रों से एकटक रानी की ओर देखते-देखते सीढ़ी से उतर पड़े। रानी सतृष्ण नेत्रों से ताकती रह गईं।

६

चूड़ावतजी घोड़े पर सवार हो रहे हैं। डंके की आवाज़ घनी होती जा रही है। घोड़े फड़क-फड़क कर अड़ रहे हैं।

चूड़ावतजी का प्रशस्त ललाट अभी तक चिंता की रेखाओं से कुंचित है। रतनारे लोचन-ललाम रण-रस में पगे हुए हैं।

उधर रानी विचार कर रही हैं—"मेरे प्राणेश्वर का मन मुझ में ही यदि लगा रहेगा, तो विजय लक्ष्मी किसी प्रकार उनके गले में जयमाल नही डालेगी। उन्हें मेरे सतीत्व पर संकट आने का भय है। कुछ अंशों में यह स्वाभाविक भी है।"

इसी विचार-तरंग में रानी डूबती-उतराती हैं। तब तक चूड़ावतजी का अंतिम संवाद लेकर आया हुआ एक विप्र सेवक विनम्र भाव से कह उठता है—"चूड़ावतजी चिह्न चाहते हैं—दृढ़ आशा और अटल विश्वास का। संतोष होने योग्य कोई अपनी प्यारी वस्तु दीजिये। उन्होंने कहा है, 'तुम्हारी ही आत्मा हमारे शरीर में बैठ कर इसे रण-भूमि की ओर लिये जा रही है; हम अपनी आत्मा तुम्हारे शरीर में छोड़ कर जा रहे हैं।'"

स्नेह-सूचक संवाद सुन कर रानी अपने मन में विचार रही हैं—"प्राणेश्वर का ध्यान जब तक इस तुच्छ शरीर की ओर लगा रहेगा, तब तक निश्चय ही वे कृत-कार्य नहीं होंगे।" इतना सोच कर बोलीं—"अच्छा, खड़ा रह, मेरा सिर लिये जा।"

जब तक सेवक 'हाँ! हाँ!' कह कर चिल्ला उठता है, तब तक दाहिने हाथ में नंगी तलवार और बायें हाथ में लच्छेदार

केशों वाला मुंड लिये हुए रानी का धड़, विलास-मंदिर के संगममेरी फर्श को सती रक्त से सींच कर पवित्र करता हुआ, धड़ाम से धरती पर गिर पड़ा !

बेचारे भय-चकित सेवक ने यह 'दृढ़ आशा और अटल विश्वास का चिह्न' काँपते हुए हाथों से ले जाकर चूड़ावतजी को दे दिया। चूड़ावतजी प्रेम से पागल हो उठे। वे अपूर्व आनंद में मस्त होकर ऐसे फूल गए कि कवच की कड़ियाँ धड़ाधड़ कड़क उठीं।

सुगंधों से सींचे हुए मुलायम बालों के गुच्छे को दो हिस्सों में चीर कर चूड़ावतजी ने, उस सौभाग्य-सिंदूर से भरे हुए सुंदर शीश को, गले में लटका लिया। मालूम हुआ, मानो स्वयं भगवान् रुद्रदेव भीषण भेष धारण कर शत्रु का नाश करने जा रहे हैं। सबको भ्रम हो उठा कि गले में काले नाग लिपट रहे हैं या लंबी-लंबी सटकार लटें हैं। अटारियों पर से सुंदरियों ने भर-भर अंजली फूलों की वर्षा की, मानो स्वर्ग की मानिनी अप्सराओं ने पुष्प-वृष्टि की। बाजे-गाजे के शब्दों के साथ घहराता हुआ, आकाश फाड़ने वाला, एक गंभीर स्वर चारों ओर से गूँज उठा—

'धन्य मुंडमाल !!!'

कहानी का प्लाट

[श्री शिवपूजन सहाय]

१

मैं कहानी-लेखक नहीं हूँ। कहानी लिखने योग्य प्रतिभा भी मुझमें नहीं है। कहानी-लेखक को स्वभावतः कला-मर्मज्ञ होना चाहिये, और मैं साधारण कलाविद् भी नहीं हूँ। किंतु कुशल कहानी-लेखकों के लिए एक 'प्लाट' पा गया हूँ। आशा है, इस 'प्लाट' पर वे अपनी भड़कीली इमारत खड़ी कर लेंगे।

× × × × ×

मेरे गाँव के पास एक छोटा-सा गाँव है। गाँव का नाम बड़ा गँवारू है, सुनकर आप घिनाएँगे। वहाँ एक बूढ़े मुंशीजी रहते थे—अब वे इस संसार में नहीं हैं। उनका नाम भी, विचित्र ही था—"अनमिल आखर अर्थ न जापू"—इसलिए उसे साहित्यिकों के सामने बताने से हिचकता हूँ।

ख़ैर, उनके एक पुत्री थी, जो अब तक मौजूद है। उसका नाम—जाने दीजिये, सुन कर क्या कीजियेगा? मैं बताऊँगा भी नहीं! हाँ, चूँकि उसके संबंध की बातें बताने में कुछ सुगमता होगी, इसलिए उसका एक कल्पित नाम रख लेना ज़रूरी है। मान लीजिए, उसका नाम है 'भगजोगनी'। देहात की घटना है, इसलिए देहाती नाम ही अच्छा होगा। ख़ैर, आगे बढ़िये—

मुंशीजी के बड़े भाई पुलिस-दारोगा थे—उस ज़माने में जब कि अँगरेज़ी जानने वालों की संख्या उतनी ही थी, जितनी आज धर्म-शास्त्रों के मर्म जानने वालों की है; इसलिए उर्दू पढ़े-लिखे लोग ही ऊँचे-ऊँचे ओहदे पाते थे। दारोगाजी ने आठ-दस पैसे का करीमा-खालिकबारी पढ़ कर जितना रुपया कमाया था, उतना आज कालेज और अदालत की लाइब्रेरियाँ चाट कर वकील होने वाले भी नहीं कमाते।

लेकिन दारोगाजी ने जो कुछ कमाया, अपनी ज़िंदगी में ही फूँक-ताप डाला। उनके मरने के बाद सिर्फ़ उनकी एक घोड़ी बची थी, जो थी तो सिर्फ़ सात रुपये की; मगर कान काटती थी तुर्की घोड़ों के—कंबख्त बारूद की पुड़िया थी! बड़े-बड़े अँगरेज़ अफ़सर उस पर दाँत गड़ाये रह गये; मगर दारोगा जी ने सबको निबुआ-नोन चटा दिया। इसी घोड़ी की बदौलत उनकी तरक्की रुकी रह गई; लेकिन आखिरी दम तक वे अफ़सरों के चपले में न आये—न आये। हर

तरह से क़ाबिल, मेहनती, ईमानदार, चालाक, दिलेर और मुस्तैद आदमी होते हुए भी वे दारोगा के दारोगा ही रह गए—सिर्फ़ घोड़ी की मुहब्बत से !

किंतु घोड़ी ने भी उनकी इस मुहब्बत का अच्छा नतीजा दिखाया—उनके मरने के बाद .खूब धूम-धाम से उनका श्राद्ध करा दिया। अगर कहीं घोड़ी को भी बेच खाये होते, तो उनके नाम पर एक ब्राह्मण भी न जीमता। एक गोरे अफ़सर के हाथ खासी रक़म पर घोड़ी को ही बेच कर मुंशीजी अपने बड़े भाई से उऋण हुए।

दारोगाजी के ज़माने में मुंशीजी ने भी .खूब घी के दीये जलाये थे। गाँजे में बढ़िया से बढ़िया इत्र मल कर पीते थे—चिलम कभी ठंडी नहीं होने पाती थी। एक जून बत्तीस बटेर और चौदह चपातियाँ उड़ा जाते थे! हाथ मारने में तो दारोगाजी के भी बड़े भैया थे—अपना उल्लू सीधा करना भली भाँति जानते थे।

किंतु जब बहियाँ बह गईं, तब चारों ओर उजाड़ नज़र आने लगा। दारोगाजी के मरते ही सारी अमीरी घुस गई। चिलम के साथ-साथ चूल्हा-चक्की भी ठंडी हो गई। जो जीभ एक दिन बटेरों का शोरबा सुड़कती थी, वह अब सराह-सराह कर मटर का सत्तू सरपोटने लगी। चुपड़ी चपातियाँ चाबने वाले दाँत अब चंद चने चबा कर दिन

गुज़ारने लगे। लोग साफ़ कहने लग गये—थानेदारी की कमाई और फूस का तापना दोनों बराबर है।

गरीबों की खाल उतारने वाले मुंशीजी को गाँव-जवार के लोग भी अपनी नज़रों से उतारने लगे। जो मुंशीजी चुल्लू के चुल्लू इत्र लेकर अपनी पोशाकों में मला करते थे, उन्हीं को अब अपनी रूखी-सूखी देह में लगाने के लिए चुल्लू भर कड़वा तेल मिलना भी मुश्किल हो गया। शायद किस्मत की फटी चादर का कोई रफ़ूगर नहीं है!

लेकिन ज़रा किस्मत की दोहरी मार तो देखिये। दारोगा जी के ज़माने में मुंशीजी के चार-पाँच लड़के हुए; पर सब के सब सुबह के चिराग़ हो गये। जब बेचारे की पाँचों उँगलियाँ घी में थीं, तब तो कोई खाने वाला न रहा, और जब दोनों टाँगें दरिद्रता के दलदल में आ फँसीं और ऊपर से बुढ़ापा भी कंधे दबाने लगा, तब कोढ़ में खाज की तरह एक लड़की पैदा हो गई। और तारीफ़ यह कि मुंशीजी की बदकिस्मती भी दारोगाजी की घोड़ी से कुछ कम स्थावर नहीं थी!

सच पूछिये तो इस तिलक-दहेज के ज़माने में लड़की पैदा करना ही बड़ी भारी मूर्खता है। किंतु युग-धर्म की क्या दवा है? इस युग में अबला ही प्रबला हो रही हैं। पुरुष-दल को स्त्रीत्व खदेड़े जा रहा है। बेचारे मुंशीजी का क्या दोष? जब घी और गरम मसाले उड़ते थे, तब तो हमेशा लड़का ही

पैदा होता रहा; मगर अब मटर के सत्तू के समय लड़की ने आ जन्म लिया! सचमुच अमीरी की क़ब्र पर पनपी हुई ग़रीबी बड़ी ही ज़हरीली होती है!

२

भगजोगनी चूँकि मुंशीजी की ग़रीबी में पैदा हुई और जन्मते ही माँ के दूध से वंचित हो कर 'टूअर' कहलाने लगी, इसलिए अभागिन तो बेहद थी, इसमें शक नहीं; पर सुंदरता में वह अँधेरे घर का दीपक थी। आज-कल वैसी सुघर लड़की किसी ने कभी कहीं न देखी!

अभाग्यवश मैंने उसे देखा था! जिस दिन पहले-पहल उसे देखा, वह क़रीब ग्यारह-बारह वर्ष की थी। पर एक ओर उसकी अनूठी सुघराई और दूसरी ओर उसकी दर्दनाक ग़रीबी देख कर, सच कहता हूँ, कलेजा काँप गया। यदि कोई भावुक कहानी-लेखक या सहृदय कवि उसे देख लेता, तो उसकी लेखनी से अनायास करुणा की धारा फूट निकलती। किंतु मेरी लेखनी में इतना ज़ोर नहीं है कि उसकी ग़रीबी के भयावने चित्र को मेरे हृदय-पट से उतार कर 'सरोज' के इस कोमल 'दल' पर रक्खे। और, सच्ची घटना होने के कारण, केवल प्रभाव-शाली बनाने के लिए, मुझसे भड़कीली भाषा में लिखते भी नहीं बनता। भाषा में ग़रीबी को ठीक-ठीक चित्रित करने

की शक्ति नहीं होती, भले ही वह राज-महलों की ऐश्वर्य-लीला और विशाल वैभव के वर्णन करने में समर्थ हो!

आह! बेचारी उस उम्र में भी कमर में सिर्फ़ एक पतला-सा चिथड़ा लपेटे हुई थी, जो मुश्किल से उसकी लज्जा ढँकने में समर्थ था। उसके सिर के बाल तेल बिना बुरी तरह बिखर कर बड़े डरावने हो गए थे। उसकी बड़ी-बड़ी आँखों में एक अजीब ढँग की करुण-कातर चितवन थी। दरिद्रता-राक्षसी ने सुंदरता-कुमारी का गला टीप दिया था!

कहते हैं, प्रकृत सुंदरता के लिए कृत्रिम शृंगार की ज़रूरत नहीं होती; क्योंकि जंगल में पेड़ की छाल और फूल-पत्तियों से सज कर शकुंतला जैसी सुंदरी मालूम होती थी, वैसी दुष्यंत के राज-महल में सोलहो सिंगार करके भी वह कभी न फबी। किंतु शकुंतला तो चिंता और कष्ट के वायु-मंडल में नहीं पली थी। उसके कानों में उदर-दैत्य का कर्कश हाहाकार कभी न गूँजा था। वह शांति और संतोष की गोद में पल कर सयानी हुई थी, और तभी उसके लिए महाकवि की 'शैवाल-जाल-लिप्त-कमलिनी' वाली उपमा उपयुक्त हो सकी। पर 'भगजोगनी' तो ग़रीबी की चक्की में पिसी हुई थी, भला उसका सौंदर्य कब खिल सकता था! वह तो दाने-दाने को तरसती रहती थी, एक बित्ता कपड़े के लिए भी मुहताज थी। सिर में लगाने के लिए एक चुल्लू अलसी का तेल भी सपना हो रहा था। महीने के एक

दिन भी भर-पेट अन्न के लाले पड़े थे। भला हड्डियों के खँड़हर में सौंदर्य-देवता कैसे टिके रहते !

३

उफ़ ! उस दिन मुंशीजी जब रो-रोकर दुखड़ा सुनाने लगे, तब कलेजा टूक-टूक हो गया। कहने लगे—

"क्या कहूँ, बाबू साहब ! पिछले दिन जब याद आते हैं, तब गश आ जाता है। यह ग़रीबी की तीखी मार इस लड़की की वजह से और भी अखरती है। देखिये, इसके सिर के बाल कैसे खुश्क और गोरखधँधारी हो रहे हैं। घर में इसकी माँ होती, तो कम से कम इसका सिर तो जूँओं का अड्डा न होता। मेरी आँखों की जोत अब ऐसी मंद पड़ गई कि जूँएँ सूझतीं नहीं। और, तेल तो एक बूँद भी मिलता नहीं। अगर अपने घर में तेल होता, तो दूसरे के घर जाकर भी कँघी-चोटी करा लेती, सिर पर चिड़ियों का घोंसला तो न बनता ! आप तो जानते हैं, यह छोटा-सा गाँव है, कभी साल-छमासे में किसी के घर बच्चा पैदा होता है, तो इसके रूखे-सूखे बालों के नसीब जगते हैं !

"गाँव के लड़के, अपने-अपने घर भर-पेट खाकर, जब झोलियों में चबेना लेकर खाते हुए घर से निकलते हैं, तब यह उनकी बाट जोहती रहती है—उनके पीछे-पीछे लगी फिरती है, तो भी मुश्किल से दिन में एक-दो मुट्ठी चबेना मिल पाता है। खाने-पीने के समय किसी के घर पहुँच

जाती है, तो इसकी डीठ लग जाने के भय से घर-वालियाँ दुरदुराने लगती हैं! कहाँ तक अपनी मुसीबतों का बयान करूँ, भाई साहब! किसी की दी हुई मुट्ठी-भर भीख लेने के लिए इसके तन पर फटा आँचल भी तो नहीं है! इसकी छोटी अंजलियों में ही जो कुछ अँट जाता है, उसी से किसी तरह पेट की जलन बुझा लेती है! कभी-कभी एक-आध फंका चना-चबेना मेरे लिए भी लेती आती है; उस समय हृदय दो टूक हो जाता है।

"किसी दिन, दिन-भर घर-घर घूम कर जब शाम को मेरे पास आकर धीमी आवाज़ से कहती है कि बाबूजी! भूख लगी है—कुछ हो तो खाने को दो; उस वक्त, आपसे सशपथ कहता हूँ, जी चाहता है कि गल-फाँसी लगा कर मर जाऊँ या किसी कुएँ-तालाब में डूब मरूँ। मगर फिर सोचता हूँ कि मेरे सिवा इसकी खोज-खबर लेने वाला इस दुनिया में अब है ही कौन! आज अगर इसकी माँ भी ज़िंदा होती, तो कूट-पीस कर इसके लिए मुट्ठी-भर चून जुटाती—किसी क़दर इसकी परवरिश कर ही ले जाती; और अगर कहीं आज मेरे बड़े भाई साहब जीवित होते, तो गुलाब के फूल-सी ऐसी लड़की को हथेली का फूल बनाये रहते। ज़रूर ही किसी 'राय बहादुर' के घर में इसकी शादी करते। मैं भी उनकी अंधा-धुंध कमाई पर ऐसी बेफ़िक्री से दिन गुज़ारता था कि आगे आने वाले इन बुरे दिनों की बिल्कुल ख़बर न थी।

वे भी ऐसे खर्चीले थे कि अपने कफ़न-काठी के लिए भी एक फूटी कौड़ी न छोड़ गए—अपनी ज़िंदगी में ही एक-एक चप्पा ज़मीन बेच खाई—गावँ-भर से ऐसी दुश्मनी बढ़ाई कि आज मेरी इस दुर्गत पर भी कोई रहम करने वाला नहीं है, उलटे सब लोग तानेज़नी के तीर बरसाते हैं। एक दिन वह था कि भाई साहब के पेशाब से चिराग़ जलता था, और एक दिन यह भी है कि मेरी हड्डियाँ निर्धनता की आँच से मोमबत्तियों की तरह घुल-घुल कर जल रही हैं।

"इस लड़की के लिए आस-पास के सभी जवारी भाइयों के यहाँ मैंने पचासों फेरे लगाये, दाँत दिखाये, हाथ जोड़ कर विनती की, पैरों पड़ा—यहाँ तक बेहया होकर कह डाला कि बड़े-बड़े वकीलों, डिप्टियों और ज़मींदारों की चुनी-चुनाई लड़कियों में मेरी लड़की को खड़ी करके देख लीजिये कि सबसे सुंदर जँचती है या नहीं, अगर इसके जोड़ की एक भी लड़की कहीं निकल आये तो इससे अपने लड़के की शादी मत कीजिये। किंतु मेरे लाख गिड़गिड़ाने पर भी किसी भाई का दिल न पिघला। कोई यह कह टाल देता कि लड़के की माँ ऐसे घराने में शादी करने से इनकार करती है, जिसमें न सास है, न साला और न बारात की ख़ातिर-दारी करने की हैसियत। कोई कहता कि ग़रीब घर की लड़की चटोर और कंजूस होती है, हमारा खानदान बिगड़ जायगा। ज़्यादातर लोग यही कहते मिले कि हमारे लड़के

को इतना तिलक-दहेज मिल रहा है, तो भी हम शादी नहीं कर रहे हैं; फिर बिना तिलक-दहेज के तो बात भी करना नहीं चाहते। इसी तरह, जितने मुँह उतनी ही बातें सुनने में आईं। दिनों का फेर ऐसा है कि जिसका मुँह न देखना चाहिये, उसका भी पिछाड़ देखना पड़ा।

"सिरफ़ मामूली हैसियत वालों को भी पाँच सौ और एक हज़ार तिलक-दहेज कहते देख कर जी कुढ़ जाता है—गुस्सा चढ़ आता है; मगर ग़रीबी ने तो ऐसा पंख तोड़ दिया है कि तड़फड़ा भी नहीं सकता। हिंदू-समाज के क़ायदे भी अजीब ढंग के हैं! जो लोग मोल-भाव करके लड़के की बिक्री करते हैं, वे भले आदमी समझे जाते हैं; और कोई ग़रीब बेचारा उसी तरह मोल-भाव करके लड़की को बेचता है तो वह कमीना कहा जाता है! मैं अगर आज इसे बेचना चाहता तो इतनी काफी रक़म ऐंठ सकता था, कि कम से कम मेरी ज़िंदगी तो ज़रूर ही आराम से कट जाती। लेकिन जीते-जी हरगिज़ एक मक्खी भी न लूँगा। चाहे यह कँवारी रहे या सयानी होकर मेरा नाम हँसाये। देखिये न, सयानी तो क़रीब-क़रीब हो ही गई है—सिर्फ़ पेट की मार से उकसने नहीं पाती, बढ़ंती रुकी हुई है। अगर किसी खुशहाल घर में होती, तो अब तक फूट कर सयानी हो जाती—बदन भरने से ही खूबसूरती पर भी रोग़न बढ़ता है, और बेटी की बाढ़ बेटे से जल्दी होती भी है।

"अब अधिक क्या कहूँ, बाबू साहब! अपनी ही करनी का नतीजा भोग रहा हूँ। मोतियाबिंद, गठिया और दमा ने निकम्मा कर छोड़ा है। अब मेरे पछतावे के आँसुओं में भी ईश्वर को पिघलाने का दम नहीं है। अगर सच पूछिये, तो इस वक्त सिर्फ़ एक ही उम्मीद पर जान अटकी हुई है—एक साहब ने बहुत कहने-सुनने से इसके साथ शादी करने का वायदा किया ह। देखना है कि गाँव के खोटे लोग उन्हें भी भड़काते हैं, या मेरी झाँझरी नैया को पार लगने देते हैं। लड़के की उम्र कुछ कड़ी ज़रूर है—इकतालिस-बयालिस साल की; मगर अब इसके सिवा कोई चारा भी नहीं है। छाती पर पत्थर रख कर अपनी इस राज-कोकिला को.................।"

इसके बाद मुंशीजी का गला रुँध गया—बहुत बिलख कर रो उठे और भगजोगनी को अपनी गोद में बैठा कर फूट-फूट रोने लग गये। अनेक प्रयत्न करके भी मैं किसी प्रकार उनको आश्वासन न दे सका। जिसके पीछे हाथ धोकर वाम विधाता पड़ जाता है, उसे तसल्ली देना ठट्ठा नहीं है।

× × × × ×

मुंशीजी की कहानी सुनने के बाद मैंने अपने कई क्वाँरे मित्रों से अनुरोध किया कि उस अलौकिक रूपवती दरिद्र कन्या से विवाह करके एक निर्धन भाई का उद्धार और

अपने जीवन को सफल करें; किंतु सबने मेरी बात अनसुनी कर दी। ऐसे लोगों ने भी आनाकानी की, जो समाज-सुधार-संबंधी विषयों पर पड़े शान-गुमान से लेखनी चलाते हैं। यहाँ तक कि प्रौढावस्था के रँडुए मित्र भी राज़ी न हुए !

आखिर वही महाशय डोला काढ़ कर भगजोगनी को अपने घर ले गए वहीं शादी की; कुल रस्में पूरी करके मुंशीजी को चिंता के दलदल से उबारा।

बेचारे मुंशीजी की छाती से पत्थर का बोझ तो उतारा, मगर घर में कोई पानी देने वाला भी न रह गया। बुढ़ापे की लकड़ी जाती रही, देह लच गई। साल पूरा होते-होते अचानक टन बोल गए। गाँव वालों ने गले में घड़ा बाँध कर नदी में डुबा दिया।

× × × × ×

भगजोगनी जीती है। आज वह पूर्ण युवती है। उसका शरीर भरा-पूरा और फूला-फला है। शोक है कि उसका सुहाग उसे विलपती छोड़ कर इस संसार से किनारा कर गया ! हा भगजोगनी !

—:०:—

गृहिणी

[श्री सत्य जीवन वर्मा 'भारतीय']

हम उन नए सिरे के बंगले वालों की बात नहीं करते, पर मध्यम श्रेणी के प्रायः सभी घरों में आपको 'गृहिणी' अवश्य देखने को मिलेगी। 'गृहिणी' के अनेक पर्याय भिन्न-भिन्न लोगों द्वारा व्यवहार में आते हैं। कोई 'घरवाली' कहता है, कोई 'श्रीमतीजी' के नाम से पुकारता है। वृद्ध लोग 'बच्चन, लल्लन, रामा, श्यामा अर्थात् अमुक की माँ' कहते हुए देखे गये हैं। सारांश यह कि पति-देव की अवस्था के अनुसार हमारी गृहिणी का भी नामकरण बदलता रहता है। हमें इन अगणित पर्यायों से सरोकार नहीं, हम तो 'गृहिणी' का चरित्र-चित्रण करने बैठे हैं।

हमारी गृहिणी मध्यम श्रेणी की स्त्री होती है, न अधिक मोटी, न अधिक दुबली, न अधिक लंबी, न बहुत ठिगनी। साधारण भारतीय स्त्रियों का-सा रंग-रूप। चेहरे का कटाव

शरीर का बनाव सभी भारतीय। इसे आप न सुंदरी कह सकते हैं, न कुरूप, न काली, न गोरी। यदि आप स्त्रियों के विषय में काले-गोरे का प्रश्न उठावें भी, तो गृहिणीजी को इससे कुछ दुःख या प्रसन्नता नहीं होती। वे जैसी हैं, वैसी ही रहना पसंद करती हैं। उन्हें अपनी स्थिति से पूर्ण संतोष है। हो सकता है, हमारे नेताओं के कथनानुसार, कृषकों की भाँति इनके संतोष का कारण इनकी मूर्खता—अपनी स्थिति का अज्ञान—हो। पर, हम कारणों का लेखा नहीं लेते। हमारे लिए जो जैसा है, वह वैसा है। हम तो 'वर्तमानवादी' हैं। हमारी गृहिणी भी 'भूत', 'भविष्य' से वास्ता नहीं रखती। वह वर्तमान को सब प्रकार अपने हाथों में रखती है। उसका भविष्य-चिंतन २४ घंटे से आगे नहीं जाता—सो भी कब? जब उसके पति-देव के अँगरेज़ी महीने की पहली तारीख़ निकट आती है तभी वह भविष्य में क्या-क्या करेगी, पहली तारीख़ को वेतन मिलने पर क्या क्या ख़रीदेगी, किस-किस को क्या-क्या देगी आदि बातों का चिंतन करती है। गृहिणी का 'भूत' या 'विगत' सदा देहात के बूढ़ों की भाँति, दूध-पूत से भरा रहा है। 'भूत' में गृहिणी पर क्या-क्या बीता, दुःख या सुख, उसका—भारतीय इतिहास की भाँति—कोई हिसाब-किताब नहीं रहता—पर हाँ, रहती है उसकी स्मृति मधुर, सुखमय और आनंद-दायिनी। गृहिणी को न तो कभी आप 'बीते' पर पश्चात्ताप करते पावेंगे और न कभी आपको उसकी

शिकायत ही सुनने को मिलेगी। कल्पना का आनंद जैसे छायावादी कवि लेते है—अनंत, अतीत आदि का मधुर स्वाद जैसे ये लोग लेकर मस्त हो जाते हैं—वैसे ही गृहिणी अपने ऊपर बीते हुए दुःखों-सुखों, आपत्तियों-विपत्तियों आदि की धुँधली स्मृति को जगा कर, कभी-कभी अपने बीते दिनों पर रो लेती है। पर इनमें उसे मानो साहित्यिक आनंद मिलता है। स्मृति यदि सुख न देती, तो हमारी गृहिणी कभी उसका उपयोग न करती।

गृहिणी के चरित्र के विकास का आरंभ पीहर से ही होता है। माता-पिता की गोद में पल कर वह घरेलू जीवन का पाठ पढ़ती है, सुघर गृहिणियों का चरित्र सुनती है। उसकी कल्पना-भूमि में वे ही चित्र अंकित होते हैं, जो आगे चल कर उसके आदर्श हो जाते हैं। वह लड़कपन में खेल खेलती है—गुड़ियों का घर सजाती है, गुड्डे-गुड़ियों को खिलाती, पिलाती, सुलाती, बहलाती है। वे बड़े होते हैं, उनका विवाह करती है। बारात आती है। वह अपने पुत्र या पुत्री, गुड्डे या गुड़िया की उत्तरदायिनी माता के रूप में अपने को देखती है। बारातियों की ख़ातिर करती है। दामाद की बलाएँ लेती है। रोते हुए, अपनी गुड़िया को वह ससुराल के लिए विदा करती है। गुड़िया के पुत्र होता है—हमारी 'बालिका-गृहिणी-माता' अपने नाती या पोते के जन्म पर खुशी मनाती है। बधाई भेजती है। आनंद करती है। यह सब खेल में

होता है, पर, इसकी छाप क्या उस बालिका के हृदय पर नहीं पड़ती ? खेल-खेल में उसके चैतन्य-हृदय में भविष्य-जीवन और उसके चित्र की रूप-रेखा खिंच जाती है। उसका नन्हा, पर अनुभूति-शक्ति-संपन्न हृदय इन गुड्डे-गुड्डी के खेलों के बीच एक अपूर्व आनंद का अनुभव करता है, यह धीरे-धीरे उसका आदी होने लगता है और हमारी भावी गृहिणी अपने भविष्य के पद को सुशोभित करने के निमित्त धीरे-धीरे उपयुक्त तथा योग्य हो जाती है।

विवाह के पश्चात् गृहिणी के जीवन का विकास आरंभ होता है। वह अपने को ऐसे अंश में पाती है, जहाँ उसे अपने दिल के हौसले निकालने का पूरा अवसर मिलता है। और उसके हौसले ही क्या ? गुड्डे-गुड़ियों के खेल की पुनरावृत्ति ! पिता के घर वह इसे 'खेल' के रूप में करती थी। पति के घर वह इसका वास्तविक रूप में निर्वाह करती है। यही उसके संपूर्ण जीवन का आदर्श है, विनोद है, व्यसन है, सुख, आनंद, मज़ाक, धुन, अभिलाषा, कल्पना—यही सब कुछ है। गृहिणी के पति तो होता है, पर वह उसके केवल दो ही उपयोग जानती है, खिलाना और उससे धनोपार्जन कराना। गृहिणी के कल्पना जगत् में पति का चित्र केवल धनोपार्जन करने के यंत्र के रूप में अंकित होता है। उसके काल्पनिक 'अलबम' को आप किसी 'यंत्र-निर्माता' का 'सूचीपत्र' कह सकते हैं। हिंदू-दांपत्य-जीवन

का उद्देश्य संतान उत्पन्न करना है। पति पत्नी को संतान उत्पन्न करने का यंत्र समझता है। फिर पत्नी भी यदि पति को धनोपार्जन का यंत्र समझे तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है? यह तो सनातन से चला आया है। इसके प्रति असंतोष प्रकट करना समाज के संरक्षकों के 'शाप' को न्यौता देना होगा। कम से कम हम तो यही कहेंगे। आधुनिक विचारों का नव-युवक इस पर अट्टहास करेगा, घृणा-सूचक भाव-भंगी प्रदर्शित करेगा, संभव है 'हिम्मत न हारने का उपदेश' भी दे। पर सभी एक तरह के नहीं हो सकते। समाज की परंपरागत रीतियों—विचारों—के विरुद्ध आचरण करना साधारण काम नहीं और न यह सब के बूते की बात है।

हमारी गृहिणी हमारे घरेलू कारख़ाने का यंत्र भी है और चलाने वाली भी। हमारा 'गृह-लोक', यों कहिए, उसी से उत्पन्न होता और वह उसी में लीन रहती है। उपमा ठीक तो नहीं बैठी और है भी पुराने ढंग की। ख़ैर, आधुनिक काव्य की शब्दावली में हम कह सकते हैं—हमारी गृहिणी अनंत है, मूक वीणा है, प्रकाशमय अंधकार है, 'उस पार' है, रूप-राशि है, प्रवाह-रहित सरिता है, क्रंदन है, नीरव है, निशीथ है, तुमुल है, तिमिर है, तुहिन है, यह है, वह है। आप पूछेंगे, "आख़िर इसका तात्पर्य क्या है? हम तो कुछ समझते नहीं!" वाह! आपने .खूब कही। छायावाद, साया-

वाद, यह वाद, वह वाद, सभी आप नित्य पढ़ते हैं, उन पर आलोचनाएँ लिखते हैं, उनका रस लेते हैं और फिर भी आप पूछते हैं—इसका अर्थ क्या है? जैसा उन कविताओं का अर्थ होता है, वैसा हमारी इन उपमाओं का भी अर्थ होगा। ख़ैर, आप नहीं समझ सके तो आप का दुर्भाग्य! हमने तो अपनी समझ में बहुत सुंदर-सुंदर शब्द चुन कर रक्खे थे।

दफ़्तर के नित्य कर्म की भाँति गृहिणी की दिन-चर्या सदा एक-सी रहती है। अपवाद-स्वरूप अर्द्ध-सरकारी संस्थाओं की भाँति कभी-कभी इसका कार्य-क्रम कुछ अधिक 'भारी' हो जाता है, जैसे तीज-त्योहारों के दिन, जन्म-मरण के अवसर पर, शादी-ब्याह के समय पर, नहीं तो, एक प्रकार से, सुबह से शाम तक, विवाह से वैधव्य तक, गृहिणी के दिन एक ही तरह, चिर-समान, बीतते हैं। वह प्रातःकाल उठती है। सब से पहले झाड़ू हाथ में लेती है, घर की सफ़ाई के लिए। अगर नौकर हुए, तो उन्हें डाँट-फटकार बताती है—यह नहीं किया, वह नहीं किया। घर का काम चालू करके वह जल्दी से बच्चों को तैयार करती है। सब नहा-धो चुके, कपड़े पहन चुके, खा-पी चुके, तो गृहिणी स्वयं नित्य-क्रिया से निपटने चलती है। उसका नहाना-धोना बात की बात में होता है। क्षण-भर के लिए वह चुपचाप कुछ पढ़ती है, सूर्य की ओर देख कर कुछ कहती है, फिर घूमती है, हाथ जोड़ती है और तुरंत

चौके में जाकर रसोई के फेर में पड़ जाती है । दाल चढ़ी है, चावल फिर से साफ़ हो रहा है । मसाला ठीक नहीं पिसा, इसे फिर पिसवाओ, आटा मुलायम नहीं गुँधा— बाबूजी रोटियाँ नहीं खा सकते । इस प्रकार के अनंत कार्य वह या तो स्वयं करती है, या मिसरानी के सिर पर चढ़ कर कराती है । जब तक वह बैठी रहेगी, कुछ करती रहेगी, कुछ बकती रहेगी । मिसरानी चुपचाप काम करती जायगी । अपने विद्रोह का भाव आँखें बचा कर महरा को इशारे से समझाती जायगी । महरा चुपचाप 'हाँ, बहूजी' कहता जायगा, काम करता जायगा । बीच-बीच में मौक़े से मुसकरा कर मिसरानी का अनुमोदन भी करता जायगा । दस बजने में बीस मिनट बाक़ी है, नौ के बाद का आधा बज चुका है । गृहिणी के कानों में वह मानो अभी तक बज रहा है । रह-रह कर वह मिसरानी को ललकारती है, महरा से बाबूजी को ख़बर देने का तक़ाज़ा करती है । इसी बीच बच्चे खेल-कूद कर आ पहुँचते हैं । कोई खाना माँगता है, कोई पानी के लिए रो रहा है, कोई कुछ, कोई कुछ । घर आबाद हो जाता है । सप्त-स्वर का आलाप चारों ओर गूँज जाता है । गृहिणी मिसरानी को ताकीद कर बच्चों के फेर में पड़ती है । उनसे छुट्टी मिली, तो मालूम हुआ—बाबूजी कच्ची-पक्की रोटी खाकर भागे चले गए । जल्दी में वे पान भी न पा सके । गृहिणी को अपने पर क्रोध आता है । उसका गुस्सा मिस-

रानी और नौकर पर उतरता है। सब अभ्यस्त है। सुनते हैं, मुसकराते हैं। मिसरानी सहानुभूति में दो-एक बूँद आँसू टपका देती है। उसकी विधवा आँखों में आँसुओं की कमी नहीं, और किसी वस्तु की हो तो हो!

दोपहर होने को आती है। गृहिणी भोजन करने बैठती है। कच्चा-पक्का, जला-ठंडा, जो कुछ सामने आता है, खाती है। मिसरानी को डाँटती है। आगे से स्वयं रसोई का काम अपने ऊपर लेने की प्रतिज्ञा करती है। इतने में बच्चे फिर अपना खेल आरंभ करते हैं। कोई गिर पड़ा है, कोई सो कर उठा है, किसी ने मुँह में काजल पोत लिया है, किसी ने मिर्चें चबा ली हैं। भोजन अभी समाप्त नहीं हुआ, पर गृहिणी उसे छोड़ कर बालकों का नाटक देखने उठ पड़ती है। यह तमाशा चार बजे तक रहता है। फिर गृहिणी अपने सारे बचकाने कुटुंब के साथ बाबूजी की प्रतीक्षा करती है। सोचती है, "आते ही क्षमा माँगूँगी। सवेरे खा ही नहीं सके; इस समय स्वयं अपने हाथों बना कर खिलाऊँगी।" मिसरानी की पुकार होती है। लड़के उसके सिपुर्द होते हैं। गृहिणीजी 'गृह-प्रबंध' में लगती हैं। जल-पान तैयार होने जा रहा है। चाय का पानी चूल्हे पर चढ़ा दिया गया। पाव रोटी काट कर रख दी गई। अँगीठी सुलग रही है। महरा बेसन फेट रहा है। गृहिणी सोच रही है—"जल-पान चार-पाँच चीज़ों से कम क्या हो। सवेरे भी तो भर-पेट

खाना नहीं खा सके हैं। आते होंगे भूखे प्यासे।" लकड़ी खिसका दी, आँच तेज़ हो गई। दो-एक चीज़ें बन गईं, दो-एक अभी बनने वाली हैं। बाबूजी आ गये। जल-पान की तैयारी होने लगी। लड़के अब मिसरानी की निगरानी नहीं पसंद करते। वे विद्रोह मचा रहे हैं। बाबूजी ने उन्हें मुक्त करा दिया। सब फिर ऊधम करने लगे। कोई रसोई में पहुँचा, किसी ने चाय उलट दी, कोई 'टोस्ट' लेकर चंपत हुआ, किसी ने प्याली पटक दी, कोई बेसन चाट रहा है, कोई चम्मच बजा रहा है। गृहिणीजी भन्ना गईं। एक-आध पर चपत जड़ दी। किसी के कान मल दिये। सब का रोना आरंभ हो गया। अब वे चुप कराने में लगीं। लड़के तो किसी भाँति चुप हुए, पर जल-पान की पूरी तैयारी न हो सकी।

बाबूजी जल-पान को पहुँचे। लड़के साथ देने लगे। कुछ खाया, कुछ फेंका, उससे जो बचा वह बाबूजी के हिस्से में आया। गृहिणीजी संतुष्ट हैं। अपने किये पर प्रसन्न हैं। अब उन्हें संतोष हो रहा है, आनंद मिल रहा है। वे अपने को धन्य समझ रही हैं। रह-रह कर उनके दिल में यही बात उठती है, "यही तो गृहस्थी का सुख है, यही तो गृहस्थी का आनंद है।" यदि उनके बस का हो तो, यही देखते-देखते वे सदा के लिए अपनी आँखें मूँद लें। पर, नहीं; अभी गुड्डे-गुड्डी का विवाह तो हुआ ही नहीं।

संध्या होती है। चिराग बत्ती होती है। बिछावन-उसावन होता है। बच्चों का रोना-गाना आरंभ होता है। लोरियाँ गाई जाती है। झूला 'चें-चें' करता हुआ झूलता है। सारा घर घंटे आध घंटे में शांत हो जाता है। गृहिणी उठती है। एक बार घर का दौरा करती है। उसके लिए कुछ न कुछ अवश्य बाक़ी रहता है। दफ्तर के 'क्लर्क' लोग चाहे जितना काम करें, पर 'अफ़सर' को कुछ न कुछ करने को बाक़ी रहता ही है। इसी बीच कोई श्रीमती मिलने आ पहुँचती हैं, कोई पड़ोसिन आ टपकती है। गृहिणी उनकी आव-भगत में लगती है। पान-पत्ता चलता है। बच्चों की शिकायत होती है। नौकर की तबदीली की सलाह होती है। पास-पड़ोस की बातचीत चलती है। अपनी परेशानी और आने-जाने की फ़ुरसत न मिलने की फ़रियाद होती है। श्रीमती कहती हैं, "वाह जी! आपको रात-दिन अपने बखेड़ों ही में रहने में मज़ा आता है। जब देखो, घर बैठी हैं! वही चूल्हा-चक्की, वही रसोई-पानी, वही बच्चों के पीछे परेशान! मैं तो इन बखेड़ों में नहीं पड़ती। 'बाबूजी' अपना सब देखते-भालते हैं। मुझसे यह हो भी नहीं सकता। एक दिन घर से बाहर न निकलूँ, तो मेरा खाना न हज़म हो। तबीयत ही न लगे। मैं तो जब जी में आया, गाड़ी निकलवाई और चल पड़ी। चार दिन की ज़िंदगी है, कुछ शौक़-सिंगार भी तो आदमी को करना

चाहिए। यह क्या कि रात-दिन पड़े-पड़े घर में सड़ रहे हैं।"

श्रीमती का व्याख्यान रुकता नहीं, अगर पड़ोसिन बीच में न बोल उठे, "अजी, क्या जाने आपसे कैसे होता है! अपने से तो यह नहीं होता कि घर-द्वार नौकरों पर छोड़ कर सैर-सपाटा करती फिरें! यह भी कोई भलमानसाहत है! आप लोग पढ़ी-लिखी ठहरीं; जो चाहें, करें! हम लोगों से यह कैसे हो सकता है?" पड़ोसिन गृहिणी से 'हुँकारी' भराना चाहती है, पर उन्होंने मानों कुछ सुना ही नहीं! शायद उनका मन रसोई में बनने वाली पूरियों की ओर था कि कहीं मिसरानी कच्ची न निकाल दे। श्रीमती अपने व्याख्यान का जवाब न पाकर 'नमस्ते' कह कर चली गईं। पड़ोसिन को लेकर गृहिणी चौके में जा बैठी। अब खाने की बात-चीत शुरू हुई। पड़ोसिन बतला रही है—दम-आलू यों बनते हैं, कटहल की पकोड़ियाँ यों बनाई जाती हैं, बादाम का हलुआ यों तैयार होता है, मटर की कचौड़ियाँ इस प्रकार बनती हैं। रायते में राई अधिक न होनी चाहिए। तरकारी में धनियें की पत्तियाँ डालना न भूलना चाहिए। गृहिणी सब सुनती रहती है; ध्यान लगा कर, मन लगा कर। उनके स्मृति-पट पर ये नुस्खे टँकते जाते हैं।

गृहिणी को आप कभी बेकार न देखेंगे, अथवा यों कहें कि, वह आपको अपनी बेकारी का अनुभव न करने देगी।

वह सदा काम में व्यस्त रहती है, अथवा कामों के चिंतन में व्यस्त रहती है। प्रथम तो वह अधिक बातचीत न करेगी और यदि कभी बातचीत का रुख़ ही हुआ तो उसकी बातें घरेलू झगड़ों से आगे न बढ़ेंगी। उसके विषय घर, लड़के, बीमारी, पूजा-पाठ आदि ही होंगे। ऐसा मालूम होता है मानो उसकी कल्पना इनके 'उस पार' जा ही नहीं सकती। आज-कल के समाज-सुधारकों को उस पर दया आती है। वे हमारी गृहिणियों को भी, किसानों की भाँति, भड़काना चाहते हैं। एक-दो भोली-भाली उनकी 'भड़ी-बाज़ी' में आ भी जाती हैं, पर संतोष का विषय यही है कि अधिकतर गृहिणियाँ ऐसे सुधारकों की बातें अपने कानों तक भी फटकने नहीं देतीं। परंपरागत प्रथा को छोड़ना वे अधर्म, महा-पातक समझती हैं। यही कुशल है, नहीं तो हमारे देश में जैसी हुल्लड़बाज़ी हो रही है, वैसी ही हमारे घरों में भी होने लगती। फिर बेचारी हिंदू-सभ्यता, आर्य-संस्कृति को कहाँ ठिकाना मिलता! इन्हीं गृहिणियों के पीछे तो बेचारी ने जाकर शरण ली है।

गृहिणी का स्वभाव प्रायः तीव्र नहीं होता। उसमें आप उत्तेजना न पावेंगे। लोग भ्रम-वश उसे निर्जीव कह बैठते हैं। हमारा ऐसा विचार नहीं है। हम गृहिणी को शासिका, विनय-शीला, मर्यादा की रक्षा करने वाली समझते हैं। यह सब उसने एक दिन में नहीं सीखा। वैदिक काल से किये

गए आर्य-जाति के अविरल प्रयत्नों का यह स्वर्ण-फल है। आज-कल हमारे देश के कुछ बहके, पाश्चात्य सभ्यता के रंग में रँगे, स्वयं बने सुधारक लोग अज्ञान-वश अपने पूर्वजों का यह पुण्य-कृत्य मिटाना चाहते हैं। हम अपने मुख से उन्हें कुछ नहीं कहना चाहते; पर, इतना हम जानते हैं कि हमारी गृहिणियाँ उन्हें कोसती अवश्य हैं।

हमारी गृहिणी तीव्र स्वभाव की नहीं होती; इसका अर्थ यह नहीं है कि उसे क्रोध नहीं आता! आता है, पर, उसकी मात्रा सीमा से बाहर नहीं होती। क्रोध, ईर्ष्या, विषाद आदि जितने मानुषिक भाव हैं, उन सब का गृहिणी में होना अनिवार्य है। हाँ, इतना अवश्य है कि उनकी मात्रा के न्यून होने में गृहिणी की विशेषता, उसकी शोभा रहती है।

सरस साहित्य की भाँति गृहिणी में कोई भाव आवश्यकता से अधिक परिपक्वता को प्राप्त नहीं होने पाता। रहते सब हैं, पर नियमित रूप में; आवश्यकतानुसार उनका प्रयोग होता है। गृहिणी का प्रत्येक क्षण भिन्न भावों का शिकार रहता है, पर उसका सारा जीवन शांत-रस का सागर होता है, जिसमें सभी रस लीन हो जाते हैं। गृह-जीवन की रंग-भूमि में नाना अवसरों पर वह ईर्ष्या, विषाद, सुख दुःख, संयोग-वियोग सभी का हिस्सा अदा करती है, पर उसकी आत्मा सदा शांति-सागर में शयन किया करती है। गृहिणी मृत्यु पर रोवेगी, वियोग में दुखी होगी, मिलने पर प्रसन्न होगी,

खुशी के समय पर आनंद मनाएगी—सारांश यह कि जीवन की प्रत्येक छोटी-बड़ी घटना उसके भावों को विचलित करेगी, उन्हें प्रकट करेगी। यह सब क्षण-क्षण पर होता रहने पर भी वह गृहिणी के व्यक्तित्व को न छू सकेगा। उसकी आत्मा इसकी अवहेलना, असारता को मानो खूब समझती है। गीता की आवृत्ति चाहे उसने न की हो, पर उसके सार-गर्भित सिद्धांत मानो उसके रोम-रोम में भर कर गए हैं। गृहिणी जन्म भर अपने छोटे संसार में होने वाली सारी घटनाओं को उन्हीं आँखों से—उन्हीं विचारों से—देखती है, जिनसे लड़कपन में गुड्डे-गुड़ियों का खेल खेलती था। वह उस में भी, रोती थी, हँसती थी, आश्चर्य करती थी, आनंद मनाती थी। वही अब भी करती है। तब उसे खेल समझती थी, अब इन सब व्यापारों को वह अनिवार्य समझती है। जीवन की कोई घटना उसके लिए नई नहीं, असंभव नहीं। यह समझते हुए भी वह उन घटनाओं पर हँसती है, रोती है, दुःख प्रकट करती है, प्रसन्न होती है! आखिर यह सब क्यों? प्रश्न हो सकता है। हमें इस प्रश्न का बहुत ठीक उत्तर मिला था,—"यदि ऐसा न किया जाय, तो 'लोग' क्या कहेंगे और फिर ऐसा क्यों न हो?" अब हमारी समझ में आ गया, गृहिणी पुत्र उत्पन्न करने में अनेक दुःख पाते हुए भी क्यों आनंद से फूली नहीं समाती? बच्चों की बीमारी पर आवश्यकता से अधिक क्यों परेशान रहती है?

किसी के मर जाने पर, किसी को बिदा करते समय, किसी से मिलने पर, क्यों रोती है ? इन सब कार्यों में अनुभूति की मात्रा उतनी नहीं होती जितनी परंपरागत प्रथा के निर्वाह का ध्यान !

ऊपर के कथन से लोग यह न समझ बैठें कि गृहिणी में अनुभूति की मात्रा नहीं होती। अनुभूति की मात्रा उसमें बड़ी तीव्र होती है, पर वह ऐसी बातों में नहीं, जो सनातन से होती आई हैं। मरना, जीना, संयोग, वियोग, बीमारी, आराम, हानि-लाभ, ये सब तो प्राचीन समय से होते ही आये हैं और होते रहेंगे। इन अवसरों पर जैसा आचरण प्राचीन काल से होता आया है, वही गृहिणी भी करेगी और करती है। परंतु इनके अतिरिक्त कुछ ऐसी घटनाएँ भी हैं, जो देखने में बड़े महत्त्व की नहीं हैं, पर दुर्भाग्य-वश जिनका गृहिणी को न अनुमान है, न उन्हें उसने कहीं देखा-सुना है। अतः ऐसे अवसरों पर उसकी अनुभूति-शक्ति को भारी धक्का पहुँचता है और वह कभी-कभी प्रचंड रूप धारण कर लेती है। उदाहरणार्थ यदि ग़लती से नौकर के हाथ से शीशे का गिलास छूट कर टूट जाय, तो यह अनहोनी घटना गृहिणी के हृदय-पटल पर बड़ा असर करेगी। उसके दुःख का पारावार न रहेगा। इसे वह अनंत काल तक अपनी स्मृति में संचित कर रक्खेगी और जब कभी उसकी याद आयगी, उसे समान दुःख का अनुभव होगा। और भी कई छोटे-मोटे

उदाहरणों से उसके अन्य भावों की अनुभूति का दिग्दर्शन कराया जा सकता है। पर, समझदार पाठकों के लिए हम एक ही यथेष्ट समझते हैं।

हमारी गृहिणियों में आत्म-संमान की मात्रा कम नहीं है। यदि आपने कभी भूल से उन्हें रुष्ट कर दिया, तो याद रखिए, केवल क्षमा माँगने या "मुझे दुःख है" कहने से काम न चलेगा। आपको पूरी सज़ा भुगतनी पड़ेगी, जिससे आप फिर ऐसी ग़लती न करें। हमारे मित्र अपना एक अनुभव सुनाते थे। उनका कथन है कि किसी दिन अपने मित्र के साथ भोजन करते समय उन्होंने उससे कह दिया कि आज तरकारी कुछ ठीक नहीं बनी। गृहिणी ओट में बैठी सुन रही थी। उसका अपमान हो गया। फिर क्या था, मित्र महोदय को कई दिन बिना नमक की तरकारी खानी पड़ी। बेचारे भले आदमी हफ़्तों बाद राज़ी कर पाये।

गृहिणी अपने कामों की आलोचना नहीं सुन सकती। वह जानती है कि वह जिस रीति से उनका संपादन करती है, उसमें इस युग के किसी मनु-वंशज को 'मीन-मेख' निकालने का अधिकार नहीं है। जो उसे सिखाया गया है, वह ठीक सिखाया गया है; जो वह कर रही है, वह सनातन की परिपाटी है। आज-कल यदि कोई उसमें परिवर्तन करना चाहे अथवा उसकी त्रुटि निकाले, तो यह धृष्टता है, पूर्वजों का अनादर है; आर्य-संस्कृति, हिंदू-सभ्यता, धर्म-कर्म के प्रति अपराध

संभव नहीं कि वर्षों तक उनकी जाँच करता रहे। बात तो मित्र ने मार्के की कही थी। गृहिणियों की पहचान बहुत साधारण है। जिस मध्यम श्रेणी के आदमी का घर आप साफ़-सुथरा देखें, जिस घर में बच्चे आपको साफ़-सुथरे और मगन मिलें, आप समझ लीजिए कि इसमें कोई गृहिणी रहती है। यदि आप उस घर में जा सकें, तो गृहिणी को भी देख सकते हैं।

घर और बच्चों को देख कर यदि आप गृहिणी के संबंध में भी कोई सरस कल्पना करेंगे, तो आपको हताश होना पड़ेगा। गृहिणी, कार्य में व्यस्त, मलिन वस्त्र पहने, अस्त-व्यस्त आपको नज़र आएगी। उसका चेहरा बच्चों की भाँति प्रफुल्ल न होगा। 'मिसों' की भाँति चंचल मुस्कराहट भी वहाँ न मिलेगी, 'मिसेज़'-गणों के बने हुए चेहरों की भाँति उस पर पौडर का वैभव न होगा। उसके चेहरे से (जो शायद आधा घूँघट से ढका होगा) थकावट, उदासीनता, व्यस्तता, तन्मयता ही का साक्षात् होगा। परंतु उसकी आँखों में गर्व, आत्म-संमान, दृढ़ता और आत्मा की शांति की झलक होगी, जो आपसे क्षण भर भी न छिपेगी। आपको देखते ही वह आतिथ्य के कर्त्तव्य-पालन के निमित्त उठ पड़ेगी। विनय और शील की मूर्ति होकर आपका संमान करेगी। इससे अधिक आप उससे कुछ न आशा करें। उसे घंटों आपसे व्यर्थ की बातें करने की फ़ुरसत नहीं—और

न कोई बात ही है, जिस पर वह आपसे इतनी देर तक बातचीत कर सके।

गृहिणियाँ अधिकतर पर्दे में रहती हैं। वहाँ हर एक की पहुँच नहीं, अतः हम उनके विषय में सविस्तर लिखने में असमर्थ हैं। प्रायः सभी पाठकों के घर (हम आशा करते हैं) 'गृहिणी' अवश्य होगी। उनसे हमारा निवेदन है कि अपने-अपने अनुभव की कोई नई बात, यदि हो तो, कृपया हमें लिख भेजें, जिसमें हम उनकी सहायता से अपने इस निबंध को भविष्य में परिवर्धित कर सकें। हम विश्वास दिलाते हैं कि उनका उल्लेख, धन्यवाद सहित, फ़ुट-नोट में अवश्य कर देंगे।

हमारी राष्ट्र-भाषा कैसी हो

[श्रीयुत संतराम बी. ए.]

थोड़े दिनों से हिंदुओं में एक ऐसी मंडली उत्पन्न हो गई है जो हिंदी को राष्ट्र-भाषा बनाने के बहाने उसमें अरबी-फ़ारसी के मोटे-मोटे गला-घोंटू शब्द ठूँसने की चेष्टा कर रही है। जहाँ तक मुझे ज्ञात है, इस मंडली के नेता श्रीयुत काका कालेलकर और इसके परम सहायक श्री हरिभाऊ उपाध्याय और श्री वियोगी हरि जी हैं। काका जी के हिंदी लेख देखने का तो मुझे पहले कभी सुअवसर नहीं मिला, परंतु वियोगी हरि जी, 'हरिजन-सेवक' के संपादक बन कर इस मंडली में संमिलित होने के पूर्व जैसी सुंदर और सरस हिंदी लिखते थे, उसे पढ़ कर मन आनंद-विभोर हो जाता था। उनकी पहली हिंदी और उनकी आज-कल की हिंदी का एक-एक नमूना मैं यहाँ देता हूँ। इससे दोनों के अंतर का पता लग जायगा।

वियोगी हरि जी की पहले की भाषा—"ब्रज-भाषा के साहित्य-सूर्य सूरदास के नाम से हम सभी परिचित हैं। छोटे से रुनकता गाँव के इस ब्रजवासी संत ने हिंदी-भाषियों के घर-घर में श्रद्धा-भक्ति-पूर्ण एक अजर-अमर स्थान बना लिया है। महाप्रभु श्री वल्लभाचार्य के इस परम कृपा-पात्र ने 'अष्टछाप' का सर्वोच्च स्थान प्राप्त कर श्रीकृष्ण-भक्ति को हमारे हृदय में सदा के लिए बसा दिया है। सूर-सागर के रत्न महोदधि के चौदह रत्नों से कहीं अधिक कांतिमय और बहु-मूल्य हैं। सूर के पद-रत्नों की आभा ही कुछ और है। सूर की सूक्ति-मणियों से भाषा-साहित्य अलंकृत होकर विश्व-साहित्य में सदा गौरव स्थानीय रहेगा इसमें संदेह नहीं।"

'हरिजन-सेवक' की हिंदी का नमूना—"हिंदी-हिंदुस्तानी शब्द का मैंने यहाँ इरादतन प्रयोग किया है।... इन बरसों के दरम्यान उनकी शैली में कितना अधिक अंतर हो गया है। असल में यह दृष्टि-परिवर्तन खुद-ब-खुद तभी से व्यक्त होने लगा था।... ... वे समाज के मौजूदा तअस्सुबों पर कटाक्ष तो करते थे, पर उन पर कभी सीधा हमला नहीं करते थे।"

श्रीयुत हरिभाऊ उपाध्याय ने श्री जवाहरलाल जी की अँग्रेज़ी में लिखी आत्म-कथा का हिंदी में अनुवाद किया है। हिंदी पुस्तक का नाम 'मेरी कहानी' है। उसके आवरण पृष्ठ पर हमें लिखा मिलता है—"यह तो समय-समय पर मेरे

अपने मन में उठने वाले ख़यालात और जज़्बात का और बाहरी वाक़यात का उन पर किस तरह और क्या असर पड़ा, इसका दिग्दर्शन-मात्र है।"

पिछले दिनों काका कालेलकर लाहौर आए थे। तब उनसे मिलने का मुझे अवसर मिला था। वे भारत में एक राष्ट्र-भाषा और एक राष्ट्र-लिपि के प्रचार के उद्देश से ही दौरा कर रहे थे। लाहौर में उन्होंने अनके विद्वानों से इस विषय पर बातचीत की थी। परंतु जहाँ तक मुझे ज्ञात है वे, कम से कम पंजाब के संबंध में, किसी निश्चय पर नहीं पहुँच सके थे। इसके बाद 'राष्ट्र-भाषा हिंदी का प्रचार, किस लिए?' शीर्षक उनका एक लेख मुझे कलकत्ता के साप्ताहिक 'विश्वमित्र' में पढ़ने को मिला। उसके पाठ से इस राष्ट्र-भाषा प्रचारक-मंडली के विचारों का और जिस प्रकार की वे हिंदी चाहते हैं उसका बहुत कुछ पता लग गया। काका जी मरहठा हैं। संस्कृत के पंडित, अंग्रेज़ी के विद्वान् और मराठी एंव गुजराती के सुयोग्य लेखक हैं। उर्दू आप नहीं पढ़ सकते! परंतु आपके उपर्युक्त लेख में अँग्रेज़ी, मराठी एवं गुजराती का तो कदाचित् एक भी शब्द नहीं, भरमार है केवल अरबी-फ़ारसी के शब्दों की। जैसे कि हरगिज़, नेस्तोनाबूद, मदद, तसफ़िया, तंगदिली, फ़िरक़ापरस्ती, ज़रिए, अँग्रेज़ीदाँ, ख़तरनाक, चुनांचे, आमफ़हम, फ़ारसी रस्म-ख़त, ख़ानदान, दरमियान, हरूफ़, अजीबोग़रीब,

हंगामा, बुज़ुर्ग। इससे विदित होता है कि हिंदी को राष्ट्र-भाषा बनाने का एक-मात्र साधन ये सज्जन उसमें अरबी और फ़ारसी के मोटे-मोटे शब्दों को घुसेड़ना ही समझते हैं। कदाचित् उनको आशा है कि इससे मुसलमान प्रसन्न होकर हिंदी-भाषा तथा देवनागरी लिपि को अपनाएँगे। परंतु मुझे तो उनकी यह आशा दुराशा-मात्र ही जान पड़ती है।

मैं दूसरी भाषाओं के शब्दों को लेने के विरुद्ध नहीं। इनसे हमारी भाषा का शब्द-भांडार बढ़ता है। परंतु हमें केवल वही शब्द लेने चाहिएँ जिनके भाव को प्रकट करने वाले शब्द हमारी भाषा में न हों। 'यदि' के रहते 'इफ़' और 'अगर' को लेना; 'विचारों, भावों और घटनाओं' के रहते 'ख़यालात, जज़बात और वाक़यात' लिखना, 'अक्षर, चित्र-विचित्र, और लिपि' को छोड़ कर 'हरूफ़, अजीबोग़रीब और रस्म-ख़त' का प्रयोग करना सर्वथा अनावश्यक वरन् हानिकारक है। यह हिंदी पढ़ने वाले बच्चों पर अत्याचार है। मुझे यू० पी० का पता नहीं, परंतु मैं निश्चय के साथ कह सकता हूँ कि पंजाब के स्कूलों की लड़कियाँ इन फ़ारसी-अरबी शब्दों को बिलकुल नही समझतीं। इन अनावश्यक शब्दों को लेना भाषा के भांडार को रत्नों के स्थान में घास-फूस और कूड़ा-करकट से भरने की व्यर्थ चेष्टा करना है। मानव-जीवन केवल बहुत-से शब्द सीखने के लिए ही नहीं। शब्द तो मानसिक विकास का साधन-मात्र हैं।

काका कालेलकर कहते हैं कि "राष्ट्र-भाषा का नाम शिक्षा और संस्कृति से संबंध रखता है। इसका संबंध न तो किसी क़िस्म की राजनीति से है और न किसी धर्म या संप्रदाय से।" काका जी की बात को मान कर भी मैं पूछता हूँ कि इस प्रकार के विदेशी भाषाओं के शब्द घुसेड़ने से शिक्षा या संस्कृति को क्या लाभ पहुँचता है? 'जज़बात' की जगह यदि 'भावना' लिख दिया जाय तो शिक्षा में कौन कठिनाई आ जाती है? बच्चे के मस्तिष्क में बहुत-से पर्यायवाची शब्द ठूँसने से उसके बौद्धिक विकास में क्या सहायता मिलती है?

भाषा का संस्कृति के साथ मैं संबंध स्वीकार करता हूँ। इसी लिए मैं इन अनावश्यक शब्दों को लेने के पक्ष में नहीं। अरब की और फ़ारस की अपनी-अपनी संस्कृतियाँ हैं। उनकी भाषाओं के शब्द उन संस्कृतियों के भावों को प्रकट करते हैं। भारत की, विशेषतः यहाँ के हिंदुओं की, अपनी एक विशिष्ट संस्कृति है। उसके भाव संस्कृत और हमारी प्रांतीय भाषाओं के शब्दों में भरे हुए हैं। 'धर्म' शब्द जिस भाव का द्योतक है, 'मज़हब' उसको नहीं दिखलाता। अरबी और फ़ारसी संस्कृति एवं भाषा की रक्षा अरब और फ़ारस कर रहा है। उनकी रक्षा की चिंता भारतीयों को नहीं होनी चाहिए। हमें तो अपने धर्म, अपनी भाषा और अपनी संस्कृति की रक्षा की आवश्यकता है। सो हिंदी को राष्ट्र-भाषा बनाने या भारत की सब की समझ में आ जाने वाली

भाषा बनाने के बहाने संस्कृत शब्दों को कठिन या पंडिताऊ बता कर उनका बहिष्कार किया जा रहा है, इससे संस्कृत-भाषा और भारतीय सभ्यता की घोर हानि होने की आशंका है। इस समय भारत में कहीं भी संस्कृत नहीं बोली जाती। फिर भी यहाँ की सभी भाषाएँ अपना शब्द-भांडार संस्कृत से ही भरती है। संस्कृत सभी प्रांतीय भाषाओं को एकता के सूत्र में बाँधने वाला सूत्र है। यदि यह बात नही तो क्या कारण है कि एक हिंदू के लिए संस्कृत सीखना जितना सुगम है, उतना एक अरब निवासी के लिए नहीं ? संस्कृत-शब्दों का प्रचार बंद हो जाने से हिंदुओं के लिए भी संस्कृत-ग्रंथों का पढ़ना उतना ही कठिन हो जायगा जितना कि अरबों या तुर्कों के लिए है। ऐसी अवस्था में हमारे प्राचीन साहित्य, इतिहास, संस्कृति, धर्म और पूर्वजों से हमारा संबंध-विच्छेद हो जायगा, जैसे उर्दू-फ़ारसी पढ़ने वाले भारतीय मुसलमानों का राम-कृष्ण आदि महा-पुरुषों और आर्य-संस्कृति से हो चुका है। यदि भारत में भारतीय भाषा और संस्कृति की रक्षा न होगी तो फिर और कहाँ होगी ?

काका कालेलकर कहते हैं—"हम अपने यहाँ कोई नई भाषा नहीं बनाने जा रहे हैं। जिस भाषा को उत्तर-हिंदुस्तान के शहराती और देहाती लोग मिल कर बोलते हैं और जो सबों की समझ में बड़ी आसानी से आ सकती है उसी को हम भारत की राष्ट्र-भाषा—हिंदुस्तान की क़ौमी-ज़बान—

मानेंगे। हम अपनी राष्ट्र-भाषा को पंडितों और मौलवियों की तरह संस्कृत या अरबी-फ़ारसी के शब्दों से लादना नहीं चाहते।" ....इस संबंध में मेरा निवेदन है कि यदि 'जज़बात, ख़यालात, फ़िरक़ापरस्ती' आदि शब्दों को आप बुरा नहीं समझते तो फिर मौलवी लोग और कौन-सी भाषा लिखते हैं? अरबी-फ़ारसी को संस्कृत के बराबर का स्थान देना बड़ा भारी अन्याय है। संस्कृत का भारतीयों पर विशेष अधिकार है, उसकी रक्षा और प्रचार हमारा परम कर्तव्य है। यदि भारतीय उसकी रक्षा नहीं करेंगे तो और कौन करेगा? इसका जितना अधिक प्रचार होगा, भारतीय भाषाओं में उतनी ही अधिक एकता स्थापित होगी। यह कहना ठीक नहीं कि कोई नई भाषा नहीं बनाई जा रही है। मैं कहता हूँ, बड़े प्रयत्न-पूर्वक बनाई जा रही है। आज से पचीस वर्ष पहले से लेकर आज तक हिंदी में जितनी पुस्तकें या पत्रिकाएँ छपी हैं उनमें से किसी की भी भाषा वैसी नहीं, जैसी आज काका कालेलकर जी की मंडली बनाने जा रही है या जैसी 'मेरी कहानी' एवं 'हरिजन-सेवक' में देखने को मिलती है। पंजाब में सिख गुरुओं के समय में जैसी भाषा बोली जाती थी, उसका नमूना गुरुओं की वाणी में मिलता है। गुरु तेग़बहादुर का एक पद है—

काहे रे वन खोजन जाई ।
सर्व-निवासी सदा अलेपा, तोहि संग समाई ।
पुहुप मध्य जिमि बास बसत है, मुकुर माँहि जस छाई ।
तैसे ही हरि बसै निरंतर, घर ही खोजहुँ जाई ।
बाहर भीतर एकै जानहुँ, यह गुरु ज्ञान बताई ।
जन नानक बिन आप चीन्हें, मिटै न भ्रम की काई ॥

इससे सरल हिंदी और क्या हो सकती है ? परंतु जब से पंजाब में अदालत की भाषा उर्दू हुई है और जब से पंजाब के सभी सरकारी स्कूलों में उर्दू ही शिक्षा का माध्यम बना दी गई है तब से गुरु-वाणी को समझने वालों का अभाव-सा हो गया है । अब पंजाब की कांग्रेसी स्त्रियाँ 'इंकलाब ज़िंदाबाद' कहती हैं, 'क्रांति की जय' नहीं । गाँव में भी लोग नज़रसानी, अम्र तंकीह, मुद्दई, मुद्दा-अलह आदि बोलने लगे हैं । यह क्यों ? केवल इसलिए कि उन पर यह शब्द ठूँसे गये हैं । पंजाब की कन्या-पाठशालाओं में, विशेषतः आर्य-समाज और सनातन-धर्म की पुत्री-पाठशालाओं में, जो हिंदी पढ़ाई जाती है वह शुद्ध संस्कृतानुगामिनी हिंदी है । इसलिए उन पाठशालाओं की पढ़ी लड़कियों को "नेस्तोनाबूद, मयस्सर, लबालब, इश्तियाक़, खुद-ब-खुद" आदि शब्द ऐसे ही अपरिचित जान पड़ते हैं जैसे चीनी या जापानी शब्द । परंतु राष्ट्र-भाषा का नाम पर यह कड़वा घूँट उन्हें निगलना पड़ेगा । इसी प्रकार हैदरा-

बाद (दक्षिण) की प्रायः नब्बे प्रति सैकड़ा जनता हिंदू है। उसमें तलगू, तामिल, कनारी और मराठी बोलने वाले हैं। उनके लिए अरबी-फ़ारसी के शब्दों का शुद्धोच्चारण करना भी कठिन है। परंतु निज़ाम साहब ने वहाँ की राज-भाषा उर्दू बना कर और उस्मानिया-विश्व-विद्यालय स्थापित कर वहाँ की भाषा ही बदल दी है। जो उर्दू हैदराबाद के हिंदुओं के पूर्वजों के लिए चीनी या लातीनी के समान अपरिचित थी, वही अब राज्य के प्रचार से उनकी मातृ-भाषा-सी बनती जा रही है। सो यह तो यत्न और प्रचार की बात है। इँग्लैंड में 'थैकरे' आदि के समय में जनता 'फ्रेंच' और लातीनी शब्दों और वाक्यों का लिखना और बोलना एक बड़ी मान-प्रतिष्ठा का काम समझती थी। परंतु तत्पश्चात् स्वदेश-प्रेमी अँग्रेज़ लेखकों ने उन सब शब्दों और वाक्यों को दूध में से मक्खी की भाँति निकाल कर बाहर फेंक दिया। ✓

जिस वस्तु को मनुष्य अपने लिए उपयोगी समझ कर स्वेच्छा पूर्वक खाता है,वह पच कर उसके शरीर का अंग बन जाती है, और उससे उसकी देह पुष्ट होती है। इसके विपरीत जो वस्तु बलात् अनिच्छा-पूर्वक उसके भीतर ठूँसी जाती है, वह विजातीय द्रव्य उसे हानि करता है। नीरोग शरीर पर जब रोग के विजातीय कीड़े आक्रमण करते हैं, तब शरीर उनको मार कर भगा देता है, वे उस पर अधिकार नहीं पा सकते। परंतु जब शरीर निर्बल हो जाता है, तब

वे कीड़े उसमें घर बना लेते हैं और उसकी नाक, मुँह आदि के मार्ग से वैसे के वैसे निकलने लगते हैं। यही दशा किसी जाति की है। बलवान् जाति तो विदेशी भाषाओं में से नए और उपयोगी शब्द लेकर आत्मसात् कर लेती है। फिर उनका ऐसा रूपांतर होता है कि पता ही नहीं लगता कि वे शब्द किसी विदेशी भाषा के हैं या स्वदेशी भाषा के। परंतु पराधीन निर्बल जाति पर जब कोई सबल जाति प्रभुत्व जमाती है, तब वह अपनी भाषा, अपना रहन-सहन और अपना धर्म उसके गले में ठूँसने का यत्न करती है। निर्बल जाति कुछ काल तक तो विजेता के उस सांस्कृतिक और भाषा-संबंधी आक्रमण का प्रतिवाद करती है, परंतु जब उसमें जीवट नहीं रह जाती तब चुपचाप हार मान कर उन उदासता के चिह्नों को आभूषण समझ कर धारण कर लेती है।

यू० पी० में मुसलमानों का स्थिर राज्य देर तक रहा है। आगरा, लखनऊ, दिल्ली इस्लाम के केंद्र रहे हैं। इसलिए यू० पी० ही उर्दू का गढ़ है। वहाँ हिंदू परिवारों की स्त्रियाँ भी 'नमस्ते' के स्थान में 'दुआ-सलाम' कहती हैं। यू० पी० की अदालत की भाषा भी उर्दू है। यद्यपि हिंदी को भी अदालतों में स्थान दिया गया है, तथापि क्वचित् ही कोई ऐसा नगर होगा, जहाँ अदालत की भाषा हिंदी हो। काशी तक में सारा अदालती काम उर्दू में होता है। श्री मालवीय जी

जैसे हिंदी-प्रेमियों के रहते भी अभी यू० पी० उर्दू-आक्रांत ही है। उसी यू० पी० की भाषा को हिंदी, हिंदी-हिंदुस्तानी और राष्ट्र-भाषा कह कर दूसरे प्रांतों पर लादा जा रहा है। फिर आश्चर्य की वात यह है कि जिस मार्ग पर हिंदी स्वाभाविक रूप से चल रही है उसे उधर से हटा कर दलदल में फँसाया जा रहा है। पुस्तकों और पत्रिकाओं की हिंदी तो कदाचित् यू० पी० में कहीं भी नहीं बोली जाती। वहाँ की भाषा तो अभी मुसलमानों की दासता से निकलने का यत्न कर रही थी कि यह राष्ट्र-भाषा-प्रचारक मंडली 'जज़वात और वाक़यात' के गोले उस पर फेंकने लगी। मैं नहीं कह सकता, गोंडा, वस्ती एवं गोरखपुर के गाँवों में लोग 'जज़वात और वाक़यात' जैसे शब्द समझते होंगे। फिर यह भाषा नगर और गाँव की कैसे हुई? साहित्यिक भाषा बोल-चाल की भाषा से सदा अलग रहेगी। इतिहास और विज्ञान के लिए आपको नए-नए शब्द गढ़ने ही पड़ेंगे। यदि आप उनको संस्कृत से न गढ़ कर अरबी-फ़ारसी से गढ़ेंगे तो 'घर से वैर अवर से नाता' की लोकोक्ति को चरितार्थ करते हुए आप भारत की भाषा-संबंधी एकता साधित न करके अधिक पृथक्त्व का ही कारण बनेंगे। अँग्रेज़ी विदेशी भाषा है। उसे सीखने में बरसों लग जाते हैं। परंतु कितनी भी कठिन पुस्तक हो, कभी कोई भारतीय उसकी अँग्रेज़ी के कठिन या दुर्बोध होने की शिकायत नहीं

करता। इसके विपरीत संस्कृत का कोई छोटा-सा भी शब्द आ जाय तो भाषा की क्लिष्टता की शिकायत होने लगती है। इसका कारण कदाचित् यह है कि अँग्रेज़ी से अनभिज्ञता प्रकट करना अपने को सभ्य-समाज की दृष्टि में गिराना समझा जाता है। परंतु हिंदी की क्लिष्टता की शिकायत करना बड़प्पन और भाषा तत्त्व का विशेषज्ञ होने का लक्षण है। यदि फ़ारसी-अरबी के अनावश्यक और गला-घोंटू शब्दों का रखना अतीव आवश्यक है, तो अँग्रेज़ी ने ऐसा कौन अपराध किया है? उसे अपनाने से तो सारे संसार के साथ संबंध स्थापित हो जाता है। अरब और फ़ारस से अँग्रेज़ सभ्य और शक्तिशाली भी अधिक है।

बात वास्तव में यह है कि केवल कोरी युक्ति और तर्क के घोड़े दौड़ाने से कुछ नहीं बनता। संगठित असत्य भी असंगठित सत्य को दबा लेता है। संसार में कर्म-योगी की ही जीत है। दर्शन-शास्त्र के पुजारी हिंदुओं की सौ संमतियाँ हैं। कोई कहता है, बँगला राष्ट्र-भाषा होनी चाहिए, कोई अँग्रजी के गुण गा रहा है, कोई हिंदी के साथ व्यभिचार करके ऐसी भाषा तैयार करने की चेष्टा कर रहा है जो आधा तीतर और आधा बटेर है। कोई "मेरा फ़ादर-इन-ला मेरी वाइफ़ को बहुत बुरी तरह ट्रीट करता है" ऐसी भाषा का ही प्रेमी बन रहा है। सारांश यह कि हिंदुओं के

जितने मुँह उतनी ही बातें हैं। वाग्वीरता बहुत है, कर्मण्यता कुछ भी नहीं। उधर मुसलमान काश्मीर से कन्या-कुमारी तक एक स्वर से उर्दू के लिए पुकार कर रहे हैं, जिसका कारण यह है कि उन्हें सफलता प्राप्त हो रही है। बिहार जैसे प्रांतों में भी उर्दू अदालत की भाषा हो गई है।

काका कालेलकर कहते हैं कि "हम राष्ट्र-भाषा में से संस्कृत और अरबी-फ़ारसी शब्दों के निकाल डालने के पक्ष में नहीं हैं।" मेरा निवेदन है कि अरबी-फ़ारसी शब्द तो आप निकाल ही नहीं सकते। आपके ऐसी कोई चेष्टा करते ही देश का राजनीतिक वायु-मंडल बिगड़ जायगा; मुसलमान रूठ जायँगे। परंतु संस्कृत के शब्दों का बहिष्कार तो आप न जानते हुए भी कर रहे हैं। 'समूल नाश' की जगह 'नेस्तोनाबूद'; 'फूट' की जगह 'नाइत्तिफ़ाक़ी' और 'भयावह' की जगह 'ख़तरनाक' लिखना संस्कृत के शब्दों का बहिष्कार नहीं तो और क्या है? यदि आप कहें कि समझाने के लिए लिखा है तो 'अनीहिलेशन', 'डिस-यूनियन' और 'डेंजरस' भी तो कहीं लिखा होता! मुसलमान से डरना और अँग्रेज़ के सामने अकड़ना, यह कहाँ का न्याय है? आप मुसलमानी संस्कृति को तो गले लगाते हैं; परंतु "पश्चिमी संस्कृति की प्रभुता को मज़बूत" नहीं बनने देना चाहते। क्यों? इस्लामिक संस्कृति में ऐसे क्या सद्गुण हैं जो पश्चिमी संस्कृति में नहीं?

जो अरब और ईरानी भारत में आकर बस गए हैं अथवा जिन भारतीयों ने इस्लाम-धर्म ग्रहण कर लिया है, न्याय और देश-प्रेम चाहता है कि वे अरबी-फ़ारसी को छोड़ कर इस देश की भाषा ही को अपनाएँ। हमने आज तक इँग्लैंड या जापान में बसने वाले किसी अरब या ईरानी को अँग्रेज़ों या जापानियों को अरबी-फ़ारसी शब्द अपनी भाषा में घुसेड़ने को विवश करते नहीं सुना। फिर भारत का ही बाबा आदम क्यों निराला है ? राष्ट्र-भाषा के नाम पर जिस प्रकार की गँदली भाषा उपर्युक्त मंडली लिखने लगी है, वैसी उर्दू या जिसे श्री काका कालेलकर जी फ़ारसी रस्म-ख़त में हिंदी कहते हैं, लिखते मैंने एक भी मुसलमान को नहीं देखा। जिस प्रकार कांग्रेस ने मुसलमानों की अनुचित माँगों के सामने सिर झुका कर और ख़िलाफ़त जैसा आंदोलन खड़ा करके राष्ट्रीय दृष्टि से बड़ी भूल की थी और जिसका कटु फल देश को अब चखना पड़ रहा है, मैं समझता हूँ, उपर्युक्त राष्ट्र-भाषा-प्रचारक मंडली की चेष्टाएँ भी वैसे ही दुष्परिणाम उत्पन्न करेंगी। मुसलमान तो संस्कृत के शब्दों को अपनाएँगे नहीं, हाँ, तर्क-जीवी हिंदू संस्कृत का परित्याग अवश्य कर देंगे।

एक राष्ट्र-लिपि बनाने का विचार बड़ा शुभ है। परंतु उसमें भी सब को प्रसन्न करने की नीति हानिकारक सिद्ध होगी। पंजाब में उर्दू, गुरुमुखी और हिंदी ये तीन लिपियाँ

प्रचलित हैं। सिख और मुसलमान तो गुरुमुखी और उर्दू को छोड़ने को तैयार नहीं; हाँ, नपुंसक हिंदुओं में किसी बात पर दृढ़ रहने की शक्ति नहीं, उनको हिंदी से हटा कर चाहे किसी ओर लगा दीजिए! नागरी-लिपि की काट-छाँट में जितना समय और श्रम व्यय किया जा रहा है, यदि उतना हिंदुओं में नागरी के प्रति प्रेम को दृढ़ करने में लगाया जाय तो अधिक उपकार की आशा है। हमारी नागरी-लिपि जापान की लिपि से तो अधिक दोष-पूर्ण नहीं। क्या जापान उसी लिपि को रखते हुए स्वतंत्र और एकता के सूत्र में आवद्ध नहीं? मैंने सुना है, जापानी-लिपि वर्ण-माला नहीं, वरन् उसका एक-एक अक्षर एक-एक शब्द या वाक्य का द्योतक है। उस अक्षर का उच्चारण जापान और चीन के भिन्न-भिन्न भागों में चाहे भिन्न-भिन्न हो, परंतु लिखा जाने पर उसका अर्थ सर्वत्र एक ही समझा जायगा। रूसी सोविएटों ने अपनी एकता को दृढ़ करने के लिए किसी नई लिपि का निर्माण नहीं किया, वरन् एक पुरानी वर्ण-माला का ही जीर्णोद्धार करके उसका प्रचार किया है। भारत की राष्ट्र-भाषा हिंदी और राष्ट्र-लिपि नागरी होने से ही देश का कल्याण है, इस बात को स्वीकार करके हमें इनके प्रचार एवं उद्धार में दृढ़ता-पूर्वक लग जाना चाहिये। आपकी सफलता और शक्ति को देख कर दूसरे लोग, यदि उनमें देश-प्रेम की भावना है, तो स्वयमेव आपके साथ आ मिलेंगे।

इस प्रकार मिन्नतें और चापलूसियाँ करने से कुछ लाभ न होगा। इससे हिंदी-प्रेमियों का भी संगठन न रहेगा और दूसरे लोग भी आपसे न मिलेंगे।

श्रीयुत हरिभाऊ उपाध्याय 'मेरी कहानी' की भाषा के संबंध में कहते हैं कि यह अनुवाद बहुत कुछ श्री जवाहरलाल जी की भाषा में हुआ है अर्थात् यदि मूल लेखक स्वयं हिंदी में लिखते तो वह हिंदी ऐसी हो होती। मेरी राय में ऐसी अटपटी भाषा लिखने के लिए यह कोई पर्याप्त कारण नहीं। श्री जवाहरलाल जी राजनीतिक विषयों में नेता और प्रमाण हो सकते हैं, परंतु इसका यह अर्थ बिलकुल नहीं कि वे प्रत्येक बात में नेता और प्रमाण हैं। विलायत से नवागत कोई अँग्रेज़ अथवा श्री अणे, अथवा श्री सत्यमूर्ति या श्री रवींद्रनाथ ठाकुर जैसी हिंदी बोलते हैं, क्या आप उसी ऊट-पटाँग हिंदी में उनकी पुस्तकें लिखेंगे और उसका नाम 'राष्ट्र-भाषा' यानी 'हिंदी-हिंदुस्तानी' रख कर सारे राष्ट्र को उसका अनुकरण करने का उपदेश देंगे? मेरा विचार है कि आप कभी भी वैसा दुस्साहस नहीं कर सकते। आज तक किसी जर्मन देश-भक्त ने अपनी 'आत्म-कथा' अँग्रेज़ी में, किसी अँग्रेज़ ने 'फ्रेंच' में या किसी इटालियन ने 'फ़ारसी' में नही लिखी है। श्री जवाहरलाल जी ने .खुद हिंदी में न लिख कर उस विदेशी भाषा में लिखा है। स्पष्ट है कि वे अपनी हिंदी को साहित्यिक या अनुकरणीय नहीं समझते। पंडित

महावीर प्रसाद जी द्विवेदी और बाबू श्यामसुंदरदास जी आदि सज्जन हिंदी के प्रामाणिक लेखक माने जाते हैं और साहित्यिक हिंदी के लिए उनकी ही शैली का अनुकरण करना परम आवश्यक है। कल्पना कीजिए कि यदि श्री जवाहरलाल जी अपनी मूल अँग्रेज़ी पुस्तक आपकी हिंदी जैसी 'विकास-शील' अँग्रेज़ी में लिखते और उसमें चीनी, जापानी और हब्शी भाषाओं के बहुत-से शब्द ठूँस देते क्योंकि इँग्लैंड में बहुत-से हब्शी भी बस गये हैं, तो उसकी कैसी मिट्टी ख़राब होती। महात्मा गाँधी जी के अँग्रेज़ी लेखों और जवाहरलाल जी की 'मेरी कहानी' की अँग्रेज़ों में क़द्र होने का एक बड़ा कारण यह है कि वह परिमार्जित अँग्रेज़ी में लिखी गई है। शुद्ध अँग्रेज़ी के रोब से दब कर ही लोग उनके सामने सिर झुका देते हैं।

श्री हरिभाऊ जी कहते हैं—"यदि हमें सचमुच ही हिंदी को राष्ट्र-भाषा के योग्य बनाना है तो उसमें हिंदुस्तान में प्रचलित तमाम धर्मों और प्रांतों की भाषाओं के सुप्रचलित शब्दों का समावेश अवश्य करना होगा।" और कि "३५ करोड़ हिंदुस्तानियों की भाषा वही हो सकती है जिसे सब लोग आसानी से समझ सकें और बोल सकें।" अब देखना यह है कि 'मेरी कहानी' में तेलगू, तामिल, मलयालम, कनाड़ी, पंजाबी, सिंधी, मुलतानी और झंगी आदि भारतीय भाषाओं के कितने शब्द हैं। मैं समझता हूँ, शायद ही कोई

निकले। फिर क्या 'ख्वाहिशात, जज़बात और वाक़यात' को सब कोई समझता है? मैंने तो फ़ौजी गोरों को देखा है। साधारण पढ़े-लिखे होने पर भी वे अँग्रेज़ी की साहित्यिक पुस्तकों के बहुत-से शब्दों के अर्थ नहीं समझते। उनको उनके अर्थ समझाने पड़ते हैं। तो क्या घटना, भावना, लालसा आदि शब्दों को यदि मुसलमान न समझें या समझने का यत्न करने में अपना अपमान समझें तो उनको प्रसन्न करने के लिए साहित्यिक हिंदी का ही मूलोच्छेदन कर दिया जाय? यह सब को प्रसन्न करने या मुसलमानों के पद-लेहन की कुनीति देश को ले डूबेगी। यह किसी बात को सत्य और उचित समझते हुए भी उस पर कटि-बद्ध होकर डट जाने की शक्ति देश-वासियों में न छोड़ेगी। इस दासता-सूचक प्रवृत्ति को जितना शीघ्र रोक दिया जाय, उतना ही राष्ट्र का भला है।

रामायण और साकेत की "मंथरा"

[श्रीयुत उदयशंकर भट्ट शास्त्री]

राम-चरित-मानस, कविता कला, आख्यान चातुर्य और हृदय को सांत्वना देने वाला अमर ग्रंथ है। हिंदी, साहित्य में अभी तक कोई भी और ग्रंथ साहित्यिक दृष्टि से उसकी बराबरी को नहीं पहुँच सका है, ऐसी आज-कल के साहित्यिकों की धारणा है। एक तरह से यह वाल्मीकि-रामायण की छाया होते हुए भी सर्वथा मौलिक है। कई स्थल तो राम-चरित-मानस के इतने सुंदर हैं कि वाल्मीकि के वे स्थल इसकी समता नहीं कर सकते। जहाँ इसके अन्य कारण हैं, वहाँ एक यह भी है कि 'मानस' के लेखक को अपनी बुद्धि का चमत्कार दिखाने का अच्छा अवसर मिल जाता है। शायद इसी लिए कई स्थलों में तुलसीदासजी महर्षि वाल्मीकि से बाज़ी ले गये हैं। इससे यह न समझ लेना चाहिए कि वाल्मीकि के वे स्थल कोई-

महत्त्व ही नहीं रखते। तुलसीदास जी के उस स्थल को अधिक चमत्कारी बना देने पर भी महर्षि की प्रतिभा अक्षुण्ण ही रही है। आज मैं पाठकों के सामने अपने समय के कवि श्री मैथिलीशरण गुप्त के 'साकेत' से 'राम-चरित-मानस' और वाल्मीकि के अमर-ग्रंथ के एक संवाद—तुलना करना चाहता हूँ। मैं इस आलोचना में तीनों ग्रंथों को कविता—कला की दृष्टि से कस-कर रखना चाहता हूँ; किसी की व्यर्थ प्रशंसा या आलोचना के अखाड़े में फ़र्ज़ी कुश्ती दिखाने की आवश्यकता को लेकर नहीं चल रहा हूँ। रामायण का वह मंथरा-कैकयी-संवाद काव्य की 'जान' है। यही वह रूप-रेखा है, जिसका सहारा लेकर 'राम-चरित्र' में महत्ता और 'काव्य तथा आख्यायिका' में उत्थान और पतन के चित्र घटित हो सकते हैं। बाहरी दृष्टि से कैकयी कितनी भी पापिन हो, किंतु उसके इस पाप से राम-चरित्र में एक अनुपम एवं उज्ज्वल उत्कर्ष का प्रादुर्भाव हुआ है। काव्य तथा आख्यायिका की दृष्टि से इस प्रकार की घटना की अत्यंत आवश्यकता थी।

यह संवाद वाल्मीकी-रामायण और राम-चरित-मानस में एक ही ढंग से, एक ही क्रम से, चला है। दोनों ग्रंथों के घटना-संयोजन में कोई अंतर नहीं पड़ा है। वाल्मीकि में राजा दशरथ के राज्याभिषेक की आज्ञा देने पर नगर में उत्सव मनाने की तैयारी की जाती है। मंथरा उस समय नगर की

शोभा देख और राम के राज्याभिषेक की वात सुन कर जल उठती है और कैकयी को भड़काना प्रारंभ कर देती है। पहले तो कैकयी उस पर नाराज़ होती हैं, परंतु अंत में वहुत कुछ समझाने पर उसकी वात मान जाती है। उसी के आदेश के अनुसार वह कोप-गृह में चली जाती है। तुलसीदासजी ने इस घटना में केवल इतना परिवर्तन और कर दिया है कि वे देवताओं द्वारा सरस्वती को मंथरा की वुद्धि विकृत करने भेज देते हैं। वाकी सव कथानक वाल्मीकि के अनुसार चलता है। वैसे ही मंथरा कैकयी को जाकर समझाती है और वैसे ही फटकारी जाकर अपने को कोसती हुई रानी की शुभ चिंतना का भाव प्रकट करती है। वर्णन करते समय वाल्मीकि ने 'मूढे' और 'दुर्भगे' जैसे क्रूर शब्दों का प्रयोग किया है। कहा नहीं जा सकता वाल्मीकि ने क्या समझ कर ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है। 'मूढे' और 'दुर्भगे' दो संवोधन देकर वाल्मीकि ने स्वामी और भृत्य के संवंध में संशय पैदा कर दिया है। संभव है मुँहलगी दासी होने के कारण उसने ऐसे अपशब्दों का प्रयोग किया हो। परंतु ऐसे अपशब्दों की भरमार न सिर्फ़ उसने कैकयी के लिए की है, दशरथ के संवंध में भी वहुत कुछ अनाप-शनाप कहा है और उन्हें 'दुष्ट', 'शठ' कह कर पुकारा है। तुलसीदासजी की मंथरा ने सौत कौशल्या को निशाना वना कर कैकयी को उकसाया है। उसने कैकयी और

राजा दशरथ के लिए एक भी अपशब्द का प्रयोग नहीं किया। इन दोनों वर्णनों से इतना स्पष्ट है कि वाल्मीकि के समय छल कपट का अभाव था। कूट-नीति नाम की कोई चीज़ वाल्मीकि के समय में नहीं थी। उनकी मंथरा स्पष्ट-वादिनी थी। क्रोध में आकर जो उसके मुँह में आया, वह कह गई। परंतु तुलसीदास की मंथरा चतुर और कपट-पटु थी। उसने—

प्रिय सिय-राम कहा तुम रानी,
रामहिं तुम प्रिय सो फुर बानी।
रहा प्रथम अब ते दिन बीते,
समय परे रिपु होहिं पिरीते।

अंतिम पद 'समय परे रिपु होहिं पिरीते' कह कर अपने चातुर्य का परिचय दिया है। यही नहीं, अपनी बात को सिद्ध करने के लिए आगे भी चौपाई में एक सिद्धांत बना डाला है। वह कहती है:—

भानु-कमल कुल पोषनिहारा,
बिनुजर जारि करइ सो छारा।
जरि तुम्हार चह सवति उखारी,
रूंधहु करि उपाय बर बारी।

सूर्य और कमल के संबंध की उपमा देकर रानी के हृदय में संदेह का जो बीज था, उसे उखाड़ कर फेंक दिया है, और अंत में दोनों ग्रंथों की मंथरा कैकयी से उल्टी-सीधी पट्टी पढ़ा कर और उपाय भी बता देती है। यह

एक तरह से सब काम अभिधा द्वारा संपन्न किया गया है। कैकयी को तो केवल कोप-भवन में जाकर अपने दो वर माँगने भर रह गये हैं। अब गुप्तजी की मंथरा को लीजिए। गुप्तजी ने इन दोनों से भिन्न ही एक ढंग निकाला है, जो कला की दृष्टि से बहुत ही सुंदर बन पड़ा है। उनकी मंथरा नगर की श्री-वृद्धि देख कर शोभा का कारण जानना चाहती है और रामाभिषेक का हाल मालूम करके सीधी कैकयी के पास आती है। रानी के मन को विकृत करने का यत्न करती है, रानी उसे फटकार देती है; असहाय हो कर वह एक चुभती-सी बात कह कर चल देती है। न वह फिर समझाने का यत्न करती है और न उसके दिमाग़ में उचित ढंग से कोई बात ही ठूँसना चाहती है। वह इतना ही कहती है:—

मंथरा बोली निःसकोच,
"आप को भी तो है कुछ सोच!"
हँसी रानी सुन कर यह बात,
उठी अनुपम आभा अवदात।
सोच है मुझको निःसंदेह,
भरत जो है मामा के गेह।
सफल करके निज निर्मल दृष्टि,
देख वह सका यही सुख सृष्टि।
ठोक कर अपना क्रूर-कपाल,
जता कर यही कि फूटा भाल।

किंकरी ने तब कहा तुरंत,
हो गया भोलेपन का अंत ?

* * * *

सरलता भी है ऐसी व्यर्थ,
समझ जो सके न अर्थानर्थ।
भरत को करके घर से त्याज्य,
राम को देते हैं नृप राज्य।
भरत से सुत पर भी संदेह,
बुलाया तक न उन्हे जो गेह।

इन दो अंतिम पंक्तियों द्वारा कवि ने जितनी तीक्ष्ण चोट पहुँचाई है, उसने मातृत्व के हृदय को ज़ोर से झँझोड़ डाला। इस वैज्ञानिक वर्णन में जो चमत्कार है वह न वाल्मीकि के गाली देने में है, और न तुलसीदास के चातुर्य में। साकेत में मंथरा इतना कह कर ही चली जाती है। वह न तो आगे बढ़ कर उत्तर प्रत्युत्तर करती है और न कैकयी को समझाने की चेष्टा ही करती है। हाँ, इतना कह देना आवश्यक है कि कैकयी इतना सब सुनने के बाद भी मंथरा को फटकार देती है और वह निराश होकर चली जाती है। परंतु वह जाती है—

भरत से सुत पर भी संदेह,
बुलाया तक न उन्हे जो गेह।

कह कर। कैकयी अकेली बैठ कर उस संपूर्ण परिस्थिति

पर विचार करती है। अपनी समझ, नेकनीयती के अनुसार तर्क-वितर्क करती है। अपने मन को बहुत कुछ ढाढ़स बँधाती है, राजा और कौशल्या के भावों, उनके अब तक के बर्तावों पर सरसरी नज़र डालती है, राम के मातृत्व का विचार कर गर्व से फूल उठती है, फिर भी उसे उपर्युक्त दो पंक्तियों का संतोष-जनक उत्तर नहीं मिलता। उसने नेत्र फाड़ कर देखा कि आकाश के बादलों में वे शब्द लिखे हुए हैं, हवा में उन्हीं शब्दों की ध्वनि गूँज रही है। रानी के कानों को मंथरा के वे शब्द फोड़ कर पार हो रहे हैं। मानों संसार के कण-कण में एक ही ध्वनि उठ रही थी—

भरत से सुत पर भी संदेह,
बुलाया तक न उन्हें जो गेह।

कोई चेतना, कोई हृदय की गति, कोई तर्क, कोई विश्वास उसे इसका जवाब न दे रहा था। उसके संपूर्ण जीवन की उपक्रमणिका में, उसके आदि अंत में एक ही प्रकार की ये दो पंक्तियाँ थीं। उसका कोई उत्तर न था, कोई उपाय न था।

भरत से सुत पर भी संदेह,
बुलाया तक न उन्हें जो गेह।

'भरत से' शब्द पर विचार करके तो उसके आश्चर्य के जोड़ हिल चले थे। जो इतना भ्रातृ-भक्त, जो इतना विनीत, जो इतना माताओं की आज्ञा मानने वाला, जो इतना पितृ-

सेवी 'उस भरत से सुत पर भी संदेह!' संसार से धर्म उठ गया, विश्वास की जड़ें हिल गयीं, जिस भाई की विनयशीलता पर राम मुग्ध थे, दशरथ का हृदय प्रसन्नता में भर अमंद मंदाकिनी-कणों से जिसकी पूजा किया करता था। जिन दशरथ का गर्व पुत्रों की शालीनता से संसार में नहीं समा रहा था। उस—

भरत से सुत पर भी संदेह,
बुलाया तक न उन्हें जो गेह।

कैकयी की दृष्टि में उस समस्या का कोई हल न था। उसका संसार विह्वलता, बेचैनी और शिथिलता का संसार बन गया था। संसार के संपूर्ण तर्क उस समय निस्तब्ध और मौन थे। बार-बार वह यही कह उठती थी—

भरत से सुत पर भी संदेह,
बुलाया तक न उन्हें जो गेह।

विश्व घूम रहा था। उसकी आत्मा मातृत्व की वेदना से काँप उठी थी और बार-बार वह कह रही थी। कितनी गहरी चोट है! मंथरा ने उपदेश नहीं दिए। रानी की सौत को गालियाँ नहीं दीं। पति को भी नही कोसा। उसने एक ही वेग से, एक ही कमान से विष-बुझा बाण छोड़ दिया और उसका परिणाम देखने के लिए कैकयी को कंटकित कर दिया। बीभत्स रस की पुष्टि के लिए आलंबन का तीक्ष्ण मैदान तैयार कर दिया। इसका नाम कला है जो केवल

एक संकेत देकर अंतर्हित हो गई। मेरा विश्वास है महर्षि वाल्मीकि की मंथरा की गीदड़ भभकियाँ, तुलसीदास की मंथरा के लंबे-लंबे उपदेश, उसके कठिन और दुरूह सिद्धांत-संकलन वे काम न कर सके, जो गुप्तजी की इन दो पंक्तियों ने कर दिखाया। यहाँ काव्य का प्राण इस संकेत की दो पंक्तियों में है। उसने सदा रहने वाली कैकयी की कोमलता को बकोट लिया और उसे मर्माहत सर्पिणी के समान क्रूर बना डाला। कवि ने आगे का सब काम कैकयी पर छोड़ दिया। कैकयी ने स्वयं अपने रोग का निदान ढूँढ़ लिया। अकेली तन कर खड़ी हो गई, उसका सामना करने। उस महान् शक्ति से लड़ने जिसकी आँखों की वह पुतली बनी थी। साकेत का यह स्थल कविता की दृष्टि से बड़ा महान् है। काव्य और मनोविज्ञान का बड़ा सुंदर समन्वय हुआ है। ऐसा मालूम होता है कि यहाँ मंथरा और कैकयी की प्रति-मूर्तियाँ उतर आई हैं, और काव्य की इस कला का तो कहना ही क्या! वहाँ तो मानो निराकार प्राण-समूर्त होकर प्रकट हो रहे हैं।

ऐसे स्थल विश्व-साहित्य में कहीं-कहीं देख पड़ते हैं। कालिदास ने केवल इस प्रकार के दो स्थल दिखाये हैं, जिनमें उसकी कला मूर्त होकर साहित्य के गगनांगण में चमक सकी है। उसमें पहला स्थल शकुंतला की प्रणय-चिंतन-वेदना है जहाँ मूक पशु और निरीह लताएँ उसके प्रथम

प्रणय की सांत्वना बनी है, और दूसरी जगह है 'कुमार-संभव' में पार्वती और ब्रह्मचारी-संवाद। इन दोनों स्थलों में कुल-गुरु की प्रतिभा का परिचय मिलता है।

खेद है ध्वनि को काव्य की आत्मा मानने वाले संस्कृत के विद्वानों ने भी ऐसे स्थलों का उदाहरण नहीं दिया। अन्यथा 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' का कोई अस्तित्व न रहता। परंतु इस प्रकार की 'संकेत-निदर्शना' का साहित्य के लक्षण-ग्रंथों में कहीं भी उल्लेख नहीं है। यह तो हमारी ध्वनि और पाश्चात्य कलाकारों की 'संकेत-वृत्ति' का समीक्षण है, जो हमारे जीवन की दैनिक घटना में पाया जाता है। हम रोज़ देखते हैं कि कोई भी प्राणी बचपन से लेकर बुढ़ापे तक उस साथी की आवश्यकता का अनुभव नहीं करता, जो उसे पद-पद पर हाथ पकड़ कर चलाता रहे। वह आत्म-विकास के लिए संकेत भर चाहता है। जो काव्य कहानी या उपन्यास पाठक को संकेत भर देता है, वह उसकी आत्मा की गहरी अनुभूति का कारण बन जाता है।

गुप्तजी की प्रतिभा ने मंथरा का जो नया रूप दिखाया है, उससे उनकी काव्य-कला बहुत गहरी, बहुत व्यापक और बहुत सुंदर हो गई है। 'साकेत' के और भी स्थल ऐसे हैं, जहाँ कवि ने बड़े जौहर दिखाए हैं। मुझे विश्वास है 'साकेत' इस युग की अमर-देन है।

वड़े वाबू

[श्री सद्‌गुरुशरण अवस्थी, एम० ए०]

भारतवर्ष में मध्यम श्रेणी के व्यक्ति समाज के अग्र-गण्य और नगण्य दोनों का समन्वय हैं। वे पवन-पताका भी। वे अधिकतर उच्च श्रेणी और निम्न-श्रेणी की संघर्ष-रेखा हैं। उनका दोनों पर प्रभाव है और दोनों का उन पर अटूट अधिकार है। मध्यम श्रेणी भी एक वड़ा वर्ग है। उसमें भी उच्च-मध्यम और निम्न-मध्यम अपने-अपने निकटतम वर्ग की रूप-रेखा की रक्षा करते हैं।

वड़े वावू एक ऐसी मध्यम-श्रेणी के व्यक्ति थे जो अपने को उच्च मध्यम-श्रेणी की आकांक्षाओं का प्रतिरूप मानता है। उनका वेतन दो सौ रुपया मासिक था। डाकखाने की नौकरी में हाथ-पैर थकने के वाद विश्राम-वेतन आमरण मिलने की व्यवस्था थी। अतएव वड़े वावू कुछ वचाने के पक्ष में न रहते थे। सव कट-कटा-कर १८१।।।=) उन्हें प्रति मास मिलता

था। डाकघर में ऊपरी पैदा का अवकाश नहीं। दो लड़के, एक लड़की थी। तीस रुपया मासिक रहने के लिए घर का किराया लगता था। एक नौकर था जिसे बारह रुपए प्रति मास देना आवश्यक था।

बड़े बाबू की बैठक-उठक आर्थिक श्रेणी-विभाग के अनुसार ऊँचे कहे जाने वाले व्यक्तियों में थी। हवादार स्वच्छ घर के अन्वेषण में बड़े बाबू नगर को छानते हुए ऐसी बस्ती में आ बसे थे जहाँ धनिकों का समारोह था। इन लोगों का व्यय साधारण प्रकार से एक सहस्र रुपया मासिक से लेकर पाँच और दस सहस्र रुपया मासिक तक था। बड़े बाबू इन्हीं की अट्टालिकाओं तक अपने उच्छ्वास पहुँचाने का प्रयत्न किया करते थे और उन्हीं की भाँति अपनी पतंग की डोर भी लंबी रखना चाहते थे।

बड़े बाबू अपने धनिक पड़ोसियों की रेखा से रेखा मिला कर लिखने के लिए बाध्य थे। यह उनके बस की बात न थी। कोई ऊँची छत पर खड़ा होकर उनकी नीची छत की ओर देखे, यह उन्हें पसंद न था और यदि कहीं मुस्करा दे तो वे और भी अपमानित अनुभव करते थे। यदि उनका बस चलता तो वे अपना घर इतना ऊँचा बनाते कि कोई वहाँ तक देख न सकता। वे धन से लाचार थे, मन से नहीं। कपड़े उतने बहु-मूल्य न हों पर स्वच्छ अवश्य होने चाहिएँ। बच्चे भी वही नहीं तो उसी प्रकार के कपड़े अवश्य पहनते

थे। उनके लिए भी छोटी गाड़ी थी। बड़े बाबू का नौकर भी औरों के नौकरों के साथ कभी प्रातःकाल, कभी सायंकाल बच्चों को गाड़ी पर बिठा कर घुमाने ले जाया करता था।

बड़े बाबू की यह होड़ कह कर नहीं होती थी। छिपे-लुके स्पर्धा चला करती थी। परंतु यदि कभी बात आ जाती तो धनिकों के बीच में बड़े बाबू अपनी हेयता पर बड़े गर्व के साथ यह कह कर आवरण डाल दिया करते थे कि 'अरे भाई, हम निर्धन हैं। हम आपकी समता कैसे कर सकते हैं।' जब मुख यह कहता था तब भी मन समता से कट जाने के लिए उबला पड़ता था। चाहे ऋण भी लेना पड़े तो चुरा कर ले लेने के लिए वे उतावले हो जाते थे। विषमता वे जानते और समझते भी थे। उसका पूर्ण निराकरण उनकी शक्ति के परे था। उन्हें अखरता केवल यह था कि कोई विषमता को सुझावे क्यों?

सब कुछ तो बराबरी चलती थी, एक मोटर क्रय करना बड़े बाबू की सामर्थ्य के परे था। उनके निवास-स्थान की सुनहली परिधि उन्हें चकाचौंध किये थी। फटी गूदड़ी पर लगी हुई मखमल की गोट गुदड़ी को मखमल नहीं बना सकती। धनिकों की स्पर्धा उन्हें धनिक नहीं बना सकी, प्रत्युत वे और निर्धन होते जाते थे। बड़े बाबू कसमसाहट में उधड़े जा रहे थे। जब वे किसी धनिक से यह कहते कि

हम आपकी जोड़ नहीं हैं तो उनकी अंतरात्मा यह कहती कि मैं सब से अच्छा हूँ, मैं पढ़ा-लिखा हूँ, मैं अधिक सभ्य हूँ, मैं चरित्रवान् हूँ, मैं सुरा-पान नहीं करता, मैं माँस नहीं खाता, मैं इन लोगों की भाँति दिन-रात झूठ नहीं बोलता, मेरे कई संतान हैं, न सही एक धन और फिर भगवान् की कृपा से धन की भी कोई ऐसी कमी नहीं है। खाने-पीने भर को वह दे ही देता है। विश्राम लेने पर विश्राम-वेतन है। इन लोगों की क्या दुर्दशा होगी यदि कहीं इनका धन निकल गया।

बड़े बाबू का यह मन-समझौवल बड़प्पन केवल मन को समझाने भर के लिए था। प्रतिदिन की विषमता के कारण उन्हें जो अपमान अनुभव होता था, वह अखरने की वस्तु थी। कोई उन्हें कोंचता था। यदि पड़ोस के बिहारीलाल यह कह दें कि बड़े बाबू तुम्हारे बच्चे बड़े गंदे रहते हैं; तो बड़े बाबू का यह साहस तो था नहीं कि वे यह कहें कि तुम्हारे तो कोई संतान है नहीं, तुम बच्चे की बात क्या समझो, वरन् दब्बू आकृति लेकर अपनी पत्नी पर टूट पड़ते। बड़ी बबुवाइन यही बात घर की चार दीवारों के भीतर हल्ला मचा कर कह देतीं। परंतु बिहारीलाल वहाँ सुनने को न थे। बड़े बाबू की क्रोध-सरिता की घरघराहट जब धीमी पड़ती तो बड़े बाबू की मालकिन कह देतीं कि साबुन समाप्त हो गया है। पैसे थे नहीं। कुरते भी तो चार ही हैं।

दो धोबी के यहाँ हैं। अब की धोबी भी बहुत दिनों से नहीं आया। बड़े बाबू विवशता के झटके को धीरे से झेल कर उसके निराकरण का उपाय सोचने लगते थे।

ऊपर के वर्ग से होड़ा-होड़ी थी ही, बड़े बाबू नीचे के वर्ग के भी लक्ष्य थे। वे लोग इन्हें भी लक्षाधिप समझते थे। वास्तव में मध्यम वर्ग की विपरीताक्रमण सहनशील स्थिति दयनीय है। उधर ऊपर के वर्ग से वह स्वयं संघर्ष लेता है, इधर नीचे का वर्ग उसे समय-समय पर उकसाया करता है। बड़ा बनने का उसका साहस एक ओर जहाँ उसे पोला करता जाता है, वहाँ दूसरी ओर छोटों की आशाओं की रक्षा भी इसी मनोभाव से उसे भूने डालती है। यह दुतर्फी टक्कर उसे क्षुब्ध किये रहती है। धनिकों के बीच धनी बनने का स्वाँग, ग़रीबों के बीच उनकी मिथ्या-भावना के वातावरण के निराकरण के साहस का अभाव, यह बेचारे का हाल रहता है। निम्न-श्रेणी के व्यक्ति को मध्यम-श्रेणी के व्यक्ति भी धनी समझते हैं, अतएव उनसे भी वही मिलने की आशा रखते हैं जो बड़ों से। उनके ज्ञान-कोष में उच्च-श्रेणी और मध्यम-श्रेणी का विभाजक परिणाम स्पष्ट नहीं होता।

बड़े बाबू इसी चक्कर में थे। एक ओर जहाँ वे मेघों में उड़ कर घुल-मिल जाना चाहते, वहाँ दूसरी ओर पृथ्वी पर पड़े रहने वालों के लिए वर्षा भी करना चाहते थे। यह मनोभाव उनकी आय का भोग भी करता था और क्षय भी।

पुरोहित, नाई, कहार, कुम्हार, दरजी, धोबी, माली इत्यादि सभी बड़े बाबू को बड़ा आदमी बना कर धन-कुबेर बनाए हैं। वाह-वाह की बात और चाटुकारिता के काँटे ऐसे सर्वत्र बिछे रहते थे कि बेचारे बड़े बाबू को धरती पर सीधे पैर रखना कठिन रहता था। नाइन कहती थी कि लाला गिल्लूमल के गिन्ने के मुंडन में उसे सोने का कड़ा मिला था। कहार कहता था कि लाला बिरधीचंद के टाबर के जन्म पर उसे एक बड़ा भारी हंडा मिला था। कुम्हार कहता था कि घनश्यामदास लाला उसे एक सुराही का आठ आना मूल्य देते हैं। दरजी कहता था कि रायबहादुर किसुनलाल अपने लड़कों के कुरतों की सिलाई एक रुपया कुरता देते हैं। पुरोहित का झगड़ा तो प्रतिदिन का था। चाहे कथा हो चाहे श्राद्ध, वह एक ही साँस से पड़ोसियों की उपमा देने लगता था। बड़े बाबू इस भीड़ से कहाँ तक बचते? सरीकत की चिकनाहट उनके दान-पथ को इतना रपटीली बना देती थी कि बड़े बाबू उसमें रपट कर पड़ोसियों से भी आगे पहुँच जाते थे। चाकरों का उद्देश्य पूरा हो जाता था। बड़े बाबू का उदाहरण कृपण वणिकों के यहाँ भी पहुँचाया जाता था।

बड़े बाबू की गृहिणी उनकी उदारता की अधूरी बाँध थी परंतु कभी-कभी क्या अधिकतर उनकी दान-सरिता बाँध के ऊपर से बह कर निकल जाती थी। अपने घर

गृह-स्वामिनी अपने अधिकार का उपयोग करतीं। मँगतों को वह अपनी हैसियत के अनुसार ही देती। जब तक बड़े बाबू बाहर रहते, गृहिणी का साम्राज्य था। 'प्रजा' लोग चाहे जितने असंतुष्ट रहते, उन्हें आशीर्वाद देना ही पड़ता। हाँ, यदि कहीं होड़ा-होड़ी वाले शब्द बड़े बाबू के कानों में पड़ जाते तो चाहे उन्हें कहीं से ऋण ही क्यों न लाना पड़े, वे हेठी न देख सकते थे। स्वामी के आगे स्वामिनी चुप रह जातीं। अकेले में बड़े धीरज के साथ बड़े बाबू अपनी पत्नी को समझा देते कि तुम्हें तो कहीं निकलना नहीं पड़ता; हमारी तो पड़ोसियों के सामने गर्दन नीची होती है। इस अपमान को तुम क्या समझो? घर की भलमनसी किसी प्रकार बनाये रखना है।

बड़े बाबू और उनकी पत्नी के व्यवहार की इस विषमता को संकेत करके बहुधा उनके घर के चाकर कहा करते—'मालिक अगर हाथ झाड़ते हैं तो अशरफियाँ गिरती हैं, लेकिन मालकिन के हाथ झाड़ने पर बिच्छू-साँप गिरते हैं।' बड़े बाबू की गृहिणी हँस दिया करती थी। वह कहने लगती—'उन्हें कुछ करना पड़ता है? घर तो मेरे मत्थे है'

पड़ोस में किसी के घर जब बड़ी बबुवाइन को आमंत्रण मिलता तो वे कभी नहीं जातीं। एक बार गिरधारीलाल के यहाँ बड़े बाबू के बहुत कहने सुनने से उसे जाना पड़ा। वह अपने अच्छे से अच्छे वस्त्र पहने थी। उसके आभूषण

भी कुछ माँगे के और कुछ निजी बड़े मूल्यवान् थे। परंतु फिर भी सेठानी के यहाँ की मिश्रानी का ठाट बबुवाइन से अच्छा था। बबुवाइन पर यदि पश्चिमी वायु का प्रभाव पड़ा होता, अथवा गाँधीजी के सरल जीवन की दीक्षा मिली होती, तो उनकी सजावट पर कदाचित् कोई आपत्ति न करता, परंतु वे नितांत पुरानी भारतीय संस्कृति की प्रतिकृति थीं। ऊपर से नीचे तक आभूषणों से लदना आवश्यक था। पुरानी संस्कृति की सरीकत में ग़रीबी का स्थान कहाँ है। बबुवाइन पर छींटे भी कसे गए। वे जल-भुन कर रह गयीं। सब से बुरी बात तो यह हुई कि किसी आगंतुक ने उन्हें साधारण ब्राह्मणी समझ कर दो रुपये की न्योछावर देना चाहा। सेठानी ने भी मना नहीं किया। बस, वह दिन पहला और अंतिम दिन था। बड़े बाबू ने जिस समय सब बातें सुनीं, तिलमिला गये। पत्नी का किसी के यहाँ भी जाना बंद हो गया। जब कहीं कोई बहुत कहता-सुनता तो बीमारी का और बच्चों का बहाना कर दिया जाता था।

बड़े बाबू के यहाँ यदि कोई रुग्ण होता तो एक विचित्र समस्या खड़ी हो जाती। पड़ोसी लोगों के यहाँ छींक आने पर भी सिविल सर्जन बुलाया जाता था। बड़े बाबू के पास असिस्टेंट सर्जन को भी बुलाने का साहस न था। पास ही एक दानी चिकित्सालय था। वहाँ जाने की

पता यदि किसी को लग जाय तो तुरंत हँसी उड़ जाय। लुक-छिप कर उसका प्रयोग बड़े बाबू कर लिया करते थे। इस घटना की घोषणा एक बार दानी चिकित्सालय के बड़े डाक्टर ने धोखे से कर दी। सब के सामने कहीं उन्होंने पूछ लिया, "मुन्नी की खाँसी कैसी है? मेरी औषधि से कुछ लाभ हुआ?"

बड़े बाबू ने झूठ की डाल सामने करके आत्म-संमान की रक्षा करनी चाही। झट बोल उठे, "आप के यहाँ से औषधि अवश्य ले आया था, परंतु सिविल सर्जन की दवा हो रही है?"

डाक्टर ने बात काट कर फिर कहा, "परंतु आपका सेवक तो कई बार चिकित्सालय से मेरी ही बतायी हुई औषधि लाया है।"

"कदाचित् आप रुष्ट न हो जायँ इसलिए मुन्नी की माता ने ऐसा किया होगा।" यह कह कर बड़े बाबू ने अपने प्राण बचाये।

डाक्टर साहब कुछ क्षोभ और तिरस्कार की मुस्कराहट के साथ यह कह कर चल दिये कि आपको इस प्रकार दरिद्रों के लिए मँगायी हुई औषधि का अपव्यय न करना चाहिए।

डाक्टर साहब के चले जाने के बाद अपनी धनिक मंडली के बीच बैठ कर बड़े बाबू इस डाक्टर की ख़ूब प्रशंसा करने

लगे। "डाक्टर साहब हमारे घर वालों की प्रकृति को अच्छी तरह पहचानते हैं। सब के सरद-गरम स्वभाव को अच्छी तरह जानते हैं। इनकी निश्चित की हुई औषधि अवश्य लाभ करती है। बेचारे रात-बिरात जब सुन लेते हैं कि कोई बीमार है या सिविल सर्जन आया है, तो स्वयं आ जाते हैं। फीस बहुत कहने पर भी नहीं लेते।"

सेठ विरधीचंद ने इस लंबी भूमिका के तत्त्व को समझ कर रहस्य-पूर्ण मुस्कराहट के साथ कह ही डाला, "तो क्या बात है, यहीं से दवा ले लिया कीजिए। यदि आत्मा कुछ कोंचे तो साल में सौ पचास रुपये इसी चिकित्सालय मे दान कर दिया कीजिए। हम सभी लोग दान देते हैं।"

बड़े बाबू ने व्यंग्यार्थ की ओर उपेक्षा करके वाच्यार्थ पर ही ज़ोर देकर बात समाप्त कर दी। उस दिन से इसी चिकित्सालय से व्यवहार खुल गया। नौकर और महाराजिन बच्चे को ले जाया करते थे।

घर की बैठक बड़े बाबू की देशी थी। थोड़े दिनों के लिए कुरसी और सोफा की व्यवस्था ने बड़े बाबू का बड़ा व्यय करा दिया। अब पक्की पृथ्वी पर मोटे गद्दे के ऊपर ही स्वच्छ चादर और उस पर तीन स्वच्छ आवरण के तकिया सब कुछ थे। इससे बड़ी बचत थी। कोट-पतलून वालों को जब बैठने में कष्ट होता, तो बड़े बाबू विनोद की हँसी हँसते

हुए कह दिया करते—"भाई, हम तो भारतीय हैं। हमें तो देशी प्रबंध अच्छा लगता है। दो चादरें और गिलाफों की जोड़ी—बस, सब कुछ हैं।"

बड़े बाबू की निजी वेष-भूषा दुरंगी थी। कार्यालय में तो अँग्रेज़ी वेश में जाया करते थे, परंतु घर पर गाँधीजी की कृपा थी। एक खद्दर का कुर्ता और एक टोपी। धोती खद्दर की आवश्यक न थी। शीत में घर की बुनी हुई ऊनी बनियायिन और एक सादी अंडी। इस सरलता में संमान की पूरी रक्षा थी। बड़े बाबू का सरलता के साथ यह ग्रंथि-बंधन नितांत उपयोगवाद पर आश्रित था, यद्यपि कहा वे यह करते थे कि इस वेश में उन्हें बहुत सुख मिलता है।

चंदे के प्रश्न पर बड़े बाबू सब से आगे थे। परंतु वे हमेशा गुप्त-दान किया करते थे उनके चरित्र के और उपकरण यह तो निश्चित करते न थे कि बड़े बाबू को अपने नाम के विज्ञापन से कोई सैद्धांतिक विरोध है, परंतु विज्ञापन का विरोध यहाँ साभिप्राय था। दान की हुई रक़म इतनी न्यून होती थी कि उसका गुप्त रखना ही गौरव की रक्षा करना था। घोषित करके दान करने वाले अपने धनी पड़ोसियों का उपहास करते समय भी अपनी महत्ता का चित्र ही उनके समक्ष रहता था। वे कहा करते थे कि दक्षिणा-कार्य-संलग्न दक्षिण हाथ के प्रयोग को पड़ोसी बायाँ हाथ भी

न जाने, तब पुण्य-कार्य की सार्थकता है। चंदे की बात भी और बातों की भाँति मुँदी-ढकी चली आती थी।

जब किसी के यहाँ विवाह-काज होता तो धनी पड़ोसी एक सौ एक, इक्यावन, ग्यारह और कम से कम पाँच रुपये अवश्य देते। बड़े बाबू व्यवहार का रुपया हमेशा छिप कर देते। जब कभी पता लग जाता कि उन्होंने केवल दो ही रुपये दिए हैं और कोई पास का व्यक्ति मुस्करा देता तो बड़े बाबू झट से अपनी त्वरा-बुद्धि का परिचय देकर कहने लगते—"भाई व्यवहार उतना ही करना चाहिए, जितना निभे। हम लोग इतना ही दूसरों से भी तो लेते हैं। मान लीजिए कि आज भगवान् ने हमें माना है। हम जितना चाहें दे सकते हैं, पर यदि दिन पलटे तो बढ़ा हुआ व्यवहार बेचारे बच्चे कैसे निभा सकेंगे?"

बड़े बाबू में एक द्रुत-द्रवण-शीलता थी, एक अल्हड़ उतावलापन था। पड़ोसियों की स्पर्धा से कभी कोई वेग आरंभ हो जाता। थोड़े दिनों तक परिस्थिति की पैंग ऊपर ही उठती जाती, परंतु शीघ्र ही वास्तविकता का एक झटका झूले को नीचे ले आता। बाढ़ निकल जाती और नदी सम-रूप से बहने लगती। दूसरे को देख कर कभी यह निश्चय हो जाता कि बच्चों को अँग्रेज़ी कान्वैंट स्कूल में भेजा जाय। थोड़े दिनों तक यह क्रम चलता। पड़ोसियों के बच्चे वहीं पढ़ते थे। परंतु पंद्रह रुपये मासिक व्यय और कपड़ों

का व्यय पृथक् कहाँ तक निभाया जा सकता था? किसी न किसी बहाने से कान्वैंट बंद हो जाता। बड़े बाबू बड़े ऊँचे स्वर में कान्वैंट की बुराई करते सुने जाते। यहाँ पढ़ाई बहुत बुरी है। दिन भर लड़कों को खेलाया जाता है। हिसाब तो बिल्कुल आता ही नहीं। अँग्रेज़ों की सी आदतें पड़ जाती हैं। काले लोगों के लिए घृणा उत्पन्न हो जाती है। हिंदी का उच्चारण तो बिल्कुल भ्रष्ट हो जाता है।

बड़े बाबू की सब से बड़ी विशेषता यह थी कि वे अपनी और अपने पड़ोसियों की स्थिति-विषमता को अच्छी प्रकार समझते थे, परंतु स्वीकार नहीं करते थे; कहते भी थे पर सामने मानते न थे। उनके भीतर और बाहर का बेमेल भाव घर और बाहर को दो रूप में सामने रखता था। बाहर की वस्तु प्रदर्शन की थी और भीतर की छिपाने की। पड़ोस की स्त्रियों का भी भीतर आना बड़े बाबू को रुचिकर न था।

बड़े बाबू के व्यय की कुछ मद्दें ऐसी थीं जिनका तो कम होना असंभव था। धनिक पड़ोसियों के यहाँ से भी कुछ-कुछ अंशों में यह व्यय बढ़ गया था। प्रति-दिन की हजामत में दो रुपया मासिक, धोबी को पाँच रुपया मासिक; साबुन और फिनैल के लिए दो रुपया मासिक; दूध-घी का तीस रुपया मासिक; किराए के तीस रुपया मासिक। इतने मद्दों में तो कोई कमी हो ही नहीं सकती थी। हाँ, सेफटी अस्तुरे ने हजामत का खर्चा कुछ कम

कर दिया था। नौकर के बारह रुपए मासिक अनिवार्य थे। महाराजिन अवश्य आती-जाती रहती थी। बाहर वाले जानें कि महाराजिन है। घर वाली को कुल मिला कर वर्ष में दो महीने भी रोटी पकाने से अवकाश न मिलता था। पड़ोस के सेवक यही कहा करते थे कि बड़े बाबू की मिश्रानी हमेशा बीमार ही रहा करती है, बहू को रोज़ खाना पकाना पड़ता है, दूसरी महाराजिन का मिलना कठिन है, अपने संबंधी के अतिरिक्त दूसरे का पकाया खाना भी तो इनके यहाँ नहीं खाया जाता।

बड़े बाबू सिनेमा और थियेटर से हमेशा बचते। यदि कभी किसी प्रकार फँस जाते तो व्यय बराबर करते। कभी कभी तो खर्चे में पड़ोसियों का मुँह बंद कर देते। लोग इनकी आमदनी जानते न थे। जो इनका वास्तविक वेतन जानते थे, वे भी यह कहते—'घर के रईस होंगे। पिता माल छोड़ गया होगा।'

साहित्य में मौलिकता

[श्री विनयमोहन शर्मा एम. ए., एल-एल. बी.]

एक बार डाक्टर जानसन ने कहा था, "अब तो पुस्तकें लिखना बड़ा सरल हो गया है। 'लेखक' पुरानी चार पुस्तकें सामने रखकर पाँचवी की सृष्टि कर डालते हैं!" डा० जानसन का यह कथन जिस प्रकार १८ वी शताब्दी के लिए सत्य था उसी प्रकार वह इस बीसवीं शताब्दी के लिए भी सत्य है। मौलिक पुस्तकों की सृष्टि सदा नहीं होती। सर्वथा मौलिक रचनाएँ तो विश्व-साहित्य में चार-पाँच से अधिक की संख्या में नहीं मिलेगी—ऐसी मौलिक, जिनमें व्यक्त 'भाव' का 'मूल' कहीं अन्यत्र न हो। यूरोप में होमर का 'इलियड' मौलिक ग्रंथ कहलाता है पर यह बात ठीक नहीं है—उसकी समता हमारे व्यास के 'महाभारत' से हो जाती है। इसी प्रकार कालीदास की 'शकुंतला' जिसमें जर्मन-कवि और समालोचक 'गेटे' ने 'स्वर्ग और नरक' के अभूत-पूर्व दर्शन किए

हैं, शेक्सपियर के 'टैंपेस्ट' से कुछ अंशों में 'मिल' जाती है! अभी तक यह कहा जाता रहा है कि कविवर रवींद्रनाथ ठाकुर ने अपनी रचनाओं में 'कबीर' को 'निचोड़' लिया है। पर अभी कुछ महीनों पूर्व जब उनसे किसी हिंदी के विद्वान् ने इस संबंध में प्रश्न किया था, तब उन्होंने मुस्कराते हुए उत्तर दिया था कि "हां, लोग ऐसी कल्पना कर सकते हैं। पर सच बात यह है कि मैंने कबीर को पढ़ने के पूर्व ही अपनी 'गीतांजलि' आदि की रचना कर डाली थी।" इस तरह हम देखते हैं कि 'मौलिकता' बहुत दुर्लभ और नाज़ुक है। अतएव साहित्यकार में 'अमौलिकता-दोष' मढ़ने के पूर्व हमें उसके रचना-काल और परिस्थिति आदि का भी विचार कर लेना चाहिए। क्योंकि बहुधा ऐसा ही हो जाता है कि साहित्यकार जिस समय अपने साहित्य की सृष्टि करता है उस समय उसे यह पता नहीं रहता कि वह किसी अन्य साहित्यकार की भाव-धारा में समान-रूप से बहता जा रहा है!

मौलिकता दो प्रकार की होती है, एक भावों की और दूसरी भावाभिव्यंजना-शैली की। पूर्व उदाहरणों में हम देख चुके हैं कि हमारा साहित्यकार 'भाव-मौलिकता' की प्रयत्न करके भी रक्षा नहीं कर सकता, हाँ, यदि वह चाहे तो 'भावाभिव्यंजना' सर्वथा अपनी रख सकता है। और यह दूसरी मौलिकता हमें बहुत-से साहित्यकारों में दिखलाई भी

देती है। क्योंकि एक साहित्यकार की शैली का पूरा-पूरा अनुकरण दूसरा साहित्यकार नहीं कर सकता और न उसे करना ही चाहिए। भावों की अमौलिकता क्षम्य अवश्य है पर वह प्रोत्साहनीय नहीं। 'क्षम्य' इसलिए कि उसमें साहित्यकार का दोष कभी कम और कभी 'बिलकुल नहीं' रहता। भावाभिव्यंजना की अमौलिकता तो सर्वथा गर्हित एवं निंद्य ही है। जो साहित्यकार किसी के 'भावों की शराब' को उँडेलने के लिए भी अपनी 'बोतल' तैयार नहीं कर सकता, वह सच्चा साहित्यकार नहीं, साहित्यकार का दंभ रचता है!

विश्व में 'सुख-दुख, की बारी-बारी से लहर चला करती है। वे लहरें 'साहित्यकार' के हृदय और मन की सतह पर तैरा करती हैं। जिस समय वह उनसे प्रभावित हो उठता है उसी समय 'साहित्य' की सृष्टि होने लगती है। अतएव यह बहुत संभव है कि जिस 'भावना' प्रवाह की अनुभूति एक साहित्यकार को हुई; उसी भावना-प्रवाह की अनुभूति दूसरे साहित्यकार को भी हो सकती है—चाहे वह अनुभूति सम-कालीन हो या पूर्व-कालीन अथवा पश्चात्-कालीन।

यह तो हो सकता है कि जो अनुभूति एक साहित्यकार में गहराई से पैठ सकती है, वह दूसरे में छू कर ही रह गई हो। जब साहित्यकार अपनी साहित्यानुभूति की प्रौढ़ता को पहुँच जाता है, तब वह मनोभावों की उलझनों

को बड़ी सुंदरता से सँवारता है—उसके रुदन में भी हमें 'मज़ा' मिलता है। (साहित्यानुभूति की गहराई उम्र की अपेक्षा नहीं करती; वह बहुत-कुछ तो सूक्ष्म-चैतन्य पर अवलंबित है।) श्रेष्ठ साहित्यकार के हृदय-दर्पण में विश्व अपने 'बाह्य एवं अंतर'- रूप के साथ प्रतिबिंबित होता है। उसकी 'साहित्यकता' इसी में है कि वह अपने हृदय की प्रतिबिंबित वस्तु को कागज़ के पट पर अपनी लेखनी-तूलिका द्वारा खींच दे। वह अंतर की तसवीर को जितनी स्पष्टता से बाहर रखेगा उतना ही वह सफल साहित्यिक कहलायेगा। उसकी मौलिकता इसी में है कि वह अन्य साहित्यकार के खींचे हुए समान अनुभूति-प्रदर्शक चित्र को बिना देखे ही स्वयं खींच दे। यदि दुर्भाग्य-वश उसके अनजाने—'साहित्य'-चित्रशाला में उसके चित्र के समान ही कोई दूसरा चित्र मौजूद है तो उसके लिए वह दोषी नहीं।

ऐसा भी होता है कि एक साहित्यकार दूसरे साहित्यकार के साहित्य-चित्र को देख कर प्रेरित हो उठता है और उस प्रेरणा में एक ऐसा चित्र बना लेता है, जो अपने आधार-चित्र से उत्कृष्ट हो जाता है। साहित्यकार का इस प्रकार 'उधार' लेना भी क्षम्य है; क्योंकि उसने 'उधार'-प्रेरणा से पूर्व साहित्य-चित्र में सुधार करने का प्रयत्न किया है। कविवर रवींद्रनाथ ठाकुर ने ब्राउनिंग के कई साहित्य-चित्रों के आधार पर जो चित्र तैयार किये हैं, वे साहित्य

में इसीलिए संमान्य हैं कि उनमें उन्होंने अपने अनुभूति-रंग को और भी गहराई से भर दिया है। शेक्सपियर के नाटकों की मौलिकता इसी में है कि उनमें 'उधार' ली हुई सामग्री को सजाने में कवि के हृदय और मस्तिष्क ने प्रयास किया है। गोस्वामी तुलसीदास की रामायण की सुंदरता और मौलिकता भी इसी में है कि उन्होंने अपने पूर्व साहित्यकारों के भाव-सौष्ठव को बड़ी चतुराई से (अपने में) आत्मसात् कर लिया है। विश्व के अनेक युग-प्रवर्तक साहित्यकार अपने पूर्व-कालीन साहित्यकारों से प्रेरणा ग्रहण करते आए हैं और उनकी यह 'ऋणता' क्षम्य समझी जाती है।

(कई 'साहित्यकार' अपनी इस 'ऋणता' को स्वीकार करने की उदारता भी प्रदर्शित कर देते हैं। परंतु ऐसे साहित्यकारों का टोटा नहीं है, जो बिना डकार लिये भी दूसरे साहित्यकार का 'ऋण' हज़म कर जाते हैं। ऐसे साहित्यकार प्रकाशक बन कर और भी अँधेर मचाते हैं।) अमौलिकता निंदनीय वही है जिसमें न तो भावों की नवीनता है और न उन्हें कहने का कोई सुंदर ढंग!

छत पर

[श्रीयुत सियारामशरण गुप्त]

ग्रीष्म की अँधेरी रात थी। ऊपर छत पर अकेला बैठा था। नींद का पीछा कर रहा था, पर जैसे गरमी बिताने के लिए वह किसी ऊँचे पहाड़ पर चढ़ गई हो। हवा कुंद थी। बड़ी देर में कभी उसका एकाध झोंका मिलता भी था, पर इससे लाभ क्या? मरु-स्थल की किसी लंबी यात्रा में कोई सूखा झरना दिखाई दे जाय, तो असंतोष ही बढ़ता है। जाड़े में पानी जम जाता है और इस गरमी में यह हवा जम गई थी!

देखा, ऊपर आकाश में तारे बिखरे हैं। दूर तक, बड़ी दूर तक, दृष्टि जा सकती है वहाँ तक, तारे ही तारे दिखाई देते हैं। पता नहीं, किसने इन्हें कब किस गोधूलि वेला में पहले-पहल जगाया था। अनंत काल बीत गया है, अनंत काल इसी तरह बीत जायगा, पर ये इसी तरह जगमगाते

रहेंगे। कभी छुट्टी लेते नही, कभी विश्राम करते नहीं, ठीक समय पर यथा-स्थान प्रकट हो जाते हैं। देखने में इतने छोटे, पर पार है कुछ इनकी विस्तीर्णता का ? बुद्धि चकराने लगती है। इनकी नाप-जोख के लिए मनुष्य की भाषा में संख्या का अभाव है । अनपढ़ आदमी को साठ की गिनती के लिए 'तीन-बीस' कहना पड़ता है । इस नक्षत्र-लोक के विषय में भी हमारे विद्वानों की अवस्था भी ऐसी ही है । उन्हें भी अपने कुछ नए बीसों को पकड़ना पड़ता है, तभी इनके संबंध में वे कुछ कह सकते हैं।

मनुष्य इनके सामने पानी का बबूला भी तो नही। वह कितना छोटा है, कितना क्षण-भंगुर है, इसका पता उसने आज तक नहीं पाया। कदाचित् वह अपने को देखने की सामर्थ्य ही नहीं रखता। इन नक्षत्रों को वह इतने छोटे रूप में देखता है, तब अपने लिए उसकी दृष्टि में शून्यता न होगी, तो और क्या आशा की जा सकती है ?

गाँव में किसी के घर लड़की का विवाह था । दूर से मीठी शहनाई की आवाज़ आ रही थी। कुछ अच्छा नहीं लग रहा था। आकाश के खुले हुए उस महा-पृष्ठ ने न जानें क्या बात पढ़ा दी थी। कदाचित् यह समाचार पहुँचाया था कि सारी की सारी पृथ्वी मृत्यु-शय्या पर है; पता नहीं, किस क्षण वह चल दे; पता नहीं, किस क्षण उसका प्राण-पतंग उड़

जाय। ऐसे में उत्सव की यह बाँसुरी किसे रुचेगी? कौन होगा, जिसे इस अवस्था में ऐसी बातें सुख-कर जान पड़ें?

एक धड़ाके के साथ आकाश में प्रकाश फैल गया। बारात वालों की ओर से यह आतिशबाजी की गई थी। सरसराहट के साथ आग का एक तीर-सा ऊपर उठा। थोड़ी देर के लिए जैसे शून्य के दो टुकड़े हो गए हों। इधर-उधर के अंधकार के बीच में यह एक ऐसी प्रकाश-धारा थी, जिसकी ओर न झुक पड़ना असंभव था। पता भी न चला और दृष्टि को अपनी ओर खींच कर जैसे उसने आज्ञा दी—देखो, इस ओर देखो! आज्ञा की तरह ही तीखी और खरी और आकस्मिक वह ज्योति थी। चकाचौंध में आँखें क्षण-भर को झँप-सी गईं। ऊपर जाकर उस तीर ने अगणित चिनगारियों की सृष्टि कर दी। बूँदें आग की भी कितनी भली जान पड़ती हैं! जान पड़ा, जैसे एक नए नक्षत्र-लोक की रचना की गई हो। उन नक्षत्रों और इन नक्षत्रों में अंतर ही क्या था? उतने ही दूर, उतने ही चमकीले, उतने ही बड़े। सब कुछ वैसा ही, कमी किसी बात में न दिखाई दी।

फिर अँधेरा फैल गया। जैसे कोई बात ही न हुई हो। हुई हो, तो बस इतनी कि प्रकाश की यह छोटी .खुराक पाकर अंधकार और पुष्ट हो उठा है। चिनगारियाँ एक क्षण

भी टिकी न रह सकीं। उठीं और विलीन हुईं। थोड़ी-सी आनंद-क्रीड़ा का अवकाश भी उन्हें नहीं मिला। उनका हिलना-डुलना मृत्यु के पंजे में फँसे हुओं की छटपटाहट ही तो न थी?

क्या यह जीवन इतना ही क्षण-भंगुर है? मृत्यु की छाया में इसका महत्त्व इतने से अधिक कहा कैसे जाय? आया, और आने के साथ ही क्या इसी तरह इसे विदा करना होता है?

विवाह के अवसर पर जीवन की क्षणिकता का यह वोध बेमेल जान पड़ता है। ऐसे उत्सव में आतिशबाजी मूर्खता से भरी हुई नहीं, तो और क्या समझी जाय? यह क्रीड़ा ठीक वही स्थान हाथ से मसल देती है, जहाँ पर जीवन की सब से बड़ी पीड़ा रहती है। यहाँ उत्सव का ताल बेसुर प्रतीत होता है। जान पड़ता है, मनुष्य नश्वर ही नहीं, अज्ञानी भी बहुत बड़ा है। अपने छोटे क्षण को भी मधुर बनाना वह नहीं जानता।

सिर के ऊपर ही आतिशबाजी में जीवन और मृत्यु की लड़ाई का यह दुष्परिणाम और नीचे शहनाई बज रही थी। दीपकों के प्रकाश में वहाँ चहल-पहल, हास्य-विनोद, खान-पान और, और भी न जानें क्या-क्या हो रहा होगा। इसी समय किसी मंगलाचार के लिए नारियाँ मिलित कंठ में कोई मधुर गीत गाने लगीं।

समझ में नहीं आता, वे गा क्या रही हैं। वे गा रही हैं, इतना ही जान पड़ता है। उनके शब्द यहाँ इस छत तक नहीं पहुँचते। इस एकांत तक आकर किसी अर्थ की भीड़ हलचल पैदा नहीं करती। आता है केवल स्वर, आता है केवल संगीत। निचुड़ कर छिलका फोक जैसे वहीं रह गया हो। छने हुए रस की ही उपलब्धि यहाँ होती है।

फिर एक धड़ाका हुआ और आग का वैसा ही तीर सरसराता हुआ ऊपर जाकर बिखर गया। पहले की तरह कितनी ही चिनगारियाँ नक्षत्रों की होड़ करने लगीं। थोड़ी देर बाद फिर वही बात। क्षण-क्षण के अंतर पर पूर्व की पुनरावृत्ति बार बार होने लगी।

यह ठंडी-ठंडी हवा का झोंका आया। इसकी तरलता में नारियों के कंठ की मीठी महक बसी हुई है। भूखे को यह जैसे सुस्वादु भोजन मिला। अब यह आतिशबाजी भी पहले की खीझ पैदा करती। हानि क्या, जो इसकी चिनगारियाँ देर तक टिकने नहीं पातीं हैं। जब तक दिखाई पड़ती हैं, प्रकाश से, जीवन से दमकती ही रहती है। अंधकार का, दूर हो जाने का, भय जैसे इन्हें छूने तक नहीं पाता। जान नहीं पड़ता कि अंधकार इनका शत्रु है। स्वजन की भाँति ही उसकी गोद में खेलने लगती हैं, हिचक इन्हें किसी तरह की नहीं होती।

जान पड़ता है, किसी ने नक्षत्रों की यह फुलझड़ी ही किसी समय आकाश में छोड़ी थी। उसका एक क्षण अभी पूरा नहीं हुआ। जब हो जायगा, तब ये भी बुझ जायँगे। अनंतकाल के लिए इनकी भी सत्ता नहीं है। हम अपने क्षुद्र काल-कण से उस महामहिम को नापने बैठते हैं, इसी से हमें इनकी चिरंतनता का धोखा हो जाता है।

नक्षत्र चिरंतन हैं, तो हम भी वैसे क्यों नहीं? मनुष्य का यह आनंद-उत्सव कोई आज का ही नहीं है। इसे भी युग के युग, युगांतर के युगांतर हो चुके हैं। कितने उत्पात में, कितने उलट-पुलट में, कितने ध्वंस के चितानल में घूमता-फिरता यह आज तक जीवित है। इसके जीवन की फुलझड़ी निरंतर इस अनंत को आभूषित कर रही है।

वह वधू, जो अपनी सखियों के बीच में हलदी और रोरी से चर्चित होकर वहाँ मन-ही-मन मुसकरा रही होगी; वह वर, जो नव यौवन की आभा में उज्ज्वल अनुराग लेकर सखाओं के साथ वहाँ हँस-खेल रहा होगा; वे स्वजन-परिजन, जो सब चिंताओं से मुक्त होकर वहाँ उस उत्सव के आनंद का उपभोग कर रहे होंगे; सब के सब न तो कभी नश्वर थे, और न कभी होंगे ही। आग की इन फुलझड़ियों की तरह ही चिरकाल के अंधकार को इन्होंने जगह-जगह से छेद रखा है। ये सब दस-बीस-पचास बरस ही जीवित रहने वाले नहीं हैं। अनादि न हों, चिरकालिक तो ये हैं ही।

हम में से कौन बता सकता है कि यह एक से दो होने के उत्सव की बाँसुरी मनुष्य ने पहले-पहल कब फूँकी थी? जब भी फूँकी गई हो, तब से इसका स्वर कभी चुका नहीं। कभी निर्जन अरण्य में, कभी नदी-तीर पर, कभी समुद्र की लहरों से पखारे हुए नारियल के छाया-कुंज में, कभी तारों से जगमगाते हुए ऐसे ही अँधेरे में, और कभी फागुन की हँसती हुई शुभ्र और स्वच्छंद पूर्णिमा में; यहाँ, वहाँ, और सब जगह, सब देशों में और सब कालों में; आनंद की यह अटूट रागिनी एक ही अटूट धारा में निरंतर एक रस से बही चली आ रही है। वे वर-वधू, वे स्वजन-परिजन, वे अड़ोसी-पड़ोसी कुछ आज के इसी क्षण के नहीं; उनमें चिरकाल का आनंद बसा हुआ हैं। चिरकाल के आनंद से, चिरकाल प्रेम से, उनके ललाट अभिषिक्त हैं।

और यह जो मैं आज इस छत पर इन नक्षत्रों को देखता हुआ यहाँ अकेले में लेटा हुआ हूँ, क्या अकेले आज का ही हूँ? जान पड़ता है, मैं भी उन्हीं सब के बीच का हूँ। मेरी भी छोटी फूँक ने उस चिरंतन बाँसुरी को स्वर-दान किया है। कभी वर-वधू के वेश में, कभी स्वजन-परिजनों के रूप मे। कभी इस युग में, कभी उस युग में, कभी इस देश में, कभी उस देश में। विभिन्न वेशों में, विभिन्न भाषाओं में, भिन्न-भिन्न राग-रागनियों की सृष्टि करते हुए, कभी तो सावन की दूर तक फैली हरियाली के बीच, और कभी सूर्य

की किरणों से जलते हुए खुले रेगिस्थान में, मैंने भी इस जीवन को अखंड गति-दान किया है; मैंने भी इस धारा में कितनी ही छोटी-बड़ी लहरियाँ उठाई हैं। ऊपर ये नक्षत्र इसी तरह झिलमिलाते रहते हैं, इसी तरह हमें एकटक देखते रहे हैं। ये हमारी अक्षयता के चिर-साक्षी हैं!

नारियों का वह मिलित संगीत उसी तरह इन कानों तक पहुँच रहा है, शहनाई उसी तरह बजी जा रही है और वह आतिशबाजी भी समाप्त नहीं हुई। उसकी पिचकारी से प्रकाश के गुलाब-जल की यह होली अंधकार के ऊपर होती ही जा रही है। सूख जाने का, बुझ जाने का, मृत्यु के सागर में डूब जाने का भय उसे नहीं। जीवन को भय किस बात का? मृत्यु का वह प्रदीपित अंश है। विवाह के उत्सव में आग की फुलझड़ी की यह क्रीड़ा करके मनुष्य ने अपनी निर्भयता का ही प्रचार किया है। उसने कहा है—भले ही जीवन क्षणिक हो, भले ही इन नक्षत्रों के सामने वह क्षुद्र से क्षुद्र हो, उनकी शहनाई का स्वर धीमा नहीं पड़ सकता। मिट जाने के भय पर उसने विजय पा ली है। जीवन के छोटे-छोटे बिंदुओं से ही उसने ऐसे महासागर की सृष्टि कर रखी है, जिसका अस्तित्व प्रलय में भी समाप्त नहीं होगा, जो अथाह है, दुर्लंघ्य है, सुविस्तीर्ण है।

चिरजीवी हों वे हमारे वर-वधू!
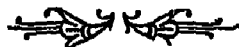
स्वर्ग का एक कोना

[श्रीमती महादेवी वर्मा एम. ए.]

उस सरल कुटिल मार्ग के दोनों ओर, अपने कर्त्तव्य की गुरुता से निःस्तब्ध प्रहरी जैसे खड़े हुए, आकाश में भी धरातल के समान मार्ग बना देनेवाले सफ़ेद के वृक्षों की पंक्ति से उत्पन्न दिग्भ्रांति जब कुछ कम हुई तब हम एक दूसरे ही लोक में पहुँच चुके थे, जो उस व्यक्ति के समान परिचित और अपरिचित दोनों ही लग रहा था जिसे कहीं देखना तो स्मरण आ जाता है परंतु नाम-धाम नहीं याद आता।

उस सजीव सौंदर्य में एक अद्भुत निःस्पंदता थी जो उसे नित्य दर्शन से साधारण लगनेवाले सौंदर्य से भिन्न किए दे रही थी।

चारों ओर से नीलाकाश को खींचकर पृथ्वी से मिलाता हुआ क्षितिज, रुपहले पर्वतों से घिरा रहने के कारण, बादलों से बने घेरे जैसा जान पड़ता था। वे पर्वत अविरल और

निरंतर होने पर भी इतनी दूर थे कि धूप में जगमगाती असंख्य चाँदी-सी रेखाओं के समूह के अतिरिक्त उनमें और कोई पर्वत का लक्षण दिखाई न देता था। जान पड़ता था किसी चित्रकार ने अपने आलस्य के क्षणों में रुपहले रंग में तूलिका डुबाकर नीले धरातल पर इधर-उधर फेर दी है।

जहाँ तक दृष्टि जाती थी, पृथ्वी अश्रुमुखी ही दिखाई पड़ती थी। जल की इतनी अधिकता हमारे यहाँ वर्षा के अतिरिक्त कभी देखने में नहीं आती, परंतु उस समय के धरातल और यहाँ के धरातल में उतना ही अंतर है, जितना धुले हुए सजल मुख और आँसू-भरी आँखों में। मार्ग इतना सूखा था कि धूल उड़ रही थी, परंतु उसके दोनों किनारे सजल थे, जिनमें कहीं-कहीं कमल की आकृति वाले छोटे फूल कुछ मीलित और कुछ अर्ध-मीलित दशा में झूल रहे थे।

रावलपिंडी से २०० मील मोटर में चलने से शरीर अवसन्न हो ही रहा था, उस पर चारों ओर बिखरी हुई अभिनव सुषमा और संगीत के आरोह-अवरोह की तरह चढ़ाव-उतार वाले समीर वाले समीर की सर-सर ने मन को भी ऐसा विमूर्च्छित-सा कर दिया कि श्रीनगर में बदरिकाश्रम पहुँचकर बड़ी कठिनता से सत्य और स्वप्न में अंतर जान पड़ा। वह आश्रम, जहाँ हाउस-बोट में जाने तक हमारे ठहरने का प्रबंध था, सहज ही किसी चिड़ियाघर का स्मरण

करा देता था; कारण, वहाँ अनेक प्रांतों के प्रतिनिधि अपनी-अपनी विशेषताओं के प्रदर्शन में दत्त-चित्त थे। कहीं कोई पंजाबी युवती अपने वीर वेश में गर्व से मस्तक उन्नत किये देखनेवालों को चुनौती-सी देती घूम रही थी; कहीं संयुक्त-प्रांत की कोई प्राचीना घूँघट निकाले इस प्रकार संकोच और भय से सिमटी हुई खड़ी थी मानो सब उसी के लज्जारूपी कोष पर आक्रमण करने पर तुले हुए हैं और वह उसे छिपाने के लिए पृथ्वी से स्थान माँग रही है, कहीं कोई महाराष्ट्र सज्जन शिखा का गुरु भार सिर पर धारण किए जलाने की लकड़ियों को धोते हुए दूसरे के कौतूहल का कारण बन रहे थे, और कहीं कोई धर्म-दिग्गज धर्म-पालन और उदर-पूर्ति में कौन श्रेष्ठ है, इस समस्या के समाधान में तत्पर थे। प्रकृति की चंचलता की कमी की पूर्ति मनुष्य में हो रही थी।

अधिकारियों ने हमारे कमरे, नौकर आदि की जैसी सुव्यवस्था थोड़े समय में कर दी वह सराहने योग्य थी, परंतु वहाँ के वास्तविक जीवन का परिचय तो हमें अपने हाउस-बोट में जाकर ही मिल सका। नीले आकाश की छाया से नीलाभ झेलम के जल में वे रंगीन जल-यान वर्षा से धुले आकाश में इंद्र-धनुष की स्मृति दिलाते रहते थे।

जिसने इस प्रकार तरंगों के स्पंदित हृदय पर अछोर अंतरिक्ष के नीचे रहने का इतना सुंदर साधन ढूँढ़ निकाला

उसके पास अवश्य ही बड़ा कवित्वमय हृदय रहा होगा। जीना सब जानते हैं और सौंदर्य से भी सब का परिचय रहता है परंतु सौंदर्य में जीना किसी कलाकार हा काम है।

हमारे पानी पर बने हुए घर में एक सुंदर सजी हुई बैठक, सब सुख के साधनों से युक्त दो शयन-गृह, एक भोजनालय और दो स्नानागार थे। भोजन दूसरे बोट में बनता था, जिसके आधे भाग में हमारा माँझी सुलताना सपत्नीक चीनी की पुतली-सी कन्या नूरी और पुत्र महमदू के साथ अपना छोटा-सा संसार बसाए हुए था। साथ ही एक तितली जैसा शिकारा भी था जिसे पान की आकृति-वाली छोटी सी पतवार से चलाकर छोटा महमदू दोनों फूलों को एक करता रहता था।

हम रात को लहरों में झूलते हुए खुली छत पर बैठकर तट के एक-एक दीपक को पानी में अनेक बनते हुए तब तक देखते ही रह जाते थे जब तक नींद-भरी पलकें बंद होने के लिए सत्याग्रह न करने लगती थीं और फिर सवेरे तब तक कोई काम न हो पाता था जब तक जल में सफ़ेद बादलों की काली छाया अरुण होकर फिर सुनहरी न हो उठती थी। उस फूलों के देश पर रुपहले-सुनहले रात-दिन बारी-बारी से पहरा देने आते जान पड़ते थे। वहाँ के असंख्य

फूलों में मुझे दो जंगली फूल 'मजारपोश' और 'लालापोश' बहुत ही प्रिय लगे।

मजारपोश अधिक से अधिक संख्या में समाधि पर फूलकर, अपनी नीली अधखुली पँखड़ियों से, अस्थि-पंजर को ढाँकने वाली धूलि को नंदन बना देता है और लालापोश हरे लहलहाते खेतों में अपने आप उत्पन्न होकर, अपने गहरे लाल रंग के कारण, हरित धरातल पर जड़े पद्म-राग की स्मृति दिला जाता है। फूलों के अतिरिक्त उस स्वर्ग के बालक भी स्मरण की वस्तु रहेंगे। उनकी मजारपोश जैसी आँखें, लालापोश जैसे होंठ, हिम जैसा वर्ण और धूलि जैसा मलिन वस्त्र उन्हें ठीक प्रकृति का एक अंग बनाए रखते हैं। अपनी सारी मलिनता में कैसे प्रिय लगते हैं वे! मार्ग में चलते न जाने किस कोने से कोई भोला बालक निकल आता और 'सलाम जनाब पासा' कहकर विश्वासभरी आँखों से हमारी ओर देखने लगता। उसकी गंभीरता देखकर यही प्रतीत होता था कि उसने सलाम करके अपने गुरुतम कर्त्तव्य का पालन कर दिया है, अब उसे सुननेवाले के कर्त्तव्य-पालन की प्रतीक्षा है। शीत ने इन मोम के पुतलों को अंगारों में पाला है और दरिद्रता ने पाषाणों में। प्रायः सवेरे कुछ सुंदर-सुंदर बालक, नंगे पैर, पानी में करम का साग लाने दौड़ते दिखाई देते थे और कुछ अपना शिकारा लिए 'सलाम जनाब पार पहुँचाएगा' पुकारते हुए। ऐसे ही कम अवस्थावाले

बालकों को कारखानों में शाल आदि पर गंभीर भाव से सुंदर बेल-बूटे बनाते देखकर हमें आश्चर्य हुआ।

काश्मीरी स्त्रियाँ भी बालकों के समान ही सरल जान पड़ीं। उनके मुख पर न जाने कैसी हँसी थी, जो क्षण-भर आँखों में झलक जाती थी और क्षण-भर में होंठों में। वे एड़ी चूमता हुआ कुर्ता और उसके नीचे पायजामा पहनकर एक छोटी-सी ओढ़नी को कभी-कभी बीच से तह करके, तिकोना बनाकर, और कभी-कभी वैसे ही सिर पर डाले रहती हैं। प्रायः मुसलमान स्त्रियाँ ओढ़नी के नीचे मोती लगी या सादी टोपी लगाए रहती हैं जो सुंदर लगती है।

प्रकृति ने इन्हें इतना भव्य रूप दिया, परंतु निष्ठुर भाग्य ने दियासलाई के डिब्बे जैसे छोटे मलिन अभव्य घरों में प्रतिष्ठित कर और एक मलिन वस्त्र-मात्र देकर इनके सौंदर्य का उपहास कर डाला और हृदय-हीन विदेशियों ने अपने ऐश्वर्य की चकाचौंध से इनके अमूल्य जीवन को मोल लेकर मूल्य-रहित बना दिया। प्रायः इतर श्रेणी की स्त्रियाँ मुझे काग़ज़ में लपेटी हुई कलियों की तरह मुर्झाई मुस्कराहट से युक्त जान पड़ीं। छोटी-छोटी बालिकाओं की मंद स्मित में याचना, प्रौढ़ाओं की फीकी हँसी में विवशता और वृद्धाओं की सरल चितवन में असफल वात्सल्य झाँकता रहता था।

इनके अतिरिक्त सफ़ेद दुग्ध-फेनिल दाढ़ीवाले, आँखों में

पुरातन चश्मा चढ़ाए, पतली उँगलियों में सुई दबाकर कला को वस्त्रों में प्रत्यक्ष करते हुए शिल्पकार भी मुझे तपस्वियों जैसे ही भव्य लगे। इस सुंदर हिम-राशि में समाधिस्थ पर्वत के हृदय में इतनी कला कैसे पहुँचकर जीवित रह सकी, यह आश्चर्य का विषय है। कोई काष्ठ जैसी नीरस वस्तु को सुंदर आकृति देकर सरस बना रहा था, कोई काग़ज़ कूटकर बनाई हुई वस्तुओं पर छोटी तूलिका से रंग भर-भरकर उसमें प्राण का संचार कर रहा था और कोई रंग-बिरंगे ऊन या रेशम से सूती और ऊनी वस्त्रों को चित्रमय जगत् किए दे रहा था। सारांश यह कि कोई किसी वस्तु को भी वैसा नहीं रहने देना चाहता था जैसा ईश्वर ने बनाया है।

काश्मीर के सौंदर्य-कोष में सब से मूल्यवान् मणि वहाँ के शालामार और निशात बाग़ माने जाते हैं और वास्तव में सम्राज्ञी नूरजहाँ और सम्राट् जहाँगीर की स्मृति से युक्त होने के कारण वे हैं भी इसी योग्य। शालामार में बैठकर तो अनायास ही ध्यान आ जाता है कि यह उसी सौंदर्य-प्रतिमा का प्रमोद-वन रह चुका है जिसे सिंहासन तक पहुँचाने के लिए उसके अधिकारी को स्वयं अपने जीवन की सीढ़ी बनानी पड़ी और जब वह उस तक पहुँच गई तब उसकी गुरुता से संसार काँप उठा। यदि वे उन्नत, सघन और चारों ओर वरद हाथों की तरह शाखाएँ फैलाए हुए

चिनार के वृक्ष बोल सकते, यदि आकाश तक अपने सजल उच्छ्वासों को पहुँचाने वाले फ़ौवारे बता सकते तो न जाने कौन-सी करुण-मधुर कहानी सुनने को मिलती ?

जिन रज-कणों पर कभी रूपसियों के राग-रंजित सुकोमल चरणों का न्यास भी धीरे-धीरे होता था, उन पर जब यात्रियों के भारी जूतों के शब्द से युक्त कठोर पैर पड़ते थे, तब लगता था कि वे पीड़ा से कराह उठेंगे।

किंवदंती है कि पहले शालामार का निर्माण और नामकरण श्रीनगर बसानेवाले द्वितीय प्रवरसेन द्वारा हुआ था, फिर उसी के भग्नावशेष पर जहाँगीर ने अपने प्रमोद-उद्यान की नींव डाली। अब तो उसके, अनंत परीक्षा में जीर्ण, वृक्षों की पंक्ति में, किसी परिचित पद-ध्वनि को सुनने के लिए निःस्तब्ध पल्लवों में, ऊपर क्षणिक वितान बना देनेवाले फ़ौवारों के सीकरों में और भंगिमामय प्रपातों में पारस्य देश की कला की अमिट छाप है। हमारे अजस्र-प्रवाहिनी सरिताओं से निरंतर सिक्त देश ने जल को इतने बंधनों में बाँध कर नर्तकी के समान लास सिखाने की आवश्यकता नहीं समझी थी, परंतु मुसलमान शासकों के प्रभाव से इसने हमारे सजीव चित्र से उपवनों को सजल भी बना दिया। जिस समय सारे फ़ौवारे सहस्रों जल-रेखाओं में विभाजित हो-होकर आकाश में उड़ जाने की विफल चेष्टा में अपने तरल हृदय को खंड-खंड कर

पृथ्वी पर लौट आते हैं, सूखे प्रपातों से अश्रु-पात होने लगता है, उस समय पानी के बीच में बनी हुई राजसी काले पत्थर की चौकी पर किसी अनंत अभाव की छाया पड़कर उसे और भी अधिक कालिमामय कर देती है।

डल झील की दूसरी ओर सौंदर्यमयी नूरजहाँ के भाई आसफ़ अली का, पहाड़ के हृदय से चरण तक, विस्तृत निशात बाग़ है, जिसकी क्रम-बद्ध उँचाई के अनुसार निर्मित १२ चबूतरों के बीच से अनेक प्रकार से खोदी हुई शिलाओं पर से झरते हुए प्रपात अपना उपमान नहीं रखते। इसकी सजलता में शालामार की-सी प्यास छिपी नहीं जान पड़ती, वरन् एक प्रकार का निर्वेद मनुष्य को तन्मय सा कर देता है। मनुष्य ने यहाँ प्रकृति की कला में अपनी कला इस प्रकार मिला दी है कि एक के अंत और दूसरी के आरंभ के बीच में रेखा खींचना कठिन है; अतः हमें प्रत्येक क्षण एक का अनुभव और दूसरे का स्मरण होता रहता है। इसके विपरीत अंतःपुर की सजीव प्रतिमाओं के लिए इन प्रतिमाओं के आराधक और आराध्य बादशाह के लिए तथा इनके कौतुक से विस्मित सर्व-साधारण के लिए तीन भागों में विभक्त शालामार के पत्ते-पत्ते में मनुष्य की युगों से प्यासी लालसाओं की अस्पष्ट छाया मदिरा की अतृप्त

मादकता लिए घूमती-सी ज्ञात होती है, परंतु दोनों ही अपूर्व हैं, इसमें संदेह नहीं।

इस चिर नवीन स्वर्ग ने, सुंदर शरीर के मर्म में लगे हुए व्रण के समान, अपने हृदय में कैसा नरक पाल रक्खा है, यह कभी फिर कहने योग्य करुण कहानी है।

शकुंतला की विदा

[श्रीयुत डा० कैलाशनाथ भटनागर एम. ए., पी-एच. डी.]

राजा दुष्यंत के चले जाने के पश्चात् अनसूया और प्रियंवदा पुष्प चुन रही थीं। अनसूया बोली—सखी प्रियवंदा! गांधर्व-विवाह की विधि से कल्याण को प्राप्त हुई शकुंतला को सुयोग्य पति मिल जाने से मेरा हृदय शांत हो गया है। तथापि इतनी चिंता अवश्य है कि आज ऋषियों से विदा होकर वह राजर्षि जब अपने अंतःपुर में पहुँचेगा तब यहाँ के वृत्तांत को स्मरण रक्खेगा या नहीं।

प्रियंवदा—ऐसी विशेष आकृतियाँ गुण की विरोधी नहीं होतीं। किंतु अब इस वृत्तांत को सुनकर पिताजी क्या कहेंगे?

अनसूया—मैं तो समझती हूँ कि उनकी अनुमति मिल जायगी; क्योंकि सिद्धांत यही है कि "गुणवान् को कन्या दी जानी चाहिए"। यदि दैव ही उक्त कार्य कर दे तो गुरु-जन अनायास ही कृतार्थ हैं।

पुष्प चुनती हुई ये दोनों इस प्रकार वार्त्तालाप कर रही थीं कि सहसा सुनाई पड़ा—अरे ! यह मैं हूँ।

अनसूया—सखी ! यह किसी अतिथि का-सा शब्द है।

प्रियंवदा—शकुंतला कुटी के पास है सही, परंतु आज उसका चित्त ठिकाने नहीं है।

अतः वे दोनों कुटी की ओर चल पड़ीं। परंतु इसी समय फिर सुनाई पड़ा—अरी अतिथि का निरादर करने-वाली ! तू अनन्य मन से जिसका चिंतन करती हुई मुझ तपस्वी का स्वागत नहीं करती वह, स्मरण कराने पर भी, तुझे वैसे ही स्मरण नहीं करेगा जैसे उन्मत्त पुरुष पहले कहे हुए अपने प्रलाप-वाक्यों को स्मरण नहीं कर सकता।

यह सुनकर प्रियंवदा ने कहा—हाय ! अनर्थ हो गया। किसी का सत्कार न करके शून्य-हृदया शकुंतला ने अपराध किया है।

आगे बढ़कर देखा तो शाप देकर महर्षि दुर्वासा शीघ्रता से जा रहे थे। प्रियंवदा, उनके सत्कार के लिए, अर्घ्य आदि लेने चली गई। अनसूया ने आगे बढ़कर उनकी अभ्यर्थना की। उसके अधिक अनुनय-विनय करने पर महर्षि दुर्वासा कुछ शांत हुए।

अनसूया ने आकर कहा—सखी ! उन्हें कुछ शांत तो किया है परंतु वे लौटे नहीं। वे यह कहते चले गए कि

"मेरा वचन अन्यथा नहीं होता; किंतु अभिज्ञान के दर्शन द्वारा शाप की निवृत्ति हो जायगी।"

प्रियंवदा—अच्छा, आश्वासन के लिए यही यथेष्ट है। उस राजर्षि ने चलते समय अपने नाम से अंकित अँगूठी, स्मृति के लिए, पहना दी थी। उससे शकुंतला का काम चल जायगा।

प्रियंवदा और अनसूया ने शकुंतला को इस शाप की सूचना देना उचित न समझा।

प्रियंवदा ने कहा—चमेली को उष्ण जल से सींचने का साहस कौन कर सकता है?

कुछ दिनों के अनंतर अनसूया को चिंता हुई। वह सोचने लगी कि क्या दुर्वासा के शाप से ही इतना विलंब हो रहा है? अन्यथा उस राजर्षि ने इतना आश्वासन देकर भी अब तक पत्र क्यों नहीं भेजा? सखी दोष की भागी होगी, इसलिए प्रवास से लौटे हुए पिता कण्व से—दुष्यंत से विवाही गई—गर्भवती शकुंतला का वृत्तांत कहने में असमर्थ हूँ। अब क्या करना चाहिए?

अनसूया इस प्रकार चिंतित थी कि प्रसन्न-वदना प्रियंवदा वहाँ आ गई। वह कहने लगी—सखी! शीघ्रता करो। पिता कण्व ने आज शकुंतला को, तपस्वियों के साथ, दुष्यंत के पास भेजने के लिए कहा है।

अनसूया—पिता ने यह वृत्तांत कैसे जाना?

प्रियंवदा—जब वे यज्ञ-स्थान के पास पहुँचे, तब आकाश-वाणी हुई कि शकुंतला दुष्यंत द्वारा गर्भवती है।

"आज ही शकुंतला भेजी जायगी" यह शुभ समाचार सुनकर अनसूया प्रसन्न तो हुई, किंतु साथ ही सखी की विदाई के कारण उसके दुःख की मात्रा भी कम न थी। अब दोनों सखियाँ, मंगल-द्रव्य एकत्र कर, शकुंतला के पास चली गई।

इसी समय महर्षि कण्व का शब्द सुनाई दिया। वे गौतमी से कह रहे थे कि शार्ङ्गरव और शारद्वत शिष्यों से शकुंतला को पहुँचाने के लिए, कह दो।

प्रियंवदा और अनसूया ने देखा कि, सूर्य उदय होते ही, शकुंतला स्नान किये बैठी है और स्वस्ति-वाचन करनेवाले तपस्वी, उसके मंगल के लिए, आशीर्वाद दे रहे हैं।

दोनों सखियाँ जाकर शकुंतला का शृंगार करने लगीं।

"सखियों द्वारा किया हुआ यह शृंगार अब मुझे दुर्लभ हो जायगा" इस विचार से शकुंतला की आँखों में आँसू भर आये।

इस शुभ अवसर पर रोने से उसे सखियों ने रोका।

महर्षि कण्व के प्रताप द्वारा वृक्षों से स्वयं प्राप्त रेशमी वस्त्र तथा आभूषण शकुंतला को पहनाए गए।

नित्य-कृत्य से निपट कर महर्षि कण्व भी शकुंतला के पास आ गए। वे सोच रहे थे कि शकुंतला आज पति-गृह

को जायगी, इसलिए उनका हृदय दुखित हो रहा था। आँसुओं के रोकने से गला भारी हो रहा था, चिंता के कारण इद्रियाँ जड़ हो रही थी, उन्हें आश्चर्य होता था कि मुझ बनवासी को स्नेह से इतनी वियोग-पीड़ा हो रही है, तो अपनी कन्याओं के प्रथम-वियोग से पीड़ित गृहस्थियों का क्या कहना?

शकुंतला ने लज्जा से, उठकर, उन्हें प्रणाम किया। कण्व ने आशीर्वाद दिया—पुत्री! ययाति को शर्मिष्ठा के समान तू स्वामी की प्रिया हो। तेरे वैसा ही चक्रवर्ती पुत्र हो, जैसा शर्मिष्ठा के पुरु उत्पन्न हुआ था।

महर्षि कण्व ने उसे, आहुति दी हुई, अग्नि की प्रदक्षिणा करने को कहा। सब ने प्रदक्षिणा की। तब महर्षि कण्व ने शार्ङ्गरव आदि अपने दोनों शिष्यों को बुलाकर शकुंतला को मार्ग दिखाने का आदेश किया।

शार्ङ्गरव शकुंतला को मार्ग दिखाने लगा। सब उधर जाने लगे। कण्व ने तपोवन के वृक्षों को संबोधित कर कहा—हे तपोवन के वृक्षो! तुम्हें सींचे बिना जो जल नही पीती थी, आभूषणों की प्रेमी होने पर भी—तुम्हारे स्नेह से—जो तुम्हारे पल्लव नहीं तोड़ती थी और तुम्हारे प्रथम विकास के समय जो प्रसन्न होती थी, वही शकुंतला आज पति-गृह को जा रही है। तुम सब इसे आज्ञा दो।

इसी समय कोयल बोल उठी। महर्षि कण्व ने समझा

कि वृक्ष, कोयल के मधुर वचन द्वारा, शकुंतला को पति-गृह जाने की आज्ञा देते हैं।

इसके अनंतर फिर शब्द सुनाई दिया—"तुम्हारे मार्ग कल्याणमय हों।" यह वन-देवियों का आशीर्वाद था। शकुंतला ने सिर झुकाकर आशीर्वाद ग्रहण किया; फिर सखी प्रियंवदा से धीरे से कहा—स्वामी के दर्शन के लिए उत्सुक होने पर भी आश्रम को त्यागते हुए मेरे पैर, दुःख के कारण, आगे नहीं बढ़ते।

प्रियंवदा—सखी! चलते समय तपोवन के विरह से कुछ तुम्हीं कातर नहीं हो, वरन् तपोवन की भी वैसी दशा है। मृग मुँह से कुश-ग्रास गिरा रहे हैं, मोरों ने नाच बंद कर दिया है और लताओं ने, पुराने पत्ते गिराकर, मानो आँसू बहाये हैं।

शकुंतला अब वन-ज्योत्स्ना लता से विदा लेने गई। इस पर उसका बहन का-सा स्नेह था। वह पास जाकर कहने लगी—"हे वन-ज्योत्स्ना! आम से लिपटी रहनेपर भी तू, इधर बढ़ी हुई शाखा-रूपी भुजाओं से, मुझे लिपट जा। आज मैं तुझसे दूर हो जाऊँगी।" फिर सखियों से बोली—सखियो! इसे मैं तुम्हारे हाथ सौंपती हूँ।

दोनों सखियों ने आँसू गिराते हुए कहा—और हमें किसके हाथ सौंप रही हो?

यह सुन कर महर्षि कण्व ने कहा—अनसूया! रोओ मत। शकुंतला को तुम्हीं धीरज बँधाओ।

शकुंतला—पिताजी! कुटी के समीप रहनेवाली मृगी के सकुशल प्रसव करने की मुझे सूचना भेजिएगा।

इस समय चलते-चलते एक मृग ने पीछे से आकर शकुंतला का आँचल खींच लिया। शकुंतला ने घूमकर देखा तो वही मृग था जिसे उसने स्वयं खिला-पिलाकर बड़ा किया था। रोती हुई शकुंतला ने उसे लौटा दिया।

महर्षि कण्व ने शकुंतला से शांत हो जाने को कहा। क्योंकि रोने से आँखों में आँसू आ जाने के कारण विषम मार्ग में चलना कठिन था।

इतने में सब एक सरोवर के पास पहुँच गए। शाङ्गरव ने ऋषि से कहा—भगवन्! प्रिय जन का अनुगमन जलाशय तक ही करना चाहिए। सो यह सरोवर है। अब आप हमें संदेश देकर लौट जायँ।

सब लोग वट-वृक्ष की छाया में बैठ गए। महर्षि कण्व ने राजा दुष्यंत के लिए संदेश दिया—"हे राजन्! हम तपस्वियों को, अपने उच्च कुल को तथा तुम्हारे लिए इसकी आत्म-प्रेरित स्नेह-प्रवृत्ति को भले प्रकार विचारकर तुम सब स्त्रियों में इसे समान गौरव से देखना। इससे अधिक भाग्य के अधीन है; कन्या के स्वजनों को उसे कहना उचित नहीं।"

शिष्यों से यह संदेश कहकर महर्षि कण्व ने शकुंतला से कहा—पुत्री ! अब तुम्हें कुछ शिक्षा देनी है। तुम यहाँ से पति-गृह को पहुँचकर—

शुश्रूषा गुरु-जन की कीजो, सखी-भाव सौतिन में लीजो।
भरता जदपि करे अपमाना, कुपित होइ गहियो जनि माना॥
मृदु-भाषिनि दासिन सँग रहियो, बड़े भागि पै गर्ब न लहियो।
या विधि तिय गेहिनि पद पावे, उल्टी चालि कुल-दोष कहावैं॥

गौतमी ने भी कहा—बेटी ! यह कुल-वधुओं के लिए उपदेश है। इस पर सदैव ध्यान रखना।

कण्व ने जब शकुंतला से कहा कि मेरे और अपनी सखियों के गले लगो तब शकुंतला का जी भर आया। वह रोने लग गई। कण्व ने उसे आश्वासन देते हुए कहा—पुत्री ! कातर क्यों होती है ? जब तू महाकुलीन राजा की पटरानी होकर उसके वैभव के कारण बड़े-बड़े कामों में फँसी रहने से अवकाश न पावेगी और थोड़े ही दिनों में तू ऐसा पुत्र उत्पन्न कर लेगी, जैसा कि पूर्व दिशा सूर्य को उत्पन्न करती है, तब विरह-व्यथा को भूल जायगी।

शकुंतला उनके चरणों पर गिर पड़ी। कण्व ने कहा—जो तेरी इच्छा है, वह पूर्ण हो !

शकुंतला ने अब सखियों से गले लगने को कहा।

गले लग चुकने पर सखियों ने शकुंतला से कहा—सखी ! यदि वह राजा तुम्हें पहचानने में विलंब करे तो

उसके नामवाली यह अँगूठी दिखा देना।

यह सुनकर शकुंतला काँप उठी। परंतु दोनों सखियों ने कहा—भय मत करो। अति स्नेह में दुःख की आशंका होती है।

अधिक विलंब हो जाने से शार्ङ्गरव ने कहा—अब दुपहर होने लगी। शीघ्रता करो।

शकुंतला ने पिता के गले लगकर, आश्रम की ओर देखते हुए, कहा—तात! मैं तपोवन को फिर कब देखूँगी?

कण्व—जब चिरकाल तक चक्रवर्त्ती पति के साथ रहकर महारथी दौष्यंति का विवाह कर लेगी तब, स्वामी से कुटुंब का भार पुत्र को मिल जाने पर, पति के साथ इस शांत आश्रम में तू फिर आएगी।

फिर सब ने मिलकर शकुंतला को विदा किया। जब वह वृक्षों की ओट में छिप गई तब सब लोग लौट आए। सब के हृदय शोक-ग्रस्त थे। कण्व ने "पुत्री पराया धन है" कहकर हृदय को आश्वासन दिया।

परशुराम-राम-संवाद

[श्रीयुत डा० कैलाशनाथ भटनागर एम. ए., पी-एच. डी.]

परशुराम उत्तेजित होकर जनकपुरी पहुँचे। दास-दासियों ने राम को सूचना दी कि अपने गुरु शिव के धनुर्भंग से क्रोधित परशुराम आपको खोज रहे हैं।

यह सूचना पाकर राम प्रसन्न हुए। कहने लगे कि त्रिपुरारि के शिष्य, वेदाभ्यास से शुद्ध-चरित, भृगुवंश के स्वामी, महाभाग्यशाली, परशुराम के दर्शन करने चाहिएँ। वे भी मुझे देखने को इच्छुक हैं। परंतु नव-विवाहिता सीता ने, भय के कारण, उच्च कुल के योग्य लज्जा को त्यागकर, राम को रोकना चाहा। सखियों ने भी मना किया। परंतु राम कहने लगे—काम में विलंब करने से विरसता होती है।

सीता की सखियाँ बोलीं—सुना है कि परशुराम ने वारंवार पृथिवी को क्षत्रियों से रहित करके अपना मनोरथ पूर्ण किया है।

इन बातों से राम कब डरने लगे थे? उन्होंने कहा—क्या एक दोष से उस महान् ज्ञान-निधि का माहात्म्य न्यून हो सकता है जिसने पृथ्वी पर क्षत्रिय-वंश के राजाओं का इक्कीस बार सर्व-नाश किया; बाहु-बल द्वारा कार्त्तिकेय अर्जुन को जीत कर ख्याति और प्रशंसा प्राप्त की; अश्वमेध में गुरु कश्यप को द्वीपों सहित पृथिवी दान दी और जो अब ऐसे स्थान पर तपस्या करता है जो समुद्र को परशु से हटाकर प्राप्त किया गया है।

सीता और उनकी सखियों को राम आश्वासन दे रहे थे कि परशुराम 'दशरथ का पुत्र राम कहाँ है?' कहते हुए अंतःपुर में आते दिखाई पड़े।

राम ने उन्हें देखकर कहा—अहा! ये त्रिभुवन के अद्वितीय वीर भार्गव मुनि दुष्प्राप्य तेजराशि के समान हैं; ये प्रताप और तपस्या से प्रकाशमान शरीर धारण किए हुए हैं। प्रचंड वीर-रस की तो ये मूर्त्ति ही हैं।

इतने में परशुराम पास ही पहुँच गए। उनके कंधे पर चमकीला परशु तथा तरकस था। वे जटा, धनुष, कौपीन और मृगछाला धारण किए हुए थे। उनके रुद्राक्ष से लिपटे हाथ में बाण चमक रहा था। उनका यह वेष भय और शांति से मिश्रित शोभा का विस्तार कर रहा था।

राम ने सीता को वहाँ से हटने और घूँघट काढ़ने को कहा।

मुनि को पास आते देखकर सीता डर गई। राम कहने लगे—ये मुनि और वीर हैं, इस कारण मेरे प्रिय हैं। डरो मत। भीरु! तुम क्षत्रिय-पुत्री हो। जगत् में विस्तृत कीर्तिवाले और गर्व से खुजाती हुई भुजाओंवाले का सामना करने के लिए मैं समर्थ हूँ। मैं राघव हूँ, क्षत्रिय हूँ।

उधर परशुराम ने निकट आते ही क्रोधित होकर कहा—ओह! इस दुष्ट क्षत्रिय बालक की मूढ़ता तो देखो! धनुष को तोड़ते हुए यदि इसे प्राणियों के करुणा-सागर शांतात्मा भगवान् शिव से भय नहीं हुआ तो इसने, मद-मत्त तारकासुर के वध से विश्व को आनंदित करनेवाले उनके पुत्र स्कंद को, अथवा स्कंद के समान प्रिय शिष्य मुझको क्यों नहीं जाना? ओह! यह मेरी ही शाँति का कटु परिणाम है कि क्षत्रियों को फिर राज्य मिला है। उन्होंने अब फिर धनुष ग्रहण कर लिए। भुज-बल से उन्मत्त क्षत्रियों के उद्धत चरित मैंने फिर सुने हैं।

इतना कहते-कहते परशुराम सेवकों से राम को पूछने लगे। राम संमुख खड़े हो गए और बोले—भगवन्! मैं राम हूँ। यहाँ आइए।

परशुराम—धन्य! राजपुत्र धन्य! तू सचमुच इक्ष्वाकु-वंशी है। मारने के लिए मैं तुझे ढूँढ़ रहा था। तू सच्चा क्षत्रिय है जो सगर्व स्वयं मेरे सामने आ गया।

राम की सुंदरता देखकर परशुराम का हृदय कोमल होने

लगा। किंतु उन्होंने यही निश्चय किया कि यह वध्य है। फिर राम से बोले—अच्छा, क्षण-भर ठहर। अभी इस परशु से तेरा अंत करता हूँ।

राम ने धैर्य से कहा—क्या यह वही परशु है जिसे भगवान् शिव ने, गणों समेत कार्त्तिकेय को जीतने पर, आपको उपहार में दिया था ?

परशुराम मन में सोचने लगे—अहो ! यहाँ तो बात ही और है। महिमा और सौजन्य निष्कारण ही हैं। उत्साह, क्रोध, गंभीरता और पौरुष साथ ही साथ हैं। फिर प्रकट कहा—हाँ, राम ! यही बात है। यही गुरुजी का प्रिय परशु है।

सीता की सखियों ने आपस में कहा—कुछ तो शांत हुए।

राम—भगवन् ! इसी से आपके पराक्रम की चर्चा आकाश-पाताल में व्याप्त है और आपको परशुराम की पदवी मिली है।

यह सुनकर सीता की सखियों ने आपस में कहा—राजकुमार तो गुरु-जनों से मनोहर मंत्रणा करने में चतुर हैं।

परशुराम पर भी प्रभाव पड़े बिना न रहा। उन्होंने कहा—हे राम ! सद्भाव के अनुकूल नयनों की प्रियता को धारण करता हुआ तू अचिंत्य गुणों से रमणीय है। तू सब

प्रकार मेरे मन को हर रहा है। सच कहता हूँ, तेरा आलिंगन करने की इच्छा होती है।

यह सुनकर सीता की सखियाँ प्रसन्न होकर सीता से बोलीं—राजकुमारी! राम के भाग्य को देखो। तुम सदा लज्जा के कारण पराङ्मुख होकर अपने को ठगती हो।

सीता आँसू भरकर, दीर्घ साँस लेकर, चुप रहीं।

राम—भगवन्! आलिंगन तो मेरे दमन-कार्य के विपरीत होगा।

सीता—धीरता और स्निग्धता सहित इनकी विनय उदारता से शोभित है।

अब तो परशुराम पर तीव्र प्रभाव पड़ा। वे सोचने लगे कि दूसरों के गुणोत्कर्ष के जानने पर भी सौजन्य से इस राजकुमार का अंतःकरण पवित्र है। मंद-बुद्धिवालों से इसका महा-गर्व विनय के कारण दुर्ज्ञेय है; निपुण बुद्धिवालों द्वारा ग्राह्य है। पता नहीं चलता, यह अलौकिक चरित्रवाला वीर बालक कौन है। यह असीम महत्ता से उत्कृष्ट है। इसका शरीर लोकों को अभय-दान की पुण्य-राशि के योग्य है। इसका शरीर लक्ष्मी, तेज, धर्म, मान, विजय और पराक्रम आदि सात्त्विक गुणों से उज्ज्वल हो रहा है। अथवा लोकों की रक्षा के लिए धनुर्वेद ने शरीर धारण किया है; वेद की रक्षा के लिए क्षत्रिय-धर्म-युक्त शरीर प्राप्त किया है। शक्तियों का समुदाय अथवा गुणों का समूह प्रकट होकर उपस्थित है। इस प्रकार

अधिक समय तक सोचकर परशुराम ने कहा—राजकुमारी को भीतर ले जाओ।

इतने में धनुष लिए सीरध्वज जनक और शतानंद वहाँ आते दिखाई पड़े। उन्हें देखकर सखियों को धीरज बँधा। संग्राम-लक्ष्मी से, राम की विजय के लिए, हाथ जोड़कर प्रार्थना करके सखियों के साथ सीता भीतर चली गई।

परशुराम—है तो यह सदाचारी परंतु तब भी क्षत्रिय है। इस कारण क्रोध आता है।

राम—आप इतनी करुणा क्यों दिखाते हैं?

परशुराम—कुछ नहीं। तुमसे भेंट हो जाने से चित्त में सुख अधिक उमड़ रहा है। तुम्हें देखने से नेत्रों को आनंद हो रहा है। नया कंकण पहने हुए तुम मुझे प्रिय लग रहे हो। पर मेरे गुरु की अवज्ञा करने से तुम वध्य हो। सो मुझे पहले से ही दुःख हो रहा है।

राम—मुझ पर आपकी बड़ी दया जान पड़ती है।

परशुराम—क्या तू बच गया? ठहर, तुझ अमृत-पूर्ण मेघ के समान स्निग्ध शरीरवाले के कंठ पर मेरा परशु गिरता है।

राम ने फिर कहा—सचमुच आपको मुझ पर दया आ रही है।

परशुराम—ओह! मुझी पर भौंहें चढ़ा रहा है! अरे क्षत्रिय-युवक! तू बच्चा है। तेरी नई नन्हीं वहू है। इस कारण

मुझे अपूर्व दुःख होता है। वैसे यह तो तूने सुना होगा कि मैंने अपनी माता का सिर काट डाला था। और क्षत्रिय-कुलों पर क्रोध के कारण, रे मूढ़! मैंने उत्पन्न होनेवाले बालकों को भी टुकड़े-टुकड़े कर दिया था; सब राजवंशों का इक्कीस बार नाश किया था। उनके रक्त से सरोवर भर गए थे। उसमें स्नान और पितृ-तर्पण के महासुख से मैंने क्रोधाग्नि को शांत किया था। भला मेरे स्वभाव को कौन नहीं जानता?

राम—नृशंसता तो पुरुष का दोष है; उसकी श्लाघा कैसी?

परशुराम रुष्ट होकर बोले—अरे क्षत्रिय बालक! तू बड़ा धृष्ट है। धनुष खींच और बाण छोड़। मैं चाहता हूँ कि तू पहले प्रहार कर। चमकीले परशु से मेरे प्रहार करने पर तो तुरंत ही तेरा शरीर रुंड-मात्र रह जायगा।

इसी समय वहाँ जनक, शतानंद, वशिष्ठ और विश्वामित्र आ पहुँचे। वे परशुराम से बातचीत करने लगे। उन्होंने राम को कंकण खोलने के लिए अंतःपुर में जाने को कहा। परशुराम से आज्ञा लेकर रामचंद्र अंतःपुर में गए।

वशिष्ठ और विश्वामित्र आदि सब परशुराम को समझाने लगे। वशिष्ठ और विश्वामित्र ने कहा—हम उस वीर के पुरोहित हैं जो यज्ञ आदि के शत्रुओं का दमन करने से इंद्र का अति-प्रिय मित्र है तथा जिससे पृथिवी वैसे ही उज्ज्वल

है जैसे इंद्र के वज्र से आकाश। अधिक क्या कहें, यह सूर्य-वंशी वृद्ध राजा पुत्र-प्रेम के कारण तुमसे अभय माँगता है। इन निरर्थक झगड़ों से तुम्हें क्या मतलब ?

परशुराम—यदि राम इतना पराक्रमी न होता तो मैं क्षमा कर देता। आप ही देखें, बालक होकर भी राम अद्भुत कर्मों से प्रसिद्ध हो गया है। फिर गुरु के धनुर्भंग-रूप कठिन तिरस्कार को सहकर भी भार्गव कैसे मौन बैठा रहे? अकारण अल्प-मात्र भी निंदा पाने पर, चारों ओर निरंतर यश एकत्र करने में लगे हुए, उत्तम पुरुषों की मलिन जन-श्रुति विस्तार को प्राप्त हुई किसी प्रकार भी नहीं हटती।

वशिष्ठ—वत्स ! जीवन-पर्यंत इस अस्त्र-धारण करने की प्रवृत्ति से क्या लाभ ? जामदग्न्य ! तुम श्रोत्रिय हो। पवित्र पथ का अनुगमन करो। तुम तपस्वी हो। मित्रता, दुःख में करुणा, सुख में प्रसन्नता और पापियों पर उपेक्षा, इन चारों मनोहर गुणों का अभ्यास करो। इस परशु का त्याग कर दो। देखो, यह ऋषियों की सभा, वृद्ध राजा युधाजित्, मंत्रियों सहित राजा दशरथ, वृद्ध लोमपाद और वेदज्ञ विदेह-राज सभी तुमसे अभय-दान की याचना करते हैं।

परशुराम—शत्रु का नाश किए बिना गुरु महादेव को मैं कैसे मुँह दिखाऊँगा ?

विश्वामित्र—यदि गुरु की इतनी चिंता है तो मेरा भी कुछ ध्यान करो। पहले भृगु, वशिष्ठ और अंगिरा ये तीन

ऋषि हुए थे। तुम भृगु-वंशी हो, वशिष्ठ अंगिरा के वंश में उत्पन्न हैं। इस प्रकार तुम दोनों परस्पर संबंधी हो।

परंतु परशुराम की बुद्धि में कुछ न आता था। वे कहने लगे—पूज्य जनों के वचन न मानने के अपराध का मैं प्रायश्चित्त कर लूँगा, परंतु शस्त्र-ग्रहण के महा-व्रत को दूषित न करूँगा। स्वभाव से ही शस्त्र-ग्रहण मुझे मुक्ति से अधिक प्रिय है। आप मेरी इस कर्कश भुजा को देखें जो प्रत्यंचा की रगड़ से चिह्नित है।

वशिष्ठ ने मन ही मन कहा कि यद्यपि यह गुणों से महान् है पर है अति प्रचंड। दर्प ही दिखा रहा है।

विश्वामित्र ने फिर समझाते हुए कहा—वत्स! सुनो, अकेले कार्त्तवीर्य के गाय हर लेने के अपराध से कुपित होकर तुमने पहले इक्कीस बार क्षत्रियों का नाश किया था। तब तुम्हारे गुरु-जनों तथा च्यवन आदि ऋषियों ने तुम्हें शांत किया था। इतना क्रोध मत करो।

परशुराम—पितृ-वध से प्रयुक्त हुआ मैं क्षत्रियों के संहार से हट गया था। च्यवन आदि के वाक्यों से मैंने क्रोधाग्नि और परशु को रोक लिया था परंतु शिव-धनुष तोड़कर राम ने मुझे अब फिर बल-पूर्वक उत्तेजित किया है। चपल राम का सिर काटकर मैं फिर वन को चला जाऊँगा। दशरथ और जनक स्वस्थ रहें। फिर ऐसा अत्याचार न हो।

ये वचन सुनकर शतानंद को क्रोध आ गया। उन्होंने

कहा—किसकी शक्ति है कि मेरे अति-प्रिय राजर्षि यजमान विदेह-राज की छाया को भी छू सके? और फिर जामाता को कौन छुएगा? यदि मेरा यजमान किसी से अपमानित हो तो हमारे आंगिरस कुल को धिक्कार है।

विश्वामित्र—धन्य गौतम! धन्य! तुम जैसे पुरोहित से राजा जनक कृतकृत्य हैं।

परशुराम—गौतम! अनेक क्षत्रियों के तुम्हारे जैसे पुरोहित ब्रह्म-तेज से कूदते थे। किंतु मेरे अलौकिक तेज के सामने उनका साधारण बल शांत हो गया।

शतानंद को अब असीम क्रोध चढ़ आया। उन्होंने कहा—अरे बैल! निरपराध क्षत्रियों के नाशक, महापापी, अशिष्ट, विकृत चेष्टावाले, बीभत्स-कर्मी, पाषंडी, शस्त्रोप-जीवी, धर्म-त्यागी! मेरे सामने भी तू गर्व करता है? तू अवश्य नीच ब्राह्मण है।

परशुराम—रे दुष्ट स्वस्ति-वाचन करने वाले! क्षुद्र राजा के पुरोहित! तेरे कहने से मैं शस्त्रोपजीवी हूँ!

अब शतानंद ने इस भृगु-वंश के दूषण-रूप परशुराम को शाप देना चाहा। परंतु वशिष्ठ ने कठिनता से उन्हें शांत कर बाहर भेजा।

परशुराम तब भी बोलते रहे। कहने लगे—क्षत्रिय के आश्रित बालक की गर्जना देखो। इससे क्या? अरे दशरथ और जनक की दया पर जीनेवाले ब्राह्मण! तेरे कुल में जिसे

तप या शस्त्र का अभिमान हो वह मेरे भीषण तेज को अपने दर्प से नीचा दिखावे। मैं पृथिवी को राम, दशरथ और सीरध्वज से रहित करके शांत होऊँगा।

इस समय जनक ने आकर परशुराम की भर्त्सना करते हुए कहा—भार्गव! तुम अधिक दर्प दिखा रहे हो। तुम शत्रु-नाश कर चुके हो। अब वृद्धावस्था में यज्ञ आदि कार्य करते हुए परम-ब्रह्म-स्वरूप को प्राप्त करो। मेरा स्वाभाविक क्षात्र तेज यद्यपि शांत हो गया है तथापि वह पुनः प्रदीप्त होकर मुझे धनुष धारण करने को विवश करता है।

परशुराम—आप वेदज्ञ, वृद्ध और धार्मिक हैं; फिर वेदांत के मर्मज्ञ और याज्ञवल्क्य के शिष्य भी हैं। इस कारण यदि मैंने विनय-पूर्वक आपकी सेवा की है तो क्रोध के कारण, भय का विचार किए बिना, आप क्यों कठोर वचन बोलते हैं?

जनक—अपमान करते जा रहे हो और बताते विनय हो! मुझे धनुष उठाना ही पड़ेगा। और कोई उपाय नहीं।

परशुराम ने क्रोध और हँसी के साथ कहा—क्या कहा? क्या कहा? धनुष! यह तो आश्चर्य है! शत्रुओं के सिर काटने से तीक्ष्ण हुआ मेरा भी यह परशु है।

अब तो जनक धनुष पकड़ने को विवश हो गए। परंतु इसी समय वहाँ दशरथ आ पहुँचे। उन्होंने ब्राह्मण पर अस्त्र चलाने से जनक को रोका।

जनक—महाराज दशरथ! अपने तिरस्कार की मुझे

चिंता नहीं है। ब्राह्मण के कटु भाषण पर मुझे दुःख नहीं है। परंतु यह पापात्मा ब्रह्मचारी, राम के अमंगल के लिए, बढ़-बढ़कर बातें मार रहा है। इसे कैसे क्षमा किया जाय?

परशुराम—आः दुरात्मा, नीच क्षत्रिय! मुझे पापात्मा कहकर तिरस्कृत करता है। ठहर! परशु से तेरे टुकड़े-टुकड़े करता हूँ।

महाराज दशरथ ने अब जनक और परशुराम के बीच आकर कहा—भार्गव! सुनो। ये राजा हमसे भी श्रेष्ठ हैं।

परशुराम—आप तो स्वामी की नाईं मुझे डाँट रहे हैं। स्मरण रखिए, मैं स्वभाव से सदा स्वतंत्र रहा हूँ और आप क्षत्रिय हैं।

दशरथ—इसी कारण तो हम तुम्हें क्षमा न करेंगे। उद्दंड पुरुषों के दमन करने का क्षत्रियों को अधिकार है। तुम उद्दंड हो, हम तुम्हें सुधारनेवाले क्षत्रिय हैं। शीघ्र शांत हो जाओ, अन्यथा दंड पाओगे। कहाँ तो ब्राह्मण का शांत स्वभाव और कहाँ क्षत्रिय-धर्म के ये अस्त्र!

परशुराम ने हँसकर कहा—चिरकाल के पश्चात् परशुराम को सुधारनेवाला स्वामी मिला है! मुझे सुधारनेवाले तो केवल शिव ही हैं। सब क्षत्रियों के संहार करनेवाले को क्षत्रिय कैसे सुधार सकता है?

इतने में राम भी वहाँ आ गए। अब तो युद्ध अनिवार्य था। परशुराम ने राम को ललकारा और कहा—राजकुमार! आओ, परशुराम को जीतो। फिर हँसकर कहा—जीत न सकोगे। रेणुका का पुत्र तुम्हारा काल है।

कुणाल की उदारता

[श्रीयुत डा० कैलाशनाथ भटनागर एम. ए., पी-एच. डी.]

स्थान—पाटलिपुत्र का जंतु-गृह

समय—सायंकाल

[दो चांडालों के साथ तिष्यरक्षिता का प्रवेश]

एक चांडाल—जल्दी चलो, महारानी ! जल्दी चलो ।

तिष्यरक्षिता—मेरा पैर नहीं उठता । चलूँ कैसे ? हाय ! हारानी कहलाऊँ और ऐसा दंड पाऊँ । धिक्कार है ऐसी महारानी पर !

दूसरा चांडाल—अब सूझा धिक्कार ! पहले सूझ कहाँ सो रही थी ?

पहला चांडाल—अरे चंडसेन ! बातों में मत लगो ! आगे बढ़ो । समय बीत जायगा तो महाराज क्रोध करेंगे ।

चंडसेन—अरे रुद्रसेन ! विलंब करने से सिंह की भूख और भड़क उठेगी । इसमें क्रोध कैसा ? अच्छा, लो बढ़ो, बढ़ो । चलते चलो ।

(सिंह की गर्जना सुनाई देती है)

तिष्यरक्षिता—(काँपकर) हाय ! मैं मरी । (दीन-भाव से) भगवन् ! एक बार रक्षा करो । एक बार बचा लो ।

रुद्रसेन—महारानी ! व्याकुल क्यों होती है ? क्या भगवान् ने अपने शरीर द्वारा भूख से दुखी एक सिंह की प्राण-रक्षा नहीं की थी ? अब भगवान् का स्मरण कीजिए और उनकी इस घटना पर अनुष्ठान कीजिए । संसार को दिखा दीजिए कि महारानी तिष्यरक्षिता भी भूख से व्याकुल सिंह की प्राण-रक्षा करने में तनिक भी संकोच नहीं करतीं ।

(चंडसेन की ओर देखकर मुसकराता है)

चंडसेन—हाँ, बिलकुल ठीक है ।

तिष्यरक्षिता—(रोती हुई) हाय ! सिंह की गर्जना से मेरा हृदय दहला जाता है । उसे देखकर मैं जीवित न रह सकूँगी । मेरा भयभीत हृदय दो टूक हो जायगा ।

रुद्रसेन—हाँ, बस, हृदय दो टूक होते समय झट से कह दीजिएगा "नमो बुद्धाय" । तब कल्याण होगा । सिंह आशीर्वाद देगा ।

चंडसेन—और इनका जीवन परोपकारार्थ सिद्ध होगा । कल्याण के काम में विलंब करना ठीक नहीं । जल्दी चलो ।

तिष्यरक्षिता—हाय, ये दोनों कैसे पाषाण-हृदय हैं ! मेरे तो प्राण जाने को हैं, इन्हें हँसी-ठट्ठा सूझ रहा है । चांडाल का हृदय भगवान् ने कैसा बनाया है !

चंडसेन—महारानी! यह अपने हृदय से पूछिए। माता होते हुए पुत्र के नेत्र निकलवा लेना क्या कम कठोर काम है? जिस पदार्थ से आपका हृदय रचा गया है, उसका कुछ ही अंश हमारे हृदय में आया है। क्यों भाई रुद्रसेन! ठीक है?

रुद्रसेन—हाँ, बिल्कुल ठीक।

(सिंह इन्हें पास आया देखकर तीव्र गर्जना करता है)

तिष्यरक्षिता—(काँपकर) हाय, कोई बचाए! कोई बचाए!

(किसी का लाठी टेक कर चलने का शब्द सुनाई देता है)

रुद्रसेन—(उधर देखकर) कोई लाठी के सहारे इधर ही आ रहा है। अरे! ये तो वही हैं!

(लाठी के सहारे चलते हुए कुमार कुणाल का प्रवेश)

कुणाल—माता! मैं आ गया। निश्चिंत हो जाओ।

तिष्यरक्षिता—(देखकर साश्चर्य) कौन? कुणाल? कुणाल! तुम मेरी रक्षा करोगे? नहीं, कभी नहीं। तुम मेरी हँसी करने आए हो। घाव पर नमक छिड़कने आए हो।

कुणाल—(आगे बढ़कर पैर छूकर) माता! मेरे मन में आपके प्रति तनिक भी द्वेष नहीं है। यदि अज्ञान-वश द्वेष का कुछ अंकुर उत्पन्न भी हुआ होगा तो वह, नेत्र-हीन हो जाने पर, भगवद्भक्ति में तल्लीन होने के कारण, ज्ञान द्वारा, नष्ट हो गया होगा। आपने मेरा ज्ञान-चक्षु खोलकर मेरा उपकार ही किया है। आज इसी का प्रमाण देता हूँ।

(तिष्यरक्षिता को पीछे छोड़कर सिंह की गर्जना की ओर
जाते हुए कुणाल आगे बढ़ते हैं। गर्जना और
भी तीव्र हो जाती है। सहसा सम्राट्
अशोक आते दिखाई देते है।)

अशोक—कुणाल! कुणाल !! ठहरो, ठहरो। तुम्हारा यह हठ ठीक नहीं।

(सम्राट् पास पहुँचकर कुणाल के कँधे पर सप्रेम हाथ रखते हैं)

कुणाल—(विनीत भाव से) पिता जी ! आज्ञोल्लंघन का अपराध क्षमा करें। मेरा अंतिम प्रणाम स्वीकार हो। (लपककर आगे बढ़ना चाहते है, सम्राट् अशोक पकड़ लेते हैं)

अशोक—कुणाल! दंड क्षमा नहीं हो सकता। न्याय पर कलंक नहीं लग सकता।

कुणाल—पिताजी! यदि माता तिष्यरक्षिता का कार्य अनार्य-जनोचित हुआ है आपका तो आर्योचित होना चाहिए। स्त्री का वध न करें। महात्मा सुगत ने तितिक्षा का महान् माहात्म्य कहा है।

अशोक—तुम्हारा स्वभाव विचित्र है। न्याय का पालन करने में तुम दंड-विधान का विरोध करते हो। न्याय पर कलंक लगाकर तितिक्षा-मार्ग का अनुसरण करना चाहते हो। कुमार! यह सर्वथा भ्रम है। अपराधी को दंड देना राजा का कर्म है।

कुणाल—पिताजी! मैं यह अपयश सहन नहीं कर सकता कि पुत्र के कारण माता को प्राण-दंड हुआ। आप

यह समझें कि युद्ध में इसके नेत्र जाते रहे। तीरों ने इसके नेत्रों को अपना लक्ष्य बना लिया।

अशोक—कुमार! समझने की बात और है तथा वास्तविक बात और। चांडालो! विलंब मत करो बढ़ो, बढ़ो।

(चाडाल तिष्यरक्षिता को लेकर आगे बढ़ते है।
कुणाल उधर जल्दी से जाते हैं और
ठोकर खाकर गिर पड़ते हैं।)

अशोक—(कुणाल को जल्दी से उधर जाते देखकर) चांडालो! ठहरो। अरे, अभी पिंजड़ा मत खोलो। (आगे बढ़कर नीचे गिरे कुणाल को पकड़ लेते हैं।)

कुणाल—(खड़े होकर, विनीत-भाव से हाथ जोड़कर) पूज्य पिताजी! यदि आप माता को क्षमा न करेंगे तो मेरा भी यहीं अंत हो जायगा। यदि आप मुझे जीवित रखना चाहते हैं, तो मेरी प्रार्थना स्वीकार कीजिए। माता तिष्यरक्षिता को मुक्त कर दीजिए।

अशोक—पुत्र! मैं वृद्ध हूँ। तुम्हारा वियोग सहन नहीं कर सकता।

कुणाल—तो मेरी प्रार्थना स्वीकार कीजिए।

अशोक—(सोचकर, विवशता से) तथास्तु।

कुणाल—(सहर्ष) चांडालो! हट जाओ। माता! निर्भय हो जाओ।

(चांडाल पीछे हट जाते है।)

तिष्यरक्षिता—(नम्र भाव से) कुमार ! मैं घोर अपराधिनी हूँ। तुमने मुझ पर दया दिखाई है। मेरे शुष्क हृदय में दया-भाव का स्रोत बहाया है। मैंने सारे जीवन में जो शिक्षा ग्रहण न की थी, वह आज पा ली। धन्य हो तुम ! धन्य है तुम्हारी पवित्र आत्मा! मुझे क्षमा करो। (चरण-स्पर्श करती है)

कुणाल—(हाथ हटा कर) माता ! यह क्या ? आप अब पिछली बातें भूल जायँ।

(नेपथ्य में)

मैं स्वामि-देव के लिए चिंतित हूँ। वे अवश्य जंतु-गृह पहुँच गए होंगे।

(सहसा कांचनमाला का प्रवेश)

कांचनमाला—(कुणाल को देखकर) स्वामि-देव!

कुणाल—पिताजी ने मेरी प्रार्थना स्वीकार कर ली। आनंद-मंगल मनाओ।

कांचनमाला—(सहर्ष) यह बड़ा शुभ अवसर है।

तिष्यरक्षिता—(दीन-भाव से) कांचनमाला ! मेरा अपराध क्षमा करो। मैं अज्ञान-वश भ्रम-जाल में फँस रही थी।

कांचनमाला—माताजी ! आप इसकी कुछ चिंता न करें। सारा संसार ही भ्रम-जाल में फँसा हुआ है।

तिष्यरक्षिता—अब मेरे अज्ञान का आवरण दूर हो गया। मुझे अपनी करनी पर पश्चात्ताप हो रहा है। मैं पापिनी हूँ।

भगवान् मुझे सद्बुद्धि दें ? (हाथ जोड़कर, आकाश की ओर देखती हुई) भगवन् ! आपने आम्रपाली जैसी नारी का उद्धार किया था। क्या मेरे ऊपर दया-दृष्टि न कीजिएगा ? आपने भूख से तड़पते पुरुष के लिए अपने आपको शशि-रूप में जलती हुई आग में फेंक दिया था। आपने कई बार घोषणा की है कि 'जो कोई मुझसे मनोरथ-पूर्ति की इच्छा करेगा, उसके प्रदान करने में मैं तनिक विलंब न करूँगा'। अतएव आप मेरा भी मनोरथ पूर्ण करें। भगवान् सक्र ! आप ही मेरी प्रार्थना स्वीकार करें। आपने राजा सिवि के नेत्र पुनः प्रकट कर दिए थे। क्या कुमार कुणाल पर आप कृपा न करेंगे ? आपसे मैं यही भिक्षा माँगती हूँ कि कुमार को नेत्र प्राप्त हो जायँ।

(महात्मा यश का भिक्षुओं सहित प्रवेश; सब उनका यथोचित सत्कार करते हैं।)

अशोक—महात्माजी ! मेरे ऊपर आपकी सदा कृपा-दृष्टि रहती है। आज मेरा मनोरथ पूर्ण करके मुझे शांत कीजिए। मेरे प्रिय कुमार को दृष्टि प्रदान कर हम पर अनुग्रह कीजिए।

यश—सम्राट् अशोक ! मुझे आपका मनोरथ पहले से ही विदित है। मेरी स्वयं यही अभिलाषा है। इसी लिए मैं यहाँ आया हूँ। आपको स्मरण होगा, मैंने एक बार आपको कहा था कि कुमार कुणाल को राज-कार्य का अभ्यास कराइए।

अशोक—(सोचकर) हाँ, मुझे स्मरण है।

यश—उस दिन मेरे मन में सहसा एक ऐसा विचार उत्पन्न हुआ, जिससे मैंने समझा कि कुमार के नेत्र शीघ्र नष्ट हो जायँगे। तब मैंने कुमार से कहा भी था कि नेत्र अनित्य हैं, चंचल है, सहस्रों दुःखों के वासस्थान हैं। मैंने तब से कुमार के कल्याण के लिए सदैव प्रार्थना की है। भगवान् ने मुझे दर्शन देकर कहा है—"कुमार की कुछ चिंता मत करो। उसका हित हमारे हाथ है।" अतएव उनके वचन पर विश्वास रखो। कल्याण होगा।

अशोक—हमें भगवान् के वचनों पर पूर्ण विश्वास है, आप पर पूर्ण श्रद्धा है। आपकी कृपा से हमारी सब अभिलाषाएँ सफल होती हैं।

(आकाश से पुष्प-वृष्टि होती है। सब विस्मित हो जाते है।
कुमार अपने सिर पर कुछ गिरता देखकर टटोलते है,
और कुछ पुष्प लेकर सूँघते हैं।)

कुणाल—(सानंद) कैसी सुगंध है! पुष्प कितने कोमल हैं। इनके स्पर्श से आँखें कितनी शीतल हो जायँगी! (कुमार आँखों पर पुष्पों को, लगाते हैं, नेत्र-ज्योति प्रकट हो जाती है। साश्चर्य, गुरु-जनों को देखकर) आज गुरु-जनों के दर्शन पाकर मेरा हृदय पुलकित हो गया।

दर्शकजन—(कुमार को दृष्टि प्राप्त होते देखकर) धन्य हो भगवन्! धन्य हो!

यश—भगवान् की महिमा अपरंपार है।

अशोक—भगवान् अपने भक्तों की परीक्षा लेते हैं। मैं धन्य हूँ कि मेरा पुत्र देव-परीक्षा में सफल हुआ। आओ पुत्र! मेरे हृदय को शांत करो।

(कुमार का आलिंगन करते है। इसके पश्चात् कुमार सब गुरु-जनों को प्रणाम करते और आशीर्वाद पाते हैं।)

यश—कुमार कुणाल! तुम्हारा यह उच्च आदर्श स्वर्णाक्षरों में लिखा रहेगा। तुम्हारा जीवन जनता के लिए एक उत्तम पथ-प्रदर्शक होगा। तुम्हारी धवल यश-पताका सदैव फहराती रहेगी। नमो बुद्धाय! नमो बुद्धाय!!

[पटाक्षेप]

———

मिठाईवाला

[श्रीयुत भगवतीप्रसाद वाजपेयी]

[१]

बहुत ही मीठे स्वरों के साथ वह गलियों में घूमता हुआ कहता—"बच्चों को बहलानेवाला, खिलौनेवाला।"

इस अधूरे वाक्य को वह ऐसे विचित्र, किंतु मादक-मधुर ढंग से गाकर कहता कि सुननेवाले एक बार अस्थिर हो उठते। उसके स्नेहाभिषिक्त कंठ से फूटा हुआ उपर्युक्त गान सुनकर निकट के मकानों में हलचल मच जाती। छोटे-छोटे बच्चों को अपनी गोद में लिए हुए युवतियाँ चिकों को उठाकर छज्जों पर से नीचे झाँकने लगतीं। गलियों और उनके अंतर्व्यापी छोटे-छोटे उद्यानों में खेलते और इठलाते हुए बच्चों का झुंड उसे घेर लेता, और तब वह खिलौनेवाला वहीं कहीं बैठकर खिलौने की पेटी खोल देता।

बच्चे खिलौने देखकर पुलकित हो उठते। वे पैसे लाकर खिलौनों का मोल-भाव करने लगते। पूछते—"इछका दाम

क्या है, ऑल इछका, ऑल इछका?" खिलौनेवाला बच्चों को देखता, उनकी नन्ही-नन्ही उँगलियों और हथेलियों से पैसे ले लेता, और बच्चों की इच्छानुसार उन्हें खिलौने दे देता। खिलौने लेकर फिर बच्चे उछलने-कूदने लगते और तब फिर खिलौने-वाला उसी प्रकार गाकर कहता—"बच्चों को बहलानेवाला, खिलौनेवाला।" सागर की हिलोर की भाँति उसका यह मादक गान गली-भर के मकानों में, इस ओर से उस ओर तक, लहराता हुआ पहुँचता, और खिलौनेवाला आगे बढ़ जाता।

राय विजयबहादुर के बच्चे भी एक दिन खिलौने लेकर घर आए। वे दो बच्चे थे—चुन्नू और मुन्नू। चुन्नू जब खिलौना ले आया, तो बोला—"मेला घोला कैछा छुंदल ऐ!"

मुन्नू बोला—"ऑल देखो, मेला आती कैछा छुंदल ऐ!"

दोनों अपने हाथी-घोड़े लेकर घर-भर में उछलने लगे। इन बच्चों की मा, रोहिणी कुछ देर तक खड़े-खड़े उनका खेल निरखती रही। अंत में दोनों बच्चों को बुलाकर उसने उनसे पूछा—"अरे ओ चुन्नू-मुन्नू, ये खिलौने तुमने कितने में लिए हैं?"

मुन्नू—'दो पैछे में। थिलौनेवाला दे गया ऐ।"

रोहिणी सोचने लगी—इतने सस्ते कैसे दे गया है? कैसे दे गया है, यह तो वही जाने। लेकिन दे तो गया ही है, इतना तो निश्चय है।

एक ज़रा-सी बात ठहरी। रोहिणी अपने काम में लग गई। फिर कभी उसे इस पर विचार करने की आवश्यकता ही भला क्यों पड़ती।

[२]

छः महीने बाद।

नगर-भर में दो-ही-चार दिनों में एक मुरलीवाले के आने का समाचार फैल गया। लोग कहने लगे—"भई वाह! मुरली बजाने में वह एक ही उस्ताद है। मुरली बजाकर, गाना सुनाकर वह मुरली बेचता भी है, सो भी दो-दो पैसे। भला, इसमें उसे क्या मिलता होगा! मेहनत भी तो न आती होगी।'

एक व्यक्ति ने पूछ दिया—"कैसा है वह मुरलीवाला, मैंने तो उसे नहीं देखा?"

उत्तर मिला—"उम्र तो उसकी अभी अधिक न होगी, यही तीस-बत्तीस का होगा। दुबला-पतला गोरा युवक है, बीकानेरी रंगीन साफ़ा बाँधता है।"

"वही तो नहीं, जो पहले खिलौने बेचा करता था?"

"क्या वह पहले खिलौने भी बेचता था?"

"हाँ, जो आकार-प्रकार तुमने बतलाया, उसी प्रकार का वह भी था।"

"तो वही होगा। पर भई, है वह एक ही उस्ताद।"

प्रतिदिन इसी प्रकार उस मुरलीवाले की चर्चा होती। प्रतिदिन नगर की प्रत्येक गली में उसका मादक, मृदुल स्वर

सुनाई पड़ता—"बच्चों को बहलानेवाला, मुरलियावाला!"

रोहिणी ने भी मुरलीवाले का यह स्वर सुना। तुरंत ही उसे खिलौनेवाले का स्मरण हो आया। उसने मन-ही-मन कहा—खिलौनेवाला भी इसी तरह गा-गाकर खिलौने बेचा करता था।

रोहिणी उठकर अपने पति विजय बाबू के पास गई, बोली—"ज़रा उस मुरलीवाले को बुलाओ तो, चुन्नू-मुन्नू के लिए ले लूँ। क्या जाने यह फिर इधर आए, न आए। वे भी, जान पड़ता है, पार्क में खेलने निकल गए हैं।"

विजय बाबू एक समाचार-पत्र पढ़ रहे थे। उसी तरह उसे लिए हुए वे दरवाज़े पर आकर मुरलीवाले से बोले—"क्यों भई, किस तरह देते हो मुरली?"

किसी की टोपी गली में गिर पड़ी। किसी का जूता पार्क में ही छूट गया, और किसी की सोथनी (पाजामा) ही ढीली होकर लटक आई। इस तरह दौड़ते-हाँपते हुए बच्चों का झुंड आ पहुँचा। एक स्वर से सब बोल उठे—"अम बी लेंदे मुल्ली, औल अम बी लेंदे मुल्ली।"

मुरलीवाला हर्ष-गद्गद हो उठा। बोला—"सबको देंगे भैया। लेकिन ज़रा रुको, ज़रा ठहरो, एक-एक को लेने दो। अभी इतनी जल्दी हम कहीं लौट थोड़े ही जायँगे। बेचने तो आए ही हैं, और हैं भी इस समय मेरे पास एक-दो नहीं, पूरी सत्तावन।...हाँ बाबूजी, क्या पूछा था आपने, कितने में

दीं ? ..दीं तो वैसे तीन-तीन पैसे के हिसाब से हैं, पर आपको दो-दो पैसे में ही दे दूँगा।"

विजय बाबू भीतर-बाहर दोनों रूपों में मुस्किरा दिए। मन-ही-मन कहने लगे—कैसा ठग है! देता सबको इसी भाव से है, पर मुझ पर उलटा एहसान लाद रहा है। फिर बोले—"तुम लोगों की झूठ बोलने की आदत ही होती है। देते होंगे सभी को दो-दो पैसे में, पर एहसान का बोझा मेरे ही ऊपर लाद रहे हो!"

मुरलीवाला एकदम अप्रतिभ हो उठा। बोला—'आपको क्या पता बाबूजी कि इनकी असली लागत क्या है। यह तो ग्राहकों का दस्तूर होता है कि दूकानदार चाहे हानि ही उठाकर चीज़ क्यों न बेचे, पर ग्राहक यही समझते हैं—दूकानदार मुझे लूट रहा है ।...आप भला काहे को विश्वास करेंगे। लेकिन सच पूछिए, तो बाबूजी, इनका असली दाम दो ही पैसा है। आप कहीं से भी दो-दो पैसे में ये मुरलियाँ नहीं पा सकते। मैंने तो पूरी एक हज़ार बनवाई थी, तब मुझे इस भाव पड़ी हैं।"

विजय बाबू बोले—"अच्छा-अच्छा, मुझे ज़्यादा वक्त नहीं; जल्दी से दो निकाल दो।"

दो मुरलियाँ लेकर विजय बाबू फिर मकान के भीतर पहुँच गए।

मुरलीवाला देर तक उन बच्चों के झुंड में मुरलियाँ बेचता

रहा। उसके पास कई रंग की मुरलियाँ थीं। बच्चे जो रंग पसंद करते, मुरलीवाला उसी रंग की मुरली निकाल देता।

"यह बड़ी अच्छी मुरली है, तुम यही ले लो बाबू, राजा बाबू, तुम्हारे लायक तो बस यह है।...हाँ, भैये, तुमको वही देंगे। ये लो।...तुमको वैसी न चाहिए, ऐसी चाहिए, यह नारंगी रंग की, अच्छा, यही लो।...पैसे नहीं हैं? अच्छा, अम्मा से पैसे ले आओ। मैं अभी बैठा हुँ। तुम ले आए पैसे?...अच्छा, ये लो, तुम्हारे लिए मैंने पहले ही से यह निकाल रक्खी थी।...तुमको पैसे नहीं मिले! तुमने अम्मा से ठीक तरह से माँगे न होंगे। धोती पकड़कर, पैरों में लिपटकर, अम्मा से पैसे मांगे जाते हैं बाबू। हाँ, फिर आओ। अब की बार मिल जायँगे।...दुअन्नी है? तो क्या हुआ, ये दो पैसे वापस लो। ठीक हो गया न हिसाब?...मिल गए पैसे! देखो, मैंने कैसी तरकीब बताई! अच्छा, अब तो किसी को नहीं लेना है? सब ले चुके? तुम्हारी मा के पास पैसे नहीं हैं? अच्छा, तुम भी यह लो। अच्छा, तो अब मैं चलता हूँ।"

इस तरह मुरलीवाला फिर आगे बढ़ गया।

[३]

आज अपने मकान में बैठी हुई रोहिणी मुरलीवाले की सारी बातें सुनती रही। आज भी उसने अनुभव किया, बच्चों के साथ इतने प्यार से बातें करनेवाला फेरीवाला पहले कभी नहीं आया। फिर वह सौदा भी कैसा सस्ता बेचता है। भला

आदमी जान पड़ता है। समय की बात है, जो बेचारा इस तरह मारा-मारा फिरता है। पेट जो न कराए, सो थोड़ा।

इसी समय मुरलीवाले का क्षीण स्वर दूसरी निकट की गली से सुनाई पड़ा—"बच्चों को बहलानेवाला, मुरलियावाला!"

रोहिणी इसे सुनकर मन ही-मन कहने लगी—और स्वर कैसा मीठा है इसका!

बहुत दिनों तक रोहिणी को मुरलीवाले का वह मीठा स्वर और उसकी बच्चों के प्रति वे स्नेह-सिक्त बातें याद आती रहीं। महीने-के-महीने आए और चले गए। पर मुरलीवाला न आया। धीरे-धीरे उसकी स्मृति भी क्षीण हो गई।

[४]

आठ मास बाद—

सरदी के दिन थे। रोहिणी स्नान करके अपने मकान की छत पर चढ़कर घुटनों तक लंबे केश सुखा रही थी। इसी समय नीचे की गली में सुनाई पड़ा—"बच्चों को बहलानेवाला मिठाईवाला!"

मिठाईवाले का स्वर उसके लिए परिचित था। झट-से रोहिणी नीचे उतर आई। उस समय उसके पति मकान में नहीं थे। हाँ, उसकी वृद्धा दादी थी। रोहिणी उनके निकट आकर बोली—"दादी, चुन्नू-मुन्नू के लिए मिठाई लेनी है। ज़रा कमरे में चलकर ठहराओ तो। मैं उधर कैसे जाऊँ, कोई

आता न हो। ज़रा हटकर मैं भी चिक की ओट में बैठी रहूँगी।"

दादी उठकर कमरे में आकर बोली—"ए मिठाईवाले, इधर आना।"

मिठाईवाला निकट आ गया। बोला—"कितनी मिठाई दूँ मा? ये नई तरह की मिठाइयाँ हैं—रंग-बिरंगी, कुछ-कुछ खट्टी, कुछ-कुछ मीठी, ज़ायकेदार; बड़ी देर तक मुँह में टिकती हैं। जल्दी नहीं घुलतीं। बच्चे इन्हें बड़े चाव से चूसते हैं। इन गुणों के सिवा ये खाँसी भी दूर करती हैं। कितनी दूँ? चपटी, गोल और पहलदार गोलियाँ हैं। पैसे की सोलह देता हूँ।"

दादी बोली—"सोलह तो बहुत कम होती हैं, भला पचीस तो देते।"

मिठाईवाला—"नहीं दादी, अधिक नहीं दे सकता। इतनी भी कैसे देता हूँ, यह अब मैं तुम्हें क्या...। ख़ैर, मैं अधिक न दे सकूँगा।"

रोहिणी दादी के पास ही बैठी थी। बोली—"दादी, फिर भी काफ़ी सस्ती दे रहा है। चार पैसे की ले लो। ये पैसे रहे।"

मिठाईवाला मिठाइयाँ गिनने लगा।

"तो चार की दे दो। अच्छा, पचीस न सही, बीस ही दो। अरे हाँ, मैं बूढ़ी हुई, मोल-भाव अब मुझे ज्यादातर आता भी नहीं।"—कहते हुए दादी के पोपले मुँह की ज़रा-सी मुस्कराहट भी फूट निकली।

रोहिणी ने दादी से कहा—"दादी, इससे पूछो, तुम इस शहर में और भी कभी आए थे, या पहली ही बार आए हो। यहाँ के निवासी तो तुम हो नहीं।"

दादी ने इस कथन को दोहराने की चेष्टा की ही थी कि मिठाईवाले ने उत्तर दिया—"पहली बार नहीं, और भी कई बार आ चुका हूँ।"

रोहिणी चिक की आड़ ही से बोली—"पहले यही मिठाई बेचते हुए आए थे, या और कोई चीज़ लेकर?"

मिठाईवाला हर्ष, संशय और विस्मयादि भावों में डूबकर बोला—"इससे पहले मुरली लेकर आया था, और उससे भी पहले खिलौने लेकर।"

रोहिणी का अनुमान ठीक निकला। अब तो वह उससे और भी कुछ बातें पूछने के लिए अधीर हो उठी। वह बोली—"इन व्यवसायों में भला तुम्हें क्या मिलता होगा?"

वह बोला—"मिलता भला क्या है! यही, खाने-भर को मिल जाता है। कभी नहीं भी मिलता है। पर हाँ, संतोष, धीरज और कभी-कभी असीम सुख ज़रूर मिलता है! और यही मैं चाहता भी हूँ।"

"सो कैसे? वह भी बताओ।"

"अब व्यर्थ उन बातों की क्यों चर्चा करूँ? उन्हें आप जाने ही दें। उन बातों को सुनकर आपको दुःख ही होगा।"

"जब इतना बताया है, तब और भी बता दो। मैं बहुत

उत्सुक हूँ। तुम्हारा हर्जा न होगा। मिठाई मैं और भी कुछ ले लूँगी।"

अतिशय गंभीरता के साथ मिठाईवाले ने कहा—"मैं भी अपने नगर का एक प्रतिष्ठित आदमी था। मकान, व्यवसाय, गाड़ी-घोड़े, नौकर-चाकर, सभी कुछ था। स्त्री थी; छोटे-छोटे दो बच्चे भी। मेरा वह सोने का संसार था। बाहर संपत्ति का वैभव था, भीतर सांसारिक सुख था। स्त्री सुंदरी थी, मेरा प्राण थी। बच्चे ऐसे सुंदर थे, जैसे सोने के सजीव खिलौने। उनकी अठखेलियों के मारे घर में कोलाहल मचा रहता था। समय की गति! विधाता की लीला! अब कोई नहीं है। दादी, प्राण निकाले नहीं निकले। इसीलिए अपने उन बच्चों की खोज में निकला हूँ। वे सब अंत में होंगे तो यहीं कहीं। आख़िर कहीं-न-कहीं जन्मे ही होंगे। उस तरह रहता, तो घुल-घुलकर मरता। इस तरह सुख-संतोष के साथ मरूँगा। इस तरह के जीवन में कभी-कभी अपने उन बच्चों की एक झलक-सी मिल जाती है। ऐसा जान पड़ता है, जैसे वे इन्हीं में उछल-उछलकर हँस-खेल रहे हैं। पैसों की कमी थोड़े ही है, आपकी दया से पैसे तो काफ़ी हैं। जो नहीं है, इस तरह उसी को पा जाता हूँ।"

रोहिणी ने अब मिठाईवाले की ओर देखा। देखा—उसकी आँखें आँसुओं से तर हैं।

इसी समय चुन्नू-मुन्नू आ गए। रोहिणी से लिपटकर, उसका अंचल पकड़कर बोले—"अम्मा, मिठाई!"

"मुझसे लो!"—कहकर, तत्काल कागज़ की दो पुड़ियाँ, मिठाइयों से भरी, मिठाईवाले ने चुन्नू-मुन्नू को दे दीं।

रोहिणी ने भीतर से पैसे फेंक दिए।

मिठाईवाले ने पेटी उठाई, और कहा—"अब इस बार ये पैसे न लूँगा।"

दादी बोली—"अरे-अरे, न न, अपने पैसे लिए जा भाई।"

तब तक आगे फिर सुनाई पड़ा उसी प्रकार मादक, मृदुल स्वर में—"बच्चों को बहलानेवाला, मिठाईवाला!"

आधुनिक हिंदी कविता

[श्रीयुत हरिकृष्ण प्रेमी]

हिंदी की आधुनिक कविता अनेक प्रकार के परिवर्तनों में से होकर वर्तमान स्थिति में आई है, कवि का व्यक्तित्व छोटी वस्तु नहीं है, वह ज़माने को अपने अंदर बैठाए हुए है, इसलिए ज़माने की तस्वीर देखना हो तो हमें उसके काव्यों को, उसके साहित्य को देखना होता है। युग के सुख-दुःख, इच्छाएँ-आकांक्षाएँ, भाव-अभाव, सफलताएँ-असफलताएँ कवि अपनी वाणी में भर जाता है। उसे पढ़ कर हम उस काल की संस्कृति, भावनाएँ और परिस्थिति को जान सकते हैं। जो केवल राजाओं के इतिहास पढ़ते हैं और साहित्य से अपरिचित हैं, वे क्या देश के वास्तविक इतिहास को जान पाते हैं ? संसार का सच्चा इतिहास तो कवियों ने तथा ललित साहित्य—उपन्यास, कहानी, नाटक आदि—लिखने वालों ने लिखा है।

हमारे काव्य-साहित्य का इतिहास भी हमारे देश के

इतिहास के साथ बँधा हुआ है। जिस समय देश में जो ऋतु रही है, जिस प्रकार की परिस्थिति रही है, कविता के उपवन में उसी प्रकार की हवा बही है, हिंदी कविता का प्रारंभ प्रसिद्ध ऐतिहासिक पुरुष पृथ्वीराज चौहान के काल से देखने में आता है। हो सकता है कि उनके पहले से भी हिंदी में कुछ लिखा जाता होगा, किंतु, उसमें से कुछ भी इस युग तक रखा नहीं जा सका। वह युग था, जब देश पर क्षत्रियत्व का आतंक था, देश में अनेक क्षत्रिय राजा परस्पर ही अपनी तलवार की धार को आज़माते थे, कुछ विदेशी आक्रमण भी प्रारंभ हो गए थे। उस युग में राज्याश्रय में रह कर कवियों ने वीर-गाथाएँ लिखीं। उन गाथाओं से हमारे पूर्व-पुरुषाओं के हृदय का तेज, प्राणों का विश्वास और शरीर का बल जान पड़ता है। उस समय की संस्कृति का भी परिचय मिलता है।

समय बदला। देश का क्षत्रियत्व, पारस्परिक एकता के अभाव में, विदेशी शक्ति के आगे पराजित हुआ। शारीरिक बल की पराजय ने देश को आध्यात्मिक बल की ओर झुकाया। देश देवता के चरणों पर अपनी संपूर्ण आशा-अभिलाषाओं को चढ़ा कर बैठ गया। यह था भक्ति का युग। भक्त और संत कवियों का इस युग में प्रादुर्भाव हुआ। कबीर, सूर, तुलसी, मीरा जैसी महान् आत्माएँ इस युग में पैदा हुईं। इन संत कवियों ने भारतीय शारीरिक बल की रक्षा तो नहीं की, लेकिन भारतीय आत्मा और भारतीय संस्कृति को नष्ट होने से बचा लिया।

राज्य शक्ति हाथ में न रहने पर भी हमारा धर्म, हमारी सस्कृति हमारी ही बनी रही। इस तरह हमारे देश को इन लोगों ने बहुत बड़ी हानि से बचा लिया।

इसके बाद ज़माना फिर बदला। जनता ने राज्य-शक्ति से (विदेशी राज्य-शक्ति से) समझौता कर लिया। एक दो स्वाभिमानी राणा महाराणा प्रताप की भाँति अपना अलख अलग ही जगाते रहे। शेष राजा लोग मुग़ल शासन के अंग-रक्षक बन बैठे। शांति की सरिता बहने लगी और सदियों से जूझते रहने वाले देश को आराम करने और मनोरंजन करने का अवसर मिला। कई सदियों के युद्ध की कठोर क्रिया तथा भक्ति की विरस भावनाओं की प्रतिक्रिया यह हुई कि संपूर्ण देश सहसा शृंगार-रस की धारा में डूब गया। देव, बिहारी, मतिराम, केशव, सेनापति, पद्माकर, गंग आदि सुकवियों ने 'काया' की चकाचौंध से देश को आश्चर्यान्वित कर दिया। काया का मोह हमारे कवियों को इतना हुआ कि उन्होंने कविता को सूक्ष्म जगत् से उतार कर स्थूल जगत् में क़ैद कर दिया। कविता के आदर्श में ही परिवर्तन हो गया। वे नायक-नायिका के बनाव शृंगार में रत रहकर कविता को भी सजी सजाई रमणी के रूप में देखना पसंद करने लगे। अलंकारों के सुनार अपनी-अपनी हथौड़ी लेकर बैठ गए और नए-नए अलंकारों की सृष्टि होने लगी। प्राचीन संस्कृत साहित्य का भी इस कार्य में सहारा लिया गया। इस कृत्रिमता ने, इस काया के प्रेम ने, कविता को स्वाभाविक रूप से दूर कर दिया।

यह शांति का युग अधिक समय तक न रह सका। दो-तीन सदियों के अंदर मुग़ल साम्राज्य के पैर उखड़ गए, उनके आश्रित हिंदू-राजाओं को भी अपनी चिंता करनी पड़ी। अँग्रेज़ों के आगमन ने देश की परिस्थिति को फिर बदल दिया। मुग़ल-काल में पराधीनता आई, लेकिन ग़रीबी नहीं। जब तक ग़रीबी नहीं आई, देश का हृदय आत्म-निरीक्षण के लिए तैयार नहीं हुआ। किंतु जब रोटी के भी लाले पड़ने लगे, तब देश ने आत्म-निरीक्षण करना शुरू किया। भारतेंदु-काल से जो भी कविताएँ लिखी गईं उनमें अधिकांश देश की हीन स्थिति का रोना है। संतों का दिया हुआ भक्ति का मंत्र पार्थिव जगत् की आवश्यकताओं को पूरा न कर सका।

रीति-काल के कवियों की विलास-भावनाएँ ख़ाली पेटों को संतुष्ट न कर सकीं। अचानक कवियों की नींद टूटी। उन्होंने युग की बेचैनी को अनुभव किया। उन्होंने देश का ध्यान गौरवमय भूतकाल की ओर आकर्षित किया और वर्तमान हीनावस्था का चित्र खींचा। उन्होंने देखा कि उनकी पराधीनता के मूल में उनकी सामाजिक विषमता है। अचानक उनका ध्यान समाज की कुरीतियों की ओर गया। अधिकांश हिंदी के कवि हिंदू या आर्य संस्कृति के प्रशंसक और संशोधक के रूप में लोगों के सामने आने लगे। उस समय की कविताओं में समाज की दुर्दशा का चित्र है, लेकिन परतंत्रता-पाश में बाँधने वाली शक्ति के प्रति विद्रोह की भावना

तब भी नहीं आई। उस समय के कवियों ने मुसलमानों के प्रति अपना रोष प्रकट किया लेकिन हिंदू और मुसलमानों को एक ही माँ के पुत्र समझ कर एक साथ खड़े होने का संदेश नहीं दिया। बाबू मैथिलीशरण गुप्त ने मुसलमानों के प्रति रोष नहीं दिखाया, लेकिन सिख गुरुओं आदि का गुण-गान 'गुरुकुल' जैसी पुस्तक में, हिंदू काव्य में हिंदू संगठन, 'साकेत', 'द्वापर' और 'यशोधरा' आदि पुस्तकों में हिंदुओं को अपनी संस्कृति और वीरत्व का दर्शन कराकर, उन्होंने अपने आपको राष्ट्रीय कवि की अपेक्षा हिंदू जाति का कवि ही सिद्ध किया है। उनके 'भारत-भारती' जैसे काव्य में भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि की दशा का वर्णन है; भावनाएँ हिंदू संस्कृति के ही आधार पर हैं। व्यापक राष्ट्र—जिसमें हिंदू, मुसलमान, ईसाई सब शामिल हों—की कल्पना गुप्तजी ने भी नहीं की। इसलिए हम कह सकते हैं कि भारतेंदु से मैथिली-शरण जी तक हिंदू-संस्कृति के समर्थक कवि पैदा हुए।

लेकिन जब हिंदू और मुसलमान दोनों ही पेट की ज्वाला में जले तो निकट आए। अँग्रेज़ों के जुए का दोनों जातियों ने अनुभव किया। इस तरह से व्यापक राष्ट्रीय धारा का प्रादुर्भाव हुआ। पं० माखनलाल चतुर्वेदी, 'नवीन', सुभद्राकुमारी रामनरेश त्रिपाठी, 'दिनकर', 'मिलिंद' आदि ने इस दिशा में काफ़ी कार्य किया। बंधनों के प्रति असंतोष हमारी राष्ट्रीय महासभा कांग्रेस के रूप में आया। कवियों ने भी उसका दूत

बनने में अपना सौभाग्य समझा। हम धर्मों की सीमाएँ भूल कर जन्म-भूमि की व्यापक गोद में आए। अपनी संस्कृतियों का मान रखते हुए भी हम परस्पर प्रेम करना चाहने लगे। इस तरह राष्ट्रीय कविता का उद्गम हुआ।

गुलामी के जिन बंधनों में हम कसे हुए हैं, उसे हम शारीरिक बल से तोड़ने में समर्थ नहीं जान पड़ते। तो कैसे पराधीनता-पाश से छुटकारा पावें? महात्मा गांधी ने हमारे इस प्रश्न का उत्तर दिया। उन्होंने आध्यात्मिक बल पर ज़ोर दिया। उन्होंने देश के सामने ऐसा कार्य-क्रम रखा जो कि संसार के लिए सर्वथा नूतन था। हिंसा से अहिंसा का युद्ध, हत्या का मुकाबला बलिदान से करना, अत्याचार को कष्ट-सहन और त्याग से हराना! वास्तव में यह बड़ा ही कठिन मंत्र था। किंतु, जिसने गीता को पढ़ा है, वह आत्मा की अमरता को जानता है। वह व्यक्ति के विराटत्व को समझता है। वह सांसारिक माया-मोह में नहीं फँसता; वह शस्त्रों की चमक से नहीं डरता। वह रुपया-पैसा धन-दौलत और सगे-संबंधियों के बिछोह को विछोह नहीं समझता। इस प्रकार की दृष्टि देश को देने के लिए हमें आध्यात्मिक भावनाओं के प्रचार की आवश्यकता थी। वही कार्य इस युग के रहस्यवादी और छायावादी कवियों ने किया। जयशंकर 'प्रसाद' जैसे कवियों ने हमें आत्म-भान कराया है। राष्ट्रीय कवि की भाँति उत्तेजना

की शराब नहीं पिलाते, लेकिन आत्मिक बल का गंगा-जल पिलाते हैं।

रहस्यवाद वह प्रवृत्ति है जो आत्मा और परमात्मा के संबंधों पर प्रकाश डालती है। आत्मा और परमात्मा के संबंधों का वर्णन करते हुए जो कविताएँ लिखी जाती हैं वे ही रहस्यवादी कविताएँ हैं। इस युग में 'प्रसाद', 'निराला', पंत, महादेवी, 'मिलिंद', 'नवीन' आदि ने अनेक रहस्यवादी कविताएँ लिखी हैं। मैंने 'अनंत के पथ पर' नाम की पुस्तक इस विषय की लिखी है। इस तरह से रहस्यवाद भी इस युग की एक आवश्यकता की पूर्ति है।

इस युग की कविता की एक विशेषता और है, वह यह कि उसने स्थूल जगत् को छोड़ कर सूक्ष्म जगत् को अपना क्षेत्र बनाया है। कवि 'काया' के वर्णन में अपना समय नष्ट नहीं करता। वह तो अंतर्जगत् में झाँकता है। वह जड़ वस्तुओं की जड़ता को नहीं देखता, वह उसमें की चेतना को देखता है। वह जड़ में भी मानव-भावनाओं को, चेतन की अनुभूतियों को देखता है। यही जड़ में चेतन का अनुभव करना छायावाद है। छायावादी रचनाओं ने भी जीवन को अधिक व्यापक बनाया है। इसने हमें संकुचित सीमा से मुक्त किया है, सीमा के बंधन से निकाल कर असीम के आकाश में पहुँचाया है। इस प्रकार की रचनाएँ हमें बल देती हैं, आत्म-ज्ञान देती हैं।

किंतु, इस तरह के कवि पथ-भ्रष्ट न हो जावें, इसी की आशंका है। मूर्ति में अमूर्त तो देखें यह कल्याणकर है, किंतु यदि मूर्ति को ही अमूर्त समझ लें, तो कहना होगा कि वे असीम को भूल कर सीमा में बँध रहे हैं। मूर्ति में भी अमूर्त है यह हमारी भावना होनी चाहिए न कि मूर्ति ही अमूर्त है यह भावना। अपने आपको जगत् के कण-कण में व्यापक पाओगे तो उससे अपना बल बढ़ा हुआ पाओगे। लेकिन यदि एक कण में अपने देवता को बाँधोगे तो स्वयं उस कण से भी छोटे बन जाओगे। इसलिए जिस मूल भावना को लेकर छायावाद आया है उसे छायावादी कवि को भूलना न चाहिए।

इस युग में हमें दूसरे देशों के साहित्य से भी परिचय पाने का अवसर पड़ा और हम पर दूसरे देशों की साहित्यिक धाराओं का भी प्रभाव पड़ा है। हालावाद ऐसी- ही एक विदेशी भावना का परिणाम है। उमर खैय्याम की प्याली पीकर बच्चन जैसे कवियों का आगमन हुआ है। ये लोग प्रकृति को सत्य मानते हैं; शेष सभी को अनावश्यक। वे लोग सांसारिक विभव को हँसते-हँसते भोगना जीवन का लक्ष्य समझते हैं। वे पार्थिवता के पुजारी जप-तप, पूजन-साधन की आवश्यकता नहीं समझते। उनके लिए यही जीवन सब कुछ है और इसी जीवन को सुखी बनाना उनकी साधना है। यह भावना अधिक लोक-प्रिय हो सकी क्योंकि इसमें मानव-हृदय की दुर्बलताओं का भी समर्थन मिलता है।

पाप-पुण्य, नरक-स्वर्ग, आत्मा-परमात्मा आदि का इसमें चक्कर नहीं है। यहाँ अरूप की साधना नहीं है। यहाँ तो हाथ में प्याला लिए हुए मधुबाला आ रही है। इसके निमंत्रण पर ऋषियों के मन भी चंचल हो उठे हैं। किंतु युग ने इस धारा को अनुपयोगी समझा और इसके प्रवर्तक 'बच्चन' जैसे कवि भी इस धारा से बाहर निकल छायावाद की छाया में आगए है। उनकी 'निशा', 'निमंत्रण' और 'एकांत संगीत' पुस्तकें इस बात का प्रमाण हैं।

अब हमारे कवि राष्ट्र की सीमा के बाहर भी झाँकने लगे हैं। उन्होंने पीड़ित, पतित और पराजितों को केवल भारत में नहीं देखा है; संसार के कोने-कोने में उन्हें पाया है। वे विषमता की ज्वाला में संपूर्ण संसार को झुलसते पाते हैं। इन कवियों के गीतों में सारे संसार के पीड़ित प्राणों का विद्रोह झंकृत है। हमारे अनेक कवियों में साम्यवाद की भावना, पूँजीवाद, साम्राज्यवाद के प्रति विद्रोह करने की भावना, बड़े तीव्र वेग से प्रकट हुई है। 'दिनकर,' भगवतीचरण, 'मिलिंद', नरेंद्र आदि कवियों ने बड़े वेग से लिखा है। पंत जी जैसे कोमल भावना वाले कवि भी युग के इस परिवर्तन से न बच सके। वे भी 'युगांत' लेकर आए। पं० उदयशंकर भट्ट भी रहस्यवाद की सीमा छोड़ जीवन के साथ अपने आपको मिलाते नज़र आ रहे हैं। मैंने 'अग्नि-गान' आदि इस प्रकार

की अनेक रचनाएँ लिखी हैं। इन कविताओं में देश में आने वाले युग की पूर्व-सूचना है। क्या अच्छा हो यदि इन क्रांति-दर्शी कवियों की भविष्यवाणी सत्य न हो, अर्थात् पीड़ित अपने अधिकार पा सकें, पर संसार को भयानक क्रांति-ज्वाला में न जलना पड़े। महात्मा गांधी का अध्यात्मवाद संसार पर विजयी हो। पीड़ित प्राणों की प्रतिहिंसा विद्रोह की आग बन कर न प्रकट हो। पर क्या ऐसा हो सकेगा? क्या पूँजीवाद अपनी मौत आप मर सकेगा?

हमारी आधुनिक कविता यहाँ आकर ठहर गई है। वह वीरों के यशोगान से प्रारंभ हुई, देवता पर फूल चढ़ाने लगी, नारी के शरीर से लिपटी, हिंदू-जाति का दर्पण बनी, राष्ट्र का शंखनाद बनी, रहस्य की झाँकी बनी, जड़ में चेतनता के दर्शन कराने वाली दूरबीन बनी और अब क्रांति की दूतिका बनी है।

भारत के किसान-आंदोलन

[श्री अख्तरहुसेन रायपुरी]

देखते ही देखते भारत में राष्ट्रीयता की बेल बड़ी तेज़ी से मोंढे चढ़ गई है। बच्चे-बच्चे की ज़बान से सुन लीजिए—"भारत भारतीयों के लिए।" मगर 'भारतीय' शब्द का अर्थ परिस्थिति के साथ बदलता रहता है। भारतीयता के नाते में तो राजा-प्रजा, ज़मींदार-किसान, मालिक-मज़दूर सभी बँधे हुए हैं। अतः इनमें से हर एक अपनी-अपनी आवश्यकता के अनुसार स्वराज का स्वप्न देखा करता है। ज़मींदार का स्वराज यही है कि सरकारी जमा न देना पड़े, किसानों से अधिकाधिक पैदावार वसूल कर सके और बेगार ले सके। किसान का स्वराज यह है कि लगान न देना पड़े, अपने परिश्रम का कुल फल उसे मिले और बनियों के चंगुल से निकल जाय। मिल-मालिक का स्वराज यह है कि मज़दूरों से २४ में से २६ घंटे काम ले, और बन सके तो उन्हें कानी कौड़ी

न दे। मज़दूर का स्वराज यह है कि जो कुछ पैदा करे, उस पर उसका ही अधिकार हो; कम-से-कम समय दे और अधिक-से-अधिक लाभ हो। अगर ज़मींदारों और मिल-मालिकों को पता चल जाय कि भावी स्वराज उनकी कल्पना के अनुसार न होगा, उसमें मनमानी लूट की गुज़र न होगी, तो फिर वे बहुत सोच-समझकर 'स्वराज' का नाम लेंगे। इसी प्रकार यदि किसानों और मज़दूरों को मालूम हो जाय कि 'स्वराज' में उनकी आर्थिक दशा न सुधरेगी, रक्त-शोषण का सिलसिला यों ही जारी रहेगा, तो वे स्वभावानुसार राम भजन करते और मौलूद पढ़ते हुए लंबी तान लेंगे।

प्रत्येक देश में राजनीतिक जाग्रति पूँजीपति एवं शिक्षितवर्ग तक ही परिमित रहा करती है। उपनिवेशों का धनिक और शिक्षित समुदाय प्रारंभिक राष्ट्रीय आंदोलनों में हमेशा आगे-आगे रहता है। अपने देश की विभूतियों की लूट से उसका ख़ून खौल उठता है, इसलिए नहीं कि वह अत्याचार और विषमता का नाश करना चाहता है, बल्कि इसलिए कि वह 'स्वराज' अर्थात् अपने वर्ग का राज्य चाहता है। वह जानता है कि शासन-बल बिना वह अपने आर्थिक बल को बढ़ा नहीं सकता है। उसकी 'देश-सेवा' का अर्थ यह नहीं कि ग़रीबों का स्वराज स्थापित हो, बल्कि यह है कि ग़रीबों का ख़ून चूसने की अधिकाधिक स्वतंत्रता उसे प्राप्त हो। उदाहरणतः चीन और पोलैंड के जन-साधारण की हालत

पर नज़र डालिए। वहाँ किसानों और दरिद्रों की अवस्था बीस वर्ष पहले की अपेक्षा किसी प्रकार अच्छी नहीं, जब वे विदेशियों के दास और अर्द्ध-दास थे। विदेशी शासन के जुए को उतार फेंकने और शासनाधिकार लेने के लिए इस पूँजीपति एवं शिक्षित समुदाय को किसानों और मज़दूरों को संगठित करना पड़ता है। उनके संगठन से यह श्रेणी विदेशी सरकार को डराती है। इस संगठन से पूँजीपति-श्रेणी के दो उद्देश्य होते हैं। एक दल तो विदेशियों पर दबाव डालकर, लूट-खसोट में थोड़ा-बहुत हिस्सा बँटाकर, अलग हट जाता है। दूसरा दल, जो अधिक आकांक्षी और श्रेणी-जाग्रत होता है, किसानों और मज़दूरों को हथियार बनाकर उस समय तक लड़ता रहता है, जब तक सत्ता उसके हाथ में न आ जाय। भारत के मुसलमानों और हिंदू शिक्षित समुदाय में यही भेद है। एक नौकरी पाकर खुश हो जाता है, दूसरा नौकरी बाँटने का अधिकार चाहता है।

गत ग्यारह-बारह वर्ष के भीतर देश में किसान-आंदोलन आरंभ हुए, और बिना किसी परिणाम पर पहुँचे या तो अकाल में ही ठंडे हो गए, या कुचल दिए गए। सन् २१-२२ के मोपला-आंदोलन से लेकर बुलडाना, किशोरगंज, रायबरेली, बर्मा, कश्मीर और अलवर—सभी आंदोलनों को ग़ौर से देखिए। वास्तव में वे सब ज़मींदारों और साहूकारों के रक्त-शोषण से स्वतंत्र होने के लिए किसानों के भगीरथ प्रयत्न

थे; परंतु हर कहीं स्वाभाविक परिणाम पर पहुँचे बिना, कोई भी लाभ हासिल हुए बिना, वे शिथिल कर दिए गए। ऐसा क्यों होता है ? क्या किसानों की शिकायतें दूर हो जाती हैं ? क्या उनकी दशा में वस्तुतः कोई परिवर्तन हो जाता है ? बिलकुल नहीं; बल्कि असफल होने के बाद तो अत्याचार और भी अधिक होने लगता है, ताकि वे फिर कभी सिर उठाने का साहस न करें। "असफल योद्धा विद्रोही कहलाता है। सफल होने पर वही सिंहासनारूढ़ होता।" वास्तव में किसान-आंदोलनों की अकाल मृत्यु के तीन प्रमुख कारण हैं:—

(१) आंदोलन का पथ-भ्रष्ट किया जाना।

(२) सहायता और सहानुभूति बिना आंदोलन का परिमित हो जाना।

(३) नेताओं की धोखेबाज़ी।

किसानों को संगठित करने के लिए आवश्यक है कि उन्हें कोई प्रलोभन दिया जाय, वरना बहुत जल्दी उनका उत्साह ठंडा हो जायगा। स्वदेशी मिलों का कपड़ा चलाने के लिए खादी-प्रचार की आड़ में स्वदेशी-आंदोलन को फैलाना ही पड़ेगा। हालाँकि यह मालूम है कि मेशीनरी-युग में दस्तकारी को बढ़ाना और मिलों के माल से उसे प्रतियोगिता में ठहराना असंभव है। किसान सोचता है कि इस प्रकार आमदनी की एक सूरत निकल आयगी; नागरिक सोचता है कि देशी उद्योग-धंधों को लाभ होगा। कुछ दिनों के बाद नागरिक तंग आकर मिलों का

कपड़ा पहनने लगता है, क्योंकि वह सस्ता और टिकाऊ होता है। मिल-मालिक चरखे का सूत लेना बंद कर देता है। किसान के करघे फिर बंद हो जाते हैं।

विदेशी सरकार से अधिकाधिक सुविधाएँ लेने के लिए उच्च-श्रेणी और मध्यम-श्रेणी किसानों और मज़दूरों में राजनीतिक जाग्रति उत्पन्न करती है। उनसे शराबखानों और ताड़ीखानों पर पिकेटिंग कराती है; पर जब किसानों और मज़दूरों में वर्ग-जाग्रति पैदा होती है, और वे अपनी श्रेणी के अधिकारों के लिए लड़ना चाहते हैं, तो उनके ज़मींदार और वकील नेता घबरा जाते हैं। लगानबंदी तभी कराते हैं, जब बाध्य हो जाते हैं, और कभी आरंभ करते हैं, तो उन प्रांतों में जहाँ रैयतवारी पद्धति है, अर्थात् सरकार स्वयं ज़मींदार है। हड़ताल या सूदबंदी में वे कभी मज़दूरों और किसानों का साथ नहीं देते। उदाहरणतः पिछले बारदोली-आंदोलन को लीजिए। किसानों ने सरकार को लगान देने से इनकार किया और कहीं-कहीं धनियों से भी सूद पर उलझ पड़े। इस पर आंदोलन-संचालकों ने कहा—"साहूकारों और किसानों के स्वार्थ इतने मिले-जुले हैं, जितना दूध और पानी!" हालाँ कि किसान लगान से उतने तंग नहीं हैं, जितने साहूकार के ब्याज से।

लेखकों का परिचय

राजा शिवप्रसाद

(स० १८८०-१९५२)

राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिंद' काशी-निवासी थे। आप शिक्षा-विभाग में इंस्पेक्टर थे। आपने हिंदी के प्रचार के लिए विशेष उद्योग किया। उस समय हिंदी और उर्दू के संबंध में यह झगड़ा चल रहा था कि शिक्षा विभाग में इन दोनों में कौन-सी भाषा और लिपि जनता में चलाई जाय। राजासाहब नागरी लिपि और मिश्रित भाषा के पक्ष में थे। आपने स्वयं हिंदी पुस्तकें लिख कर तथा अपनी मित्र-मंडली से लिखवा कर शिक्षा-विभाग में प्रचलित कराईं। आप पहले तो शुद्ध हिंदी लिखते थे जैसे कि 'राजा भोज का सपना' तथा 'नल दमयन्ती' की भाषा से स्पष्ट है। इसके पश्चात् आपको हिंदी और उर्दू को मिलाने की धुन सवार हुई। आप चाहते थे कि बोलचाल की भाषा ही साहित्य मे प्रयुक्त की जाय। इसी विचार से आपने 'बनारस अख़बार' (स० १९०२) निकाला। इसकी लिपि तो नागरी थी किंतु भाषा में उर्दू शब्दों की भरमार थी। परंतु राजासाहब अपने इस कार्य में सफल न हुए। यही कार्य अब महात्मा गांधी, काका कालेलकर आदि कांग्रेस-महानुभावों ने उठाया है। देखें, परिणाम क्या निकलता है।

राजा लक्ष्मणसिंह

(सं० १८८३ - १९५६)

राजा लक्ष्मणसिंह वजीरपुरा (आगरा) के निवासी थे। आप इटावा में डिप्टी-कलेक्टर रहे थे। आपने हिंदी की अपूर्व सेवा की। आप राजा शिवप्रसाद की उर्दू-मिश्रित हिंदी-भाषा के घोर विरोधी थे। आप भाषा में सरल तथा प्रचलित संस्कृत शब्दों के प्रयोग करने के समर्थक थे। ब्रज-प्रांत-निवासी होने के नाते आपके गद्य में ब्रज-भाषा के ठेठ शब्दों का प्रयोग यत्र-तत्र मिलता है। राजा साहब के 'अभिज्ञान-शाकुंतल', 'रघुवंश' और 'मेघदूत' की हिंदी द्वारा इसी शैली का प्रतिपादन किया गया है। आपका परिमार्जित गद्य पर्याप्त प्रशंसा को प्राप्त हुआ। राजासाहब का समय हिंदी में क्रांति का समय था। ऐसे समय आप हिंदी-लेखकों के लिए पथ-प्रदर्शक बने।

भारतेंदु हरिश्चंद्र

(सं० १९०७–१९४१)

भारतेंदु जी के पिता बाबू गोपालचंद्र ब्रज-भाषा के सुकवि तथा कुशल लेखक थे। उनके संसर्ग से भारतेंदु जी की प्रवृत्ति भी हिंदी-सेवा की ओर अग्रसर हुई। आपके सामने हिंदी-गद्य की दो धाराएँ उपस्थित थीं—एक अरबी-फारसी के शब्दों से युक्त और दूसरी विशुद्ध हिंदी शब्दों से युक्त। भारतेंदु जी ने मध्य मार्ग का अनुसरण किया। आपकी भाषा में केवल उन अरबी-फारसी के शब्दों का प्रयोग हुआ है जो बोल-चाल में आने लगे हैं। संस्कृत के तद्भव शब्दों की अधि-

कता है, आवश्यकतानुसार उचित मुहावरों का भी प्रयोग किया गया है।

आपकी बाल्य-काल से ही प्रतिभा प्रखर थी। पाँच वर्ष की आयु में आपने निम्नलिखित दोहा रचा था—

लै ब्योड़ा ठाड़े भए, श्री अनिरुद्ध सुजान।
बाणासुर की फौज को हनन लगे बलवान॥

आपने बँगला साहित्य से सुग्रंथों का अनुवाद करना आरंभ किया। 'विद्या-सुदंर' नाटक आपका इस विषय का पहला प्रयास है। इसके पश्चात् आपने 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' नाम का एक मौलिक प्रहसन लिखा। बाद में 'कर्पूर-मंजरी,' 'सत्य-हरिश्चंद्र,' 'मुद्रा-राक्षस,' 'चंद्रावली-नाटिका', 'भारत-दुर्दशा' 'अंधेर-नगरी', 'नील-देवी' आदि कई नाटक लिखे।

भारतेंदुजी ने तीन पत्रिकाएँ निकालीं—'कवि-वचन-सुधा,' 'हरिश्चंद्र मेगज़ीन' (अथवा 'हरिश्चंद्र चंद्रिका') और 'बाला-बोधिनी'। आप स्त्री-शिक्षा के प्रबल समर्थक थे। इसी कारण आपने 'बाला-बोधिनी' पत्रिका निकाली थी। 'काश्मीर कुसुम', 'बादशाह दर्पण' नाम के आपने दो ऐतिहासिक ग्रंथ भी लिखे। हिंदी-गद्य का महत्त्व-पूर्ण परिमार्जन करने तथा अनंत ग्रंथ रचना के कारण आपको आधुनिक हिंदी-भाषा और साहित्य का जन्म-दाता कहा जाता है।

सं० १९३७ में हरिश्चंद्रजी के मित्रों ने, आपकी सेवाओं के उपलक्ष्य में आपको 'भारतेंदु' की उपाधि से सुशोभित किया।

श्रीयुत बालमुकुंद गुप्त

(सं० १९२०-१९६४)

गुप्तजी गुरियानी गाँव (जिला रोहतक) के रहनेवाले थे। हिंदी-गद्य-लेखकों में गुप्तजी का नाम विशेष उल्लेखनीय है। पहले आप उर्दू के लेखक थे। आप कई वर्षों तक 'कोहनूर' और 'अवध-पंच' का सपादन करते रहे। कालाकाकर के प्रसिद्ध देश-भक्त और हिंदी-प्रेमी राजा रामपालसिंह ने उन दिनों "हिंदुस्तान" पत्र प्रकाशित कराया था; गुप्तजी उसके सहायक संपादक नियुक्त किए गए। पं० प्रताप-नारायण मिश्र के सहयोग से आप हिंदी के उच्च लेखक बन गए। 'भारत-मित्र' पत्र द्वारा आपने हिंदी की अच्छी सेवा की। आपकी भाषा मुहावरेदार और चुटकीली होती थी। छोटे-छोटे वाक्यों द्वारा भाव-प्रदर्शन करने में आप निपुण थे। लेखन-शैली व्यावहारिक और चलती हुई है; भाषा में कहीं भी लचड़पन नहीं आया है। कथोपकथन का ढंग तो इतना निराला है कि पाठकों को प्रत्यक्ष वार्तालाप का अनुभव होने लगता है। उस समय 'भारत-मित्र' में प्रकाशित 'शिव शंभु' के चिट्ठे इसके प्रमाण है। इसके अतिरिक्त गुप्तजी सफल समालोचक भी थे। भाषा पर आपका पूरा अधिकार था। आपकी भाषा में नीरसता का आभास तो तनिक भी नहीं है। ज्यादा समय आपने पत्र-सपादन-कला में ही व्यतीत किया, ग्रंथ-निर्माण की ओर ध्यान नहीं दिया। आपकी भाषा सरलता के लिए प्रसिद्ध है।

———

पं० प्रतापनारायण मिश्र

(सं० १९१३-१९५१)

मिश्रजी भारतेंदु हरिश्चंद्रजी के सम-सामयिक तथा मित्रों में से थे। निबंध-लेखन-प्रणाली में आप अत्यंत पटु थे। हास्योत्पादक तथा व्यंगात्मक लेख लिखने में तो आप कमाल ही कर देते थे। एक निबंध में आँख का वर्णन करते हुए आपने लिखा था कि "संसार में किसी का आना अच्छा होता है तो किसी का जाना, परंतु आँख एक ऐसी वस्तु है कि इसका आना भी ख़राब और जाना भी।" इस प्रकार हास्यपूर्ण लेखों में आपकी लेखनी भी हँसती-सी दिखाई पड़ती है। आपने यह सिद्ध कर दिया कि प्रति दिन की बोलचाल में भी रसिकता एवं तथ्यता आ सकती है। आप बड़े मौजी और बेपरवाह थे। इसका प्रमाण आपकी रचनाओं में भली-भाँति पाया जाता है। मुहावरों की आपकी भाषा में भरमार है। लेखों के शीर्षक भी मुहावरों में हैं। कहीं-कहीं आपकी रचना में पंडिताऊपन भी आ गया है। कहीं-कहीं तो मिश्रजी ने अपने भावावेश में आकर व्याकरण की अशुद्धियों की भी कुछ परवाह नहीं की है। आपकी शैली में चुटकीलापन ऐसा है जो कि अन्य लेखकों की रचना में नहीं मिलता। आपने 'ब्राह्मण' मासिक पत्र तथा 'हिंदुस्तान' का संपादन किया था।

पं० बालकृष्ण भट्ट

(सं० १९११—१९७१)

आप प्रयाग के 'कायस्थ-पाठशाला-कालेज' में संस्कृत के अध्यापक थे। गद्य-लेखकों में आपका प्रमुख स्थान है। आपकी शैली में व्यक्तित्व की छाप साफ़ दिखलाई पड़ती है। आपका विचार हिंदी को सदा व्यापक बनाने का रहा और संस्कृत के अतिरिक्त उर्दू के तत्सम शब्दों का प्रयोग भी किया है। इसके अतिरिक्त आपकी रचना में अँगरेजी के शब्द भी पाये जाते हैं।

साधारण से साधारण विषय कान, नाक, आँख आदि पर आपने सुंदर निबंध लिखे है। मुहावरों का सुंदर प्रयोग आपकी भाषा में हुआ है। स्थान-स्थान पर मुहावरों की लड़ी-सी गुथी दिखाई पड़ती है। आपकी इस शैली का परिणाम यह हुआ कि भाषा मे सौष्ठव, ओज और आकर्षण उत्पन्न होगया। यद्यपि आपकी रचनाओं का आकार भारतेंदुजी की रचनाओं के समान विस्तृत नहीं है तथापि कई अंशों में आपका यह कार्य नवीन है।

ठाकुर जगमोहनसिंह

(सं० १९१४—१९५६)

ठाकुर साहब विजयराघवगढ़ (मध्य-प्रदेश) के राजकुमार थे। आप भारतेंदुजी के निकटतम मित्रों में से थे। आप हिंदी-साहित्य के अतिरिक्त संस्कृत तथा अँगरेजी के अच्छे ज्ञाता थे। आपकी शैली में अपनापन है। तड़क-भड़क न होने पर भी भाषा में सुंदरता का समावेश

है। "ठाकुर जगमोहनसिंहजी ने नर-क्षेत्र के सौंदर्य को प्रकृति के और क्षेत्रों के सौंदर्य के मेल में देखा है।" (शुक्ल) विरामादि चिह्नों का प्रयोग आपकी भाषा में अपने पूर्ववर्तियों से अधिक मिलता है।

पं० अंबिकादत्त व्यास

(सं० १९१५—१९५७)

आप संस्कृत के अच्छे विद्वान् थे और आशु-कविता करने में अत्यंत निपुण थे। २४ घंटे में १०० श्लोक बना लेते थे। काशी की 'ब्रह्मामृत-वर्षिणी' सभा ने आपको 'घाटिका-शतक' की उपाधि से विभूषित किया था। आपने संस्कृत में कई पुस्तकें लिखीं। आप हिंदी गद्य तथा पद्य दोनों ही लिखा करते थे। आपकी कविताएँ प्राचीन ढंग लिए हुए हैं परंतु कहीं-कहीं पर नवीनता भी दिखाई पड़ती है। 'कंस-वध' नामक खड़ी बोली का काव्य आपने लिखा था। हिंदी-संसार में आपकी ख्याति 'बिहारी-बिहार' के लिखने के कारण हुई।

पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी

(सं० १९२१—१९९५)

आपका जन्म पीलीभीत में हुआ था। आपके पिता फ़ौज में अफ़सर थे। आपने हिंदी-साहित्य की अपूर्व सेवा की है। यह कहना अत्युक्ति न होगा कि वर्तमान हिंदी-युग के निर्माता द्विवेदीजी ही थे। आपसे पूर्व भाषा अव्यवस्थित थी और व्याकरण का नियम नहीं था। आपने हिंदी को व्याकरण-सम्मत बनाया, भाषा का रूप परिमार्जित किया।

'सरस्वती' का संपादन करते हुए आपने बहुत-से नए लेखक पैदा किए।

अँगरेज़ी की ओर झुके हुए सैकड़ों नव-युवकों को हिंदी की ओर आकर्षित करने का श्रेय भी द्विवेदीजी को ही है। इनकी शैली में विशेष गुण यह है कि मार्मिक तथा गूढ़ातिगूढ़ विषय भी छोटे-छोटे ओजस्वी वाक्यों द्वारा स्पष्ट हो जाते हैं। आपने तीन प्रकार की गद्य शैलियों का प्रयोग किया है—व्यंगात्मक, आलोचनात्मक एवं गवेषणात्मक। इसका परिणाम यह हुआ कि भाषा की शुद्धता और एक-रूपता स्थिर हो गई तथा इन शैलियों से अनेक लेखकों को गद्य का मार्ग सुझाया गया। द्विवेदीजी की समालोचनाएँ निर्णयात्मक होती थीं। 'सरस्वती' में पुस्तकों की तथा संस्कृत और हिंदी के कुछ कवियों की समालोचनाएँ द्विवेदीजी ने स्वयं लिखी थी।

पं० पद्मसिंह शर्मा

(सं० १९३३—१९८९)

शर्माजी अपने जीवन में कभी निराश नहीं हुए थे, प्रसन्न रहना तो आपके जीवन का एक अंग था। आप हिंदी, संस्कृत एवं फ़ारसी के विशेषज्ञ थे। नवीन पुस्तकों का संग्रह करना तो मानो आपने अपने जीवन का लक्ष्य ही बना रखा था। ईश्वरीय विश्वास को आप अपने जीवन का सार समझते थे; यहाँ तक कि रुग्णावस्था में भी खाने-पीने का कुछ परहेज़ न करते थे। अंतिम दिन तक भी आगरे से पेठे की मिठाई का पारसल आया था। आपके पास बैठनेवाले दुखी मनुष्य भी अपना दुःख भूल जाते थे। तुलनात्मक समालोचना

क्षेत्र में क्रांति उत्पन्न करने का श्रेय शर्माजी को ही है। इनकी आलोचनात्मक भाषा में कठिन उर्दू और संस्कृत शब्दों का प्रयोग रहता है। इस कारण इनकी भाषा चुटीली होती हुई भी कहीं-कहीं सर्व-साधारण की समझ के बाहर हो जाती है। आपका बिहारी-सतसई पर 'संजीवन-भाष्य' हिंदी-साहित्य की चिरस्थायी संपत्ति है। तुलनात्मक आलोचना की एक नवीन शैली के आप निर्माता हैं। शर्माजी को इस कृति पर सं० १९८० में मंगलाप्रसाद पारितोषिक मिला था। आप सं० १९८५ के मुजफ्फरपुर में होने वाले हिंदी-साहित्य संमेलन के सभापति बनाए गए थे। आप गाँव नायक नगला (जिला बिजनौर) के रहनेवाले थे।

रा० ब० डाक्टर श्यामसुंदर दास

(जन्म सं० १९३२)

आप हिंदू-विश्वविद्यालय काशी के हिंदी-विभाग के प्रधान-अध्यापक रह चुके हैं। हिंदी-जगत् आपसे भली-भाँति परिचित है। आपके पूर्वज अमृतसर के निवासी थे। आपके सत्प्रयत्न से हिंदी भाषा का व्यापक रूप बना। आपने ऐसे विषयों पर प्रकाश डाला है जिनका जन्म भी अभी हिंदी भाषा में नहीं हुआ था। भावों की व्यंजनात्मक शक्ति के ह्रास होने के भय से लेखक ने एक ही विषय को बार-बार 'सारांश यह है' कह कर समझाने की चेष्टा की है।

आपकी रचना में साधारणतया उर्दू के अधिक प्रचलित शब्द भी पाए जाते हैं। आपका मत है कि ऐसे शब्दों को अपनेपन का रूप देकर खपा लेना चाहिए। आपने स्वयं लिखा है "जब हम विदेशी भावों के साथ विदेशी शब्दों को ग्रहण करे तो उन्हे ऐसा बना ले कि उनमें से विदेशीपन निकल जाय और वे हमारे अपने होकर हमारे व्याकरण के नियमों से अनुशासित हों। जब तक उनके पूर्व उच्चारण को जीवित रख कर, हम उनके पूर्व रूप, रंग आकार, प्रकार को स्थायी बनाए रहेंगे, तब तक वे हमारे अपने न होंगे और हमे उनको स्वीकार करने में सदा खटक और अड़चन रहेगी"। जटिल तथा दुर्बोध विषयो को समझाने में आप सर्वदा छोटे-छोटे वाक्यों का प्रयोग करते हैं। 'साहित्यालोचन', 'रूपक-रहस्य' और 'भाषा-विज्ञान' नामक पुस्तकों को देखने से आपकी शैली कठिन जान पड़ती है, संभव है इसका कारण अँगरेजी का आधार हो। 'हिंदी भाषा और साहित्य' तथा 'गोस्वामी तुलसीदास' इन दोनों पुस्तकों मे आपकी शैली सुबोध है। डाक्टर साहब हिंदी-भाषा के महारथियों में से है। आपकी अध्यक्षता में हिंदी-साहित्य के अद्भुत ग्रंथ 'हिंदी-शब्द-सागर' का निर्माण हुआ जो अब तक भी अपने ढंग का अनूठा कोष है। काशी नागरी-प्रचारणी सभा की स्थापना का श्रेय भी आपको ही है। हिंदी-संसार की सेवाओ के उपलक्ष्य में काशी हिंदू-विश्वविद्यालय की रजत-जयंती के अवसर पर आपको डाक्टर डिग्री प्रदान की गई है। भारतीय सरकार ने भी आपकी योग्यता का सत्कार 'रायबहादुर' उपाधि द्वारा किया है।

पं० रामचंद्र शुक्ल

(सं० १९४१—१९९८)

शुक्लजी का जन्म जिला बस्ती के एक गाँव में हुआ था। आधुनिक हिंदी-साहित्य में आपका प्रमुख स्थान है। आप काशी-विश्वविद्यालय के हिंदी-विभाग के प्रधान-अध्यापक थे। हिंदी-साहित्य में एक कमी यह थी कि विश्वविद्यालयों की ऊँची कक्षाओं के योग्य उसमें मननशील, गवेषणात्मक सामग्री नहीं थी। इस अभाव की पूर्ति, शुक्लजी की प्रतिभा-शालिनी लेखनी ने कर दी है। आप अत्यंत भावुक तथा व्रज-भाषा के सुकवि एवं हिंदी-गद्य के सफल लेखक थे। आपकी भाषा में शब्दाडंबर कहीं भी नहीं दिखाई पड़ता। आपके सतत प्रयत्न से आज हिंदी का व्यापक रूप स्थिर हो गया है।

शुक्लजी की शैली में उनकी वैयक्तिकता की गहरी छाया दिखाई पड़ती है। यह कथन "Style is the man himself" शुक्लजी पर पूर्णतया चरितार्थ होता है। अभी हाल में 'चिंतामणि' नामक प्रबंध-संग्रह पर आपको मंगलाप्रसाद पारितोषिक भी प्राप्त हुआ है। आपका हिंदी-साहित्य का इतिहास भी हिंदी-प्रेमियों के लिए मार्ग-दर्शक एवं अपूर्व ग्रंथ है। इस पर आपको हिंदुस्तानी एकेडमी, प्रयाग, से ५००) पुरस्कार मिला है। 'गोस्वामी तुलसीदास' तथा 'जायसी ग्रंथावली' द्वारा हमें आपकी आलोचना-शैली का अच्छा परिचय मिल जाता है। "शुक्ल जी हिंदी के प्रौढ गद्य-लेखकों में विशेष स्थान के अधिकारी हैं। बड़ी विशेषता उनमें यह है कि उनके लेखों में उन्हीं के स्वतंत्र, मौलिक और मार्मिक विचार रहते हैं।" (प० अयोध्यासिंह उपाध्याय)

———

श्री गणेशंकर विद्यार्थी

(सं० १९४७-१९९४)

श्री गणेशशंकर विद्यार्थी कानपुर के हिंदी-प्रताप के व्यवस्थापक एवं सुयोग्य संपादक थे। राजनीतिक लेखक की हैसियत से आपका पद बहुत ऊँचा है। आपका जीवन देश-सेवा में व्यतीत हुआ और अंत भी देश की कलहाग्नि अर्थात् कानपुर हिंदू-मुस्लिम दंगे में हुआ। आप हिंदी भाषा के सुयोग्य लेखक थे। आपकी लेखन-शैली संपूर्ण रूप से रागात्मक है। आप उर्दू के भी विशेष ज्ञाता थे। इसका परिणाम यह हुआ कि आपकी भाषा में गंगा-जमुनी शैली सर्वत्र दिखाई देती है।

आपकी शैली में द्विवेदीजी के चुटीलेपन की गहरी छाप दिखाई पड़ती है। आप धुन के बड़े पक्के थे। एक बार आपने कार्ड का टिकट काट कर दूसरे पत्र पर लगा दिया। पोस्ट आफिस ने उसे बैरंग कर दिया। इसी बात पर सर्व प्रथम अदालत में आप पर मुकदमा चला था, अंतिम निर्णय में आपका पक्ष प्रबल रहा। आप अनुवाद करने में बड़े चतुर थे। आपने विदेशी भाषा से कुछ राजनीतिक उपन्यासों का हिंदी भाषा में अनुवाद किया। आपने कुछ विनोदात्मक लेख भी लिखे हैं। आपका जीवन देश की सेवा करते हुए अधिकतर कारावास में ही व्यतीत हुआ।

मुंशी प्रेमचंद

(सं० १९४७-१९९३)

मुशी प्रेमचंद का जन्म मढ़वा गाँव ज़िला काशी में हुआ था। आपका असली नाम धनपतराय था। आप जाति के कायस्थ थे। आपका विद्यार्थी-जीवन निर्धन अवस्था में कटा। आपका जीवन प्रारंभ से ही स्वावलंबी था। आप फ़ारसी के भी विद्वान् थे। आप पहले तो उर्दू में ही कहानियाँ लिखा करते थे। तब आपका उपनाम नवाबराय था। बाद में आपने हिंदी में कहानियाँ लिखनी आरंभ कीं और थोड़े ही दिनों में आपने हिंदी-संसार में ख्याति प्राप्त कर ली। आपकी कहानियों से कई संग्रह प्रकाशित हो चुके है, जैसे 'प्रेमपंचमी' 'प्रेमद्वादशी','प्रेमपच्चीसी', 'प्रेमपूर्णिमा', 'प्रेम-प्रातिमा','प्रेमतीर्थ','मानसरोवर', 'कफ़न' इत्यादि।

उपन्यासों से आपको इतना यश मिला कि लोग आपको उपन्यास-सम्राट् कहने लग गए। 'रंग-भूमि', 'सेवा-सदन','प्रेमाश्रम','गोदान','निर्मला' इत्यादि आपके कई अच्छे-अच्छे उपन्यास हैं। आपके उपन्यासों मे विशेषता यह है कि ग्रामीण जीवन का एवं प्राचीन आदर्शों का वास्तविक रूप अंकित किया गया है। मुंशीजी की शैली उर्दू-मिश्रित मुहावरे-दार भाषा है जो पढ़ने पर चुभती नहीं। आपकी भाषा में स्वाभाविकता है। भाषा की सरसता और सरलता मनोमोहक होती है। आपकी भाषा के कई ढंग हैं—पात्रानुरूप, व्यंग्य-युक्त और प्रबंधात्मक।

मुशी जी पात्रों के चरित्र-चित्रण में विशेष ध्यान रखते थे—इसीलिए उनके सब पात्र जीते-जागते हैं। भारतीय ग्रामीणता का

मुंशीजी को पूर्णतया अनुभव था। आपकी रचनाएँ इतनी प्रसिद्ध हो गई कि अँगरेज़ी, जापानी, इटेलियन में भी उनका अनुवाद हो गया है। मासिक 'हंस' और साप्ताहिक 'जागरण' का कई वर्षों तक आपने संपादन किया। 'हंस' को तो अब भी उनके सुपुत्र श्रीयुत श्रीपतराय निकाल रहे हैं। पहले कुछ समय आपने 'माधुरी' का संपादन भी किया था। आपने 'कर्बला' आदि कुछ नाटक भी लिखे हैं परंतु नाटक-क्षेत्र में आपको उपन्यासों की-सी सफलता न मिल सकी। आपने कुछ निबंध भी लिखे थे जो "कुछ विचार" नाम के संग्रह में प्रकाशित हुए हैं।

बाबू रामचंद्र वर्मा

(जन्म सं० १९४५)

वर्माजी का जन्म काशी के एक प्रतिष्ठित खत्री कुल में सं० १९४५ में हुआ था। आपके पिता का देहात आपकी बाल्यावस्था में ही हो गया था। आपकी शिक्षा बाबू रामकृष्ण वर्मा की देख-रेख में हुई। आपने भारत-जीवन प्रेस मे कुछ दिन कार्य किया। १४-१५ वर्ष की आयु मे ही आप छोटे-छोटे लेख लिखने लगे थे।

नागपुर से निकलने वाले हिंदी केसरी के आप पहले सहायक संपादक और फिर बाद में संपादक रह चुके हैं। सं० १९६८ में आप पटने से निकलनेवाले 'विहार-बंधु' के भी संपादक रह चुके हैं।

आप अँगरेज़ी, मराठी, बंगला, फारसी इत्यादि कई भाषाओं के ज्ञाता हैं। अनुवाद-क्षेत्र में आपने बहुत काम किया है।

कई वर्षों से आप काशी नागरी-प्रचारिणी सभा में बड़े उत्साह तथा लग्न से काम कर रहे हैं। आपकी आजीविका साहित्य-सेवा द्वारा ही चलती है।

श्री चतुरसेन शास्त्री

(जन्म सं० १९४८)

श्री चतुरसेन शास्त्री का हिंदी साहित्य में प्रमुख स्थान है। आप आज-कल दिल्ली में रहते हैं। आपकी लेखनी मार्मिक भाव-प्रदर्शन करने के लिए प्रसिद्ध है। 'दुखवा मैं कासों कहूँ मोरी सजनी ?" आपकी प्रसिद्ध कहानी है। आपकी कहानियों के कुछ संग्रह छप चुके हैं जिनमें से प्रसिद्ध ये हैं—'अक्षत', 'सिंहगढ़-विजय', 'वीरगाथा'। आपने कई विषयों पर लिखा है। शास्त्रीजी की प्रायः सभी रचनाओं में धारा-प्रवाहिनी भाषा है। एक ही बात को कहीं-कहीं आप ऐसे ढंग से लिखते हैं कि उसमें ओज उत्पन्न हो जाता है। आपके गद्य को पढ़कर पाठक एक अपूर्व आनंद का अनुभव करता है। व्यावहारिकता और अकृत्रिमता के कारण आपके लिखने का ढंग प्रभावोत्पादक है। आपने कुछ नाटक भी लिखे हैं:—'अमर राठौर', 'अजितसिंह', 'मेघनाद', 'सीताराम', इत्यादि। 'अंतस्तल' आपके गद्य-काव्य का अच्छा ग्रंथ है।

श्री राय कृष्णदास

(जन्म सं० १९४९)

राय कृष्णदास का जन्म काशी के प्रतिष्ठित वैश्य कुल में हुआ। आप गद्य लिखने में पटु हैं। आपके गद्य को पढ़ कर कविता का-सा आनंद

आने लगता है। 'साधना' तथा 'प्रवाल' आपके प्रसिद्ध गद्य-काव्य हैं। भाव-गांभीर्य के साथ-साथ आपकी भाषा में बड़ा संयम पाया जाता है। आपने नित्य की व्यावहारिक भाषा का प्रयोग किया है जिसके कारण भाव-व्यंजनों में अधिक स्पष्टता आगई है। चलते हुए मुहावरों तक को आपने अपनेपन का रूप दे दिया है जैसे 'दिल का छोटा है' के स्थान पर 'हृदय से लघुतर है' लिखा है। कहीं-कहीं पर इनकी भाषा में प्रांतीय शब्द भी आ गए हैं और कहीं-कहीं छोटे-छोटे वाक्यों का मनोहारी एवं अपूर्व संमेलन दृष्टिगोचर होता है। आपका भाषा के माधुर्य की ओर विशेष ध्यान रहता है। आप जहाँ गद्य-काव्य के लेखक हैं वहाँ कहानी लिखने में भी प्रवीण हैं। आपकी कहानियों में स्वाभाविकता, धार्मिकता और स्वानुभूति की झलक है।

श्री सुदर्शन

(जन्म सं० १९५३)

श्री सुदर्शन का जन्म स्यालकोट में हुआ। बाल्यावस्था से ही आपकी रुचि हिंदी-साहित्य की ओर थी। स्कूल की छठी श्रेणी में आपने सर्व-प्रथम कहानी लिखी थी। आपने कुछ दिन उर्दू के 'भारत', 'चंद्र', 'आर्य-पत्रिका', 'आर्य-गज़ट' इत्यादि पत्रों का संपादन किया। कुछ समय तक आपने उर्दू का मासिक पत्र 'चंदन' भी निकाला था।

कुछ वर्षों से आप सिनेमा कंपनी में काम करते हैं। आपके तैयार किए हुए "रामायण" और "धूप-छाओं" "सिकंदर" नामक चित्र-पट प्रसिद्ध हैं। आपको 'अंजना' (नाटक) और सुदर्शन-सुधा (गल्प-संग्रह) पर पंजाब

टेक्स्ट-बुक-कमेटी द्वारा पारितोषिक मिल चुका है। 'भाग्य-चक्र' नाटक भी, जो कि 'धूप छाँओं' चित्रपट का परिवर्तित रूप है, आपका अच्छा नाटक है। आपकी भाषा में अपनापन है, भाषा शुद्ध तथा परिमार्जित है। अभिज्ञ पाठक बिना नाम के ही आपकी कृति पहचान सकते हैं। आपकी कहानियों के कई संग्रह छप चुके हैं—'नवनिधि', 'पुष्पलता', 'तीर्थ-यात्रा', 'सुदर्शन-सुधा', 'सुदर्शन-सुमन', 'पनघट', 'चार कहानियाँ' इत्यादि।

पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र'

(जन्म सं० १९५२)

उग्रजी का जन्म-स्थान चुनार (जिला मिर्जापुर) है। आपकी भाषा ओजस्विनी तथा मार्मिक है। 'यथा नाम तथा गुण' की उक्ति आपके विषय में पूर्णतया चरितार्थ होती है। आपने गद्य शैली में विशेष चमत्कार उत्पन्न कर दिया है। भाषा की धारा-प्रवाहिकता ने वाक्यों को ओजस्वी बना दिया है। उग्रजी की स्वाभाविक भाषा में अव्यवहारिक शब्दों का प्रयोग कहीं भी नहीं हुआ है। स्थान-स्थान पर उर्दू अँगरेजी शब्दों का भी प्रयोग हुआ है परंतु वह अस्वाभविक नहीं मालूम पड़ता। कहीं-कहीं पर भाषा अलंकृत भी हो गई है। वास्तव में उग्रजी की शैली इस युग में अपना विशेष अस्तित्व रखती है। आपके प्रसिद्ध ग्रंथ ये हैं:—'इंद्रधनुष', 'बुधुआ की बेटी', 'दोजख की आग' इत्यादि।

श्री गुलाबराय

(जन्म सं० १९४४)

आप आज-कल आगरे में रहते हैं । आप छतरपुर रियासत में कई ऊँचे पदों पर काम कर चुके हैं। आरंभ में आपने दर्शन-शास्त्र का अध्ययन किया। आपने तर्क-शास्त्र, कर्त्तव्य-शास्त्र, पाश्चात्य दर्शनों का इतिहास, साहित्य के नवरस आदि विषयो का भी अच्छा मनन किया है। इन विषयों पर आपने ये ग्रंथ लिखे हैं:—'कर्त्तव्य-शास्त्र', 'तर्क-शास्त्र' (भाग १—३)। तर्क-शास्त्र के पहले दो भागों मे पाश्चात्य तर्क-शास्त्र की विवेचना की गई है, और तीसरे भाग में भारतीय तर्क-शास्त्र का वर्णन है । "विज्ञान-वार्ता" नाम की पुस्तक आपकी एक लाभप्रद पुस्तक है । निबंध-लेखकों में आपका अच्छा स्थान है। आपनें साहित्यिक और विचारात्मक दोनों तरह के निबंध लिखे हैं। आपका एक निबंध-संग्रह 'प्रबंध-प्रभाकर' नाम से प्रकाशित हुआ है। आज-कल आप आगरे से निकलने वाले 'साहित्य-संदेश' के संपादक है।

श्री जयशंकर 'प्रसाद'

(सं० १९४७—१९९४)

'प्रसाद' जी का जन्म सं० १९४७ में काशी के कान्यकुब्ज वैश्य जाति के धनाढ्य कुल में हुआ था । आपको संस्कृत, अँगरेजी, उर्दू-फारसी आदि का अच्छा ज्ञान था । आप छोटी आयु में ही सुंदर रचना किया करते थे। बाद में आपने कहानियाँ, नाटक और उपन्यास लिखना प्रारंभ किया। आप एक सफल गल्प-लेखक तथा निपुण

नाटककार थे। हिंदी में छायावाद तथा भिन्न-तुकांत कविता के आप निर्माता समझे जाते हैं। आपकी लेखनी भाव-प्रधान है। आपने कुछ निबंध भी लिखे हैं जो 'काव्य-कला तथा अन्य निबंध' के नाम से संग्रह-रूप में प्रकाशित हुए हैं।

आप इतिहास की उन कथा-वस्तुओं को लेते थे जिनका सर्व-साधारण को पता भी न था। फिर उसी को एक नवीन रूप देकर चित्ताकर्षक बना देते थे। 'प्रसाद' जी की भाषा में मुहावरों का अभाव है और संस्कृत शब्दों की अधिकता है। अतः भाषा में जटिलता आगई है। तथापि इनकी भाषा सुंदर और परिमार्जित है। भाषा की जटिलता के कारण आपके नाटकों का रंग-मंच पर अभिनय नहीं हो सकता। वैसे साहित्यिक दृष्टि से आपके नाटक उच्चकोटि के हैं। आपने उपन्यास भी अच्छे लिखे हैं। 'तितली' और 'कंकाल' आपके प्रसिद्ध उपन्यास हैं। 'कामायनी' पर आपको हिंदी-साहित्य-संमेलन की ओर से पारितोषिक मिल चुका है। आपके प्रसिद्ध नाटक ये हैं:—'विशाख', 'जनमेजय का नागयज्ञ', 'अजातशत्रु', 'राजश्री', स्कदगुप्त, 'चंद्रगुप्त', 'कामना'। आपके गल्प-संग्रह ये हैं:—'प्रतिध्वनि', 'आँधी', 'आकाश-दीप', 'छाया', 'नवपल्लव', 'इंद्रजाल'।

श्री शिवपूजन सहाय

(जन्म सं० १९५०)

आप सुप्रसिद्ध कहानी-लेखकों में गिने जाते हैं। भाषा का चलता-पन आपका प्रधान लक्ष्य है। मुहावरो का प्रयोग आपकी भाषा

में पद-पद पर दिखलाई पड़ता है। उर्दू के शब्दों का भी आपकी भाषा में बाहुल्य है। इनकी शैली सतर्क, परिमार्जित तथा परिष्कृत है, छोटे-छोटे वाक्यों की अनुपम छटा दिखलाई पड़ती है। भाषा धारा-प्रवाह चलती है। 'महिला महत्व', 'देहाती दुनिया' आपकी प्रसिद्ध पुस्तकें हैं। आप 'बालक' के संपादक हैं।

श्री सत्यजीवन वर्मा 'भारतीय'

वर्माजी 'भारतीय एम. ए.' के नाम से कहानियाँ तथा लेख लिखते हैं। आपकी कहानियाँ यथार्थवादी होती हैं—वर्णन बिल्कुल स्वाभाविक और लिखने का ढंग पाश्चात्य। 'मुनमुन' आपकी कहानियों का संग्रह है। आज-कल आप हिंदुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, के सुपरिटेंडेंट हैं। आपने संस्कृत-नाटक 'स्वप्न-वासवदत्ता' का हिंदी-गद्य में अनुवाद किया है। आपने 'आस्कर वाइल्ड' के एक नाटक "डचेस ऑफ पडुआ" का भी हिंदी में स्वतंत्र अनुवाद किया है जो 'प्रेम की पराकाष्ठा' नाम से छपा है। 'सूर रामायण', 'अन्योक्ति कल्पद्रुम', 'मुरली माधुरी', 'प्रायश्चित्त' आदि आपके कुछ अन्य ग्रंथ भी हैं।

इनके अतिरिक्त आपने 'बीसल-देव रासो' का संपादन किया है, जो काशी नागरी-प्रचारणी सभा से छपा है। इंडियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग से आपका 'संक्षिप्त पद्मावत' छपा है।

श्री संतराम बी. ए.

(जन्म सं० १९४३)

आपका जन्म पुरानीवसी जिला होशियारपुर में हुआ। आपके जीवन का बहुत-सा भाग हिंदी-सेवा में व्यतीत हुआ है। आपने अनुवाद-क्षेत्र में अधिकतर काम किया है। आपके लेख प्रायः हिंदी के सभी प्रसिद्ध पत्र तथा पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहते हैं। आपके संपादकत्व में 'युगांतर' पत्र लाहौर से निकलता था। आज-कल आप उर्दू 'क्रांति' मासिक पत्रिका का संपादन करते हैं। आपके प्रायः सभी लेखों में जातीय सुधार का आभास रहता है।

श्री उदयशंकर भट्ट

(जन्म सं० १९५५)

आपका जन्म कर्णवास जिला बुलंदशहर (यू० पी०) में हुआ। अब कई वर्षों से आप लाहौर में ही रह रहे हैं आपका हिंदी-साहित्य में अपना स्थान बन गया है। आप बड़े भावुक कवि हैं। आपने कुछ नाटक भी लिखे हैं:—'दाहर', 'सगर-विजय', 'अंबा', 'मत्स्यगधा', 'विश्वामित्र', 'कमला', 'अंतहीन अंत'। आपकी कविताओं के संग्रह 'राका' और 'विसर्जन' नाम से छप चुके हैं। आपने 'तक्षशिला' और 'मानसी' नाम के दो काव्य भी लिखे हैं। कुछ समय से आपका झुकाव एकांकी नाटकों की ओर हुआ है और इस क्षेत्र में भी आपको सफलता मिली है। 'अभिनव एकाकी नाटक' आपका एकांकी नाटकों का संग्रह है।

'तक्षशिला' और 'दाहर' पर आप पंजाब टेक्स्ट-बुक कमेटी से पारितोषिक पा चुके हैं। हिंदी-संसार को आपसे बहुत कुछ आशा है।

सद्‌गुरुशरण अवस्थी

(जन्म सं० १९५८)

आप विश्वंभरनाथ सनातनधर्म कालेज कानपुर में हिंदी-साहित्य के प्रोफैसर हैं। आपकी शैली संस्कृतमयी है। आप गल्प-लेखक, समालोचक, निबंधकार तथा नाटककार हैं। आपकी कहानियां प्रायः चरित्र-प्रधान होती हैं। आपकी कहानियों के संग्रह 'फूटा शीशा', 'एकादशी' नाम से प्रकाशित हो चुके हैं। आपकी पुस्तक 'हिंदी-गद्य-गाथा' भी एक उपयोगी पुस्तक है। आपके निबंधों के संग्रह 'विचार-विमर्श' और 'हृदय ध्वनि' प्रकाशित हो चुके हैं। कुछ समय से आपका झुकाव नाटक की ओर हुआ है। 'मुद्रिका' और 'दो एकाकी नाटक' आपके एकांकी नाटक-ग्रंथ हैं। 'गौतम बुद्ध' और 'त्रिमूर्त्ति' में आपने जीवन वृत्त लिखे हैं। 'तुलसी के चार दल' आपकी एक उपयोगी पुस्तक हैं। इस पर आपको हिंदुस्तानी एकेडमी यू० पी० से पुरस्कार मिल चुका है। 'भ्रमित पथिक' आपका अन्योक्तिमय गद्य काव्य है।

श्री विनयमोहन शर्मा

श्री विनयमोहन शर्मा खंडवा के प्रसिद्ध पत्र 'स्वराज्य' के साहित्य-विभाग के संपादक हैं। आप आज-कल खंडवा में प्रेक्टिस करते

भी हैं। आप कवि होने के साथ-साथ अच्छे आलोचक भी है । आपकी आलोचनाओं की साहित्य में बड़ी धाक है । आपकी भाषा परिमार्जित और अभिव्यंजनात्मक होती है । आप गद्य-काव्य भी लिखते हैं। आपकी आलोचना-संबंधी पुस्तक 'साहित्यकला' अच्छा ग्रंथ है।

श्री सियारामशरण गुप्त

(जन्म सं० १९५२)

आपका जन्म चिरगाँव जिला झांसी में हुआ। आप स्वयं कवि हैं और सुप्रसिद्ध कवि मैथिलीशरण गुप्त के छोटे भाई है। आपकी कृतियों में करुण रस प्रवाहित हुआ है । आपकी मार्मिक उक्तियाँ पाठकों को मोहित कर लेती हैं । हिंदी-साहित्य मे आपकी कहानियों का भी अच्छा आदर हुआ हैं। 'अंकुर' आपकी कहानियों का संग्रह है। 'नारी' आदि उपन्यास भी आपने लिखे है । दृश्यों के चित्र अंकित करने में आप अत्यंत निपुण हैं । 'सच-झूठ' नाम से आपके निबंधों का संग्रह प्रकाशित हो चुका है । 'मौर्य-विजय', 'आर्द्रा', 'दूर्वादल', आदि आपकी काव्य रचनाएँ हैं।

श्रीमती महादेवी वर्मा एम. ए.

(जन्म स० १९६४)

आप प्रयाग में महिला विद्यापीठ की प्रधानाध्यापिका हैं । आप कुछ समय 'चाँद' की संपादिका रह चुकी हैं । हिंदी-संसार को आपने एक अनुपम कवित्व का प्रसाद भेंट किया है। आप अनंत व्यापी दुःख

का वर्णन तथा रहस्योन्मुख भावना के चित्रण करने में अत्यंत प्रवीण हैं। आपका दुःख भी एक विचित्र ढंग का होता है, इसकी गणना करुण रस के अंतर्गत नहीं हो सकती, हाँ यदि हो सकती है तो करुणा-मिश्रित वैराग्य के अंतर्गत। पीड़ा तो मानो आपकी चिर-सहचरी हो गई है। आप अनिर्वचनीय सुख में भी अपनी चिर-संगिनी को नहीं छोड़ना चाहतीं। दुःख आपका सर्वस्व है।

आपकी कविताओं के संग्रह 'नीहार', 'रश्मि', 'नीरजा', 'सांध्य-गीत' के नाम से निकल चुके हैं। 'नीरजा' पर आपको हिंदी-साहित्य-संमेलन की ओर से ५००) सेकसरिया पारितोषिक भी मिला है।

डाक्टर कैलाशनाथ भटनागर

(जन्म सं० १९६३)

डाक्टर भटनागर का जन्म लाहौर के एक प्रतिष्ठित घराने में हुआ। आपके पिता प्रो. गुलशनराय जी राजनीतिशास्त्र तथा इतिहास के प्रसिद्ध विद्वान् हैं। आप संस्कृत, इतिहास तथा हिंदी के अच्छे ज्ञाता हैं। हिंदी में आपकी बहुत-सी कृतियाँ निकल चुकी हैं। इनमें से 'नाट्य-सुधा', 'भीमप्रतिज्ञा', 'कुणाल', 'एकांकी-नाटक-निकुंज', 'श्रीवत्स' आदि प्रसिद्ध हैं। वैसे तो आपकी गद्य-शैली मनोहारिणी होती ही है, परंतु नाटकीय गद्य में विशेष चमत्कार रहता है। पात्रों के चरित्र-चित्रण में आप की निपुणता सराहनीय है। विशेष कर दुखी हृदय की वेदना से आप अधिक परिचित हैं। आपके नाटकों में स्थान-स्थान पर

व्यक्तित्व की छाप रहती है। आपको 'नाट्य-सुधा' पर पंजाब-टैक्स्ट-बुक-कमेटी द्वारा पुरस्कार भी प्राप्त हुआ है। गत वर्ष पंजाब विश्व-विद्यालय ने आपको पतंजली-कृत निदानसूत्र (सामवेदीय) पर पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की है। आप हिंदी के बड़े उत्साही लेखक हैं।

(उदयशंकर भट्ट)

श्री भगवतीप्रसाद वाजपेयी

(जन्म सं० १९५४)

श्री वाजपेयी कवि के अतिरिक्त कहानी, उपन्यास तथा निबंध-लेखक भी हैं। आपकी कहानियाँ भावना-प्रधान होती हैं। वाजपेयी जी की कहानियों में श्रेष्ठ कला का लक्षण "एको रसःकरुण एव" ही रहता है। उन्हें बार-बार पढने को जी भी चाहता है, चित्त ऊब नहीं जाता। ज्ञान की बातें भी होती हैं परंतु इनमें लेखक के हृदय को स्पर्श करने की शक्ति है। आपने बहुत-सी कहानियाँ लिखी है जो 'हिलोर' और 'पुष्करिणी' नाम के संग्रहों में प्रकाशित हुई हैं। 'पतिता की साधना' और 'दो बहनें' नाम के दो उपन्यास भी प्रकाशित हुए हैं। इन ग्रंथों का हिंदी-संसार में अच्छा आदर हुआ है। आप कवि के साथ-साथ नाटककार भी हैं। 'छलना' नाम का एक नाटक आपका प्रकाशित हुआ है। वाजपेयी जी पुराने कलाकार हैं।

श्री हरिकृष्ण 'प्रेमी'

(जन्म सं० १९६४)

'प्रेमी' जी का जन्म गुना रियासत ग्वालियर में हुआ था। कुछ वर्षों

से आप लाहौर रहने लगे हैं। आपमें कविता लिखने की प्रवृत्ति बचपन से ही रही है। हिंदी के छायावादी कवियों में आपका विशेष स्थान है। आपकी कविताओं में निराशा, वेदना, देश-प्रेम तथा रहस्यवाद आदि की झलक स्पष्ट दिखाई देती है। आपकी कविता शब्दाडंबर तथा कठिन शब्दों से रहित है, अतएव सरल होती है। 'आँखों में', 'जादूगरनी' तथा 'अनंत के पथ पर' नाम के काव्य-ग्रंथ आपके छप चुके हैं। कवि के अतिरिक्त आप नाटककार भी हैं। आपके 'रक्षाबंधन', 'शिवासाधना', 'प्रतिशोध', 'पाताल-विजय', 'स्वप्न-भंग 'आहुति', 'मित्र' नाम के नाटक छप चुके हैं।

श्री अख्तर हुसेन रायपुरी

आपका जन्म रायपुर में हुआ, इसलिए आप अपने नाम के साथ रायपुरी लिखते हैं। आपकी आयु इस समय लगभग ३४ वर्ष की है। आपकी शिक्षा-दीक्षा विहार प्रांत में हुई। आप उच्च शिक्षा के लिए विदेश भी गए थे। आप प्रगतिशील लेखक-संघ के प्रमुख लेखकों और कार्य-कर्ताओं में से हैं। आप कुछ देर ओसमानिया यूनिवर्सिटी हैदराबाद में भी रहे हैं।